Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

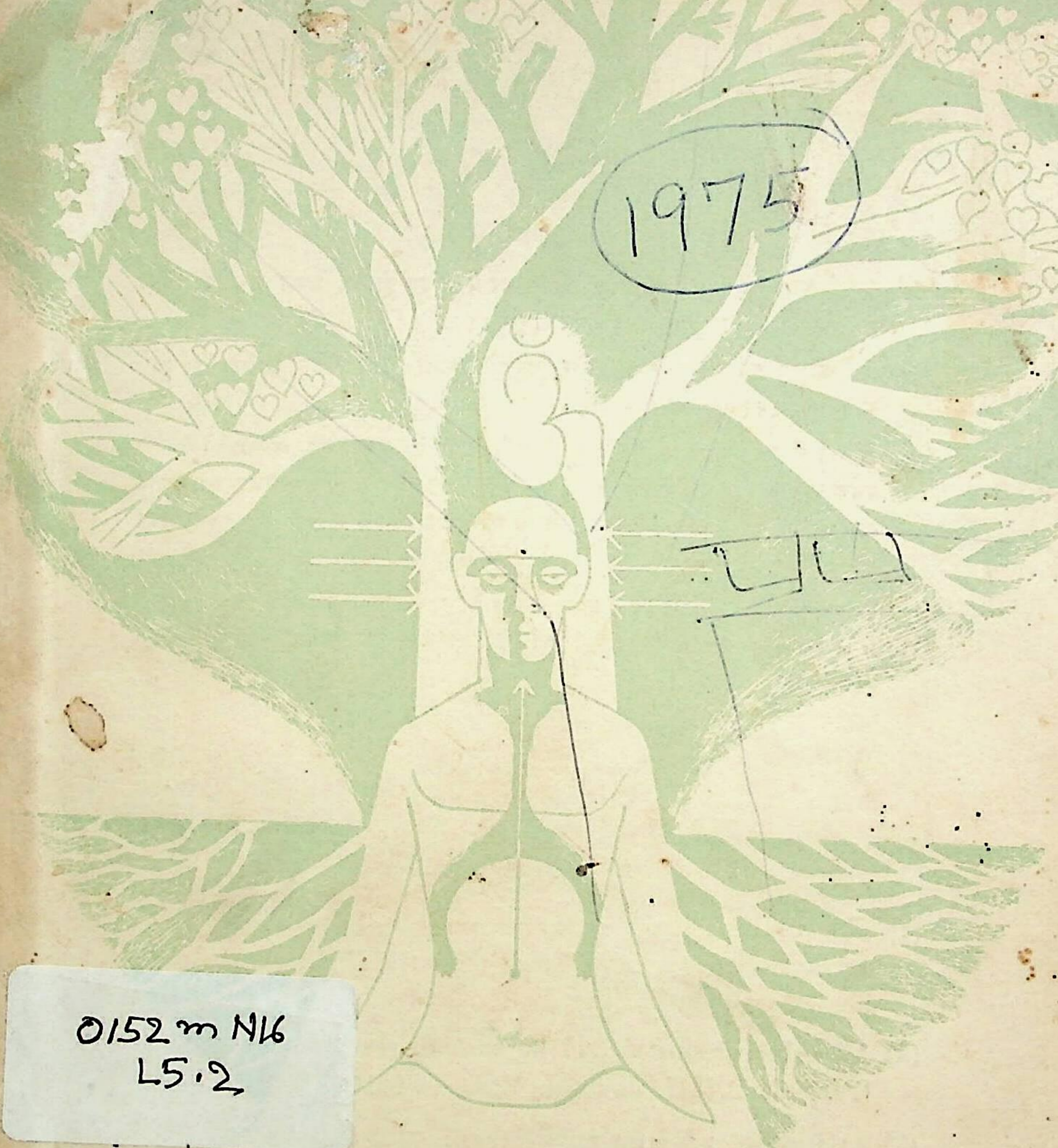

0152 m N16
L5.2

प्रज्ञा

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका

अंक २० भाग (२) अंक २१ भाग (१) वर्ष—१९७५

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

मूल्य दर (प्रति अंक)

संयुक्त राज्य अमेरिका	$ २
ब्रिटेन	£. १
भारत	रुपये १०.००

नियम

(१) 'प्रज्ञा', जहाँ तक संभव होगा, वर्ष में दो बार प्रकाशित होगी : प्रथम अंक दीपावली के तुरन्त बाद और दूसरा अंक होली के पूर्व ।

(२) सभी प्रकार का शुल्क सह-संपादक, 'प्रज्ञा' काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका, वाराणसी–२२१००५ के नाम भेजें ।

(३) पत्रिका में प्रकाशनार्थ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के छात्रों एवं अध्यापकों के लेख प्रथम अंक के लिए २० जुलाई तक और द्वितीय अंक के लिए २० नवम्बर तक संकाय सम्पादकों के पास तथा सम्पादक-मंडल के पास क्रम से ३० जुलाई और ३० नवम्बर तक पहुँच जाना चाहिए ।

(४) लेख फुलस्केप कागज पर एक तरफ टंकित होना चाहिए और सामान्यतः १० पृष्ठों से अधिक नहीं होना चाहिए । लेखकों को उनके लेख की रिप्रिन्ट्स की ५० प्रतियाँ

0152m NL6 8399
L5.2
Mishra, Ratnashanker and others, ed.
Prajna

...ription Rates (per issue)

...	...	...		$ 2
...	...	...		£. 1
...	...	...	Rs.	10.00

RULES

...l, so far as possible, be published twice ...mmediately after the Dipawali, the other ...e the Holi.

...should be sent to the Assistant Editor, ...Journal, Varanasi-221005.

...for publication in this Journal by B.H.U. ... submitted to the Faculty Editor before ...st issue and November 20 for the next ...reach the Editorial Board on July 30 ...ctively.

...narily be type-written on foolscape paper ...and should not ordinarily cover more ...uthors contributing original articles to ...titled to receive 50 off-prints gratis.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

प्रज्ञा

Dr. R. J. Galagali,
READER IN CHEMISTRY,
FACULTY OF SCIENCE,
Banaras Hindu University,
VARANASI-221005.

LIBRARY

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका

अंक २० भाग (२) अंक २१ भाग (१) वर्ष—१९७५

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

सम्पादक-मण्डल

डॉ० रत्नशंकर मिश्र
विभागाध्यक्ष, गणित (संयोजक)

डॉ० विजयपाल सिंह
विभागाध्यक्ष, हिन्दी

डॉ० श्यामाोहन तिवारी
प्रोफेसर, वाणिज्य एवं व्यवसाय प्रबन्ध

संकाय सम्पादक

१. डॉ० (कुमारी) पद्मा मिश्रा—प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, महिला महाविद्यालय
२. डॉ० लालमणि मिश्र—प्रोफेसर, वाद्य संगीत, संगीत एवं ललित कला संकाय
३. डॉ० तुलसीनारायण सिंह—प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, अंग्रेजी विभाग, कला संकाय
४. पं० केदारनाथ त्रिपाठी,—रीडर, दर्शन, प्राच्य विद्या एवं धर्मविज्ञान संकाय
५. डॉ० [illegible]नारायण मेहरोत्रा—रीडर, भौमिकी विभाग, विज्ञान संकाय
६. डॉ० राजेश्वर उपाध्याय—रीडर, शिक्षा-शास्त्र संकाय
७. डॉ० राधाकान्त हरिहर शरण—रीडर, राजनीति-शास्त्र, सामाजिक विज्ञान संकाय
८. श्री अश्विनी कुमार शाह—रीडर, वाणिज्य एवं व्यवसाय-प्रबन्ध संकाय
९. डॉ० भगवती प्रसाद राय—प्रवक्ता, हिन्दी विभाग, सान्ध्य महाविद्यालय

सह-सम्पादक

डॉ० राममोहन पाण्डेय

0152 N16 L5.2
SRI JAGADGURU VISH[illegible]
JNANA SIMHASAN [illegible]
LIBRARY
Jangamwadi Math, Varanasi
ACC No. 8369

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्थापक

पूज्य महामना

हिताय सर्वलोकानां निग्रहाय च दुष्कृतां
धर्मसंस्थापनार्थाय प्रणम्य परमेश्वरम् ।
प्रसादाद्विश्वनाथस्य काश्यां भागीरथीतटे
विश्वविद्यालयः श्रेष्ठः हिन्दूनां मानवर्धनः ॥
हिन्दूराज्याधिपतिभिर्धनिकैर्धार्मिकैस्तथा
मिलित्वा स्थापितः सद्भिर्विद्याधर्मविवृद्धये ॥

जन्म :—वि० सं० १९१८ पौषकृष्ण ८ (२५-१२-१८६१)
मोक्ष :—वि० सं० २००३ मार्गशीषकृष्ण ४ (१२-११-१९४६)

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

विषय-सूची

१. सांख्ययोगीयपुरुषबन्धमोक्ष विचार :
डा० भक्तिसुधा मुखोपाध्याय १-२

२. रसतत्त्व विमर्श :
बालशास्त्री ३-८

३. पदस्वरूपम्
चक्रवर्ती जगदीश चतुर्वेदी ९-१३

४. दार्शनिक परिदृश्य में तुलसी की भक्ति
डा० राममोहन पाण्डेय १४-२३

५. प्रयोगवादी (तथोक्त नयी कविता) में बिम्ब विन्यास
डा० जनार्दन उपाध्याय २४-३२

६. बंगला और हिन्दी के सर्वनाम
राजमणि शर्मा ३३-३७

७. कला और प्रतिनिधान
डा० भगवतीप्रसाद राय ३८-४९

८. हिन्दी और नेपाली साहित्य के मेरुदण्ड
भारतेन्दु तथा मोतीराम भट्ट, डी० आर० तिमसिना ... ५०-५२

९. कर्मों के आध्यात्मिक स्तर
डा० रमाकान्त त्रिपाठी ५३-५८

१०. पूर्वी और पश्चिमी दर्शन में ज्ञान मीमांसा
तपस्या पाण्डेय ५९-६३

११. योग दर्शन में ईश्वर
डॉ० केदार नाथ मिश्र ६४-७१

१२. जरथुस्त्र और उसका पारसीक धर्म
श्रीधर पाठक ७२-७८

१३. भारतीय आधुनिक कला की भावी दिशा
श्री रामचन्द्र शुक्ल ७९-८४

१४. पर्ल एस० बक और भारत (आत्मकथा से)
डा० रामस्वरूप शर्मा ८५-९४

१५. काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना में मालवीय जी की कल्पना
ललित किशोर लाल श्रीवास्तव ९५-१००

१६. युवा अशान्ति
डा० महाराज नारायण मेहरोत्रा १०१-१०६

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

1. Aesthetic Mysticism in John Keats : A Note on Ode to a Nightingale
Dr. S. M. Pandey 1-9

2. Undertones in Chesterton's Optimism
Dr. S. Bhattacharya 10-21

3. The Concept of Technique in Formal Criticism
A. P. Avasthi 22-30

4. Attitude Towards Medical Profession by the Doctors
Akhileshwar Lal Srivastava 31-39

5. A Correlation between Science & Humanity
Gauri Shankar Upadhyaya 40-45

6. Learning the Language
Dr. J.S. Agrawala 46-50

7. Rise of the Portuguese power in India
Dr. J. Chaubey 51-64

8. Government policy during Malabar Disturbances
Km. Aruna Sinha 65-73

9. Transport Revolution & the Youth
Dr. Surya Nath Singh 74-78

10. Rationalisation of the Examination System
Dr. Rajeshwar Upadhyaya 79-83

11. Science & Philosophy
S. P. Gupta 84-94

12. In Quest of Anti-Cosmos
Dr. Rama Kant Pandey 95-110

13. Age at Menopause & its effect on Fertility
S. N. Singh & T. Bhaduri 111-117

14. Opinion on Ideal Family size
G. Agrawal & V. K. Singh ... 118-123

15. Educational & Psychological work in India
Dr. Padma Agrawal 133-140

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

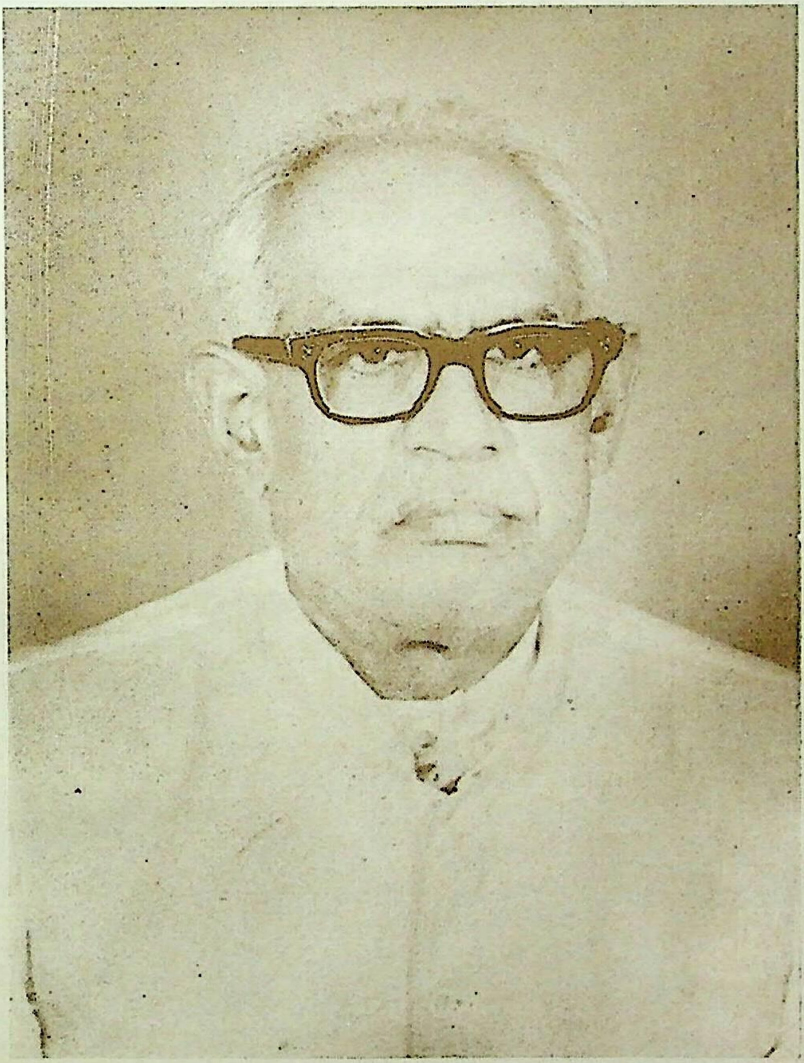

कुलपति डॉक्टर कालूलाल श्रीमाली

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

कुलपति का संदेश

पिछले कई वर्षों से 'प्रज्ञा' का प्रकाशन हो रहा है। यह पत्रिका काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के शैक्षणिक जीवन और सारस्वत उपलब्धियों की प्रतीक है। विश्वविद्यालय के अध्यापकों एवं छात्रों के सम्मिलित प्रयत्न से निकलनेवाली इस पत्रिका को विश्वविद्यालय की वौद्धिकता का नखदर्पण भी कह सकते हैं। इसी कारण हमारे लिए यह परम आवश्यक हो जाता है कि हम उच्च-स्तरीय शोध-निबन्धों और ज्ञान विज्ञान की नित-नूतन उपलब्धियों तथा साहित्य और कला की प्रतिभास्फूर्त रचनाओं से इस पत्रिका को एक ऐसा रूप दें कि वह हमारे विश्वविद्यालय की गरिमा के अनुरूप हो सके।

आज का विश्व महान् संकट के दौर से गुजर रहा है। वैज्ञानिक प्रगति के वावजूद विश्व के अनेक समृद्धशाली देशों में युवा चेतना अशांति और संकट का अनुभव कर रही है। वस्तुतः आज विज्ञान और अध्यात्म के ऐसे समन्वय की आवश्यकता है जो हमारी लोकेषणाओं की पूर्ति तो करे ही साथ ही मानस जगत को भी समृद्ध और सुसम्पन्न वना सके। महामना पं० मदनमोहन मालवीय इस सत्य को भली भाँति जानते थे कि नवीन और प्राचीन ज्ञान-विज्ञान के सम्यक् समन्वय विना नई मानवता को सही दिशा प्राप्त करने में कठिनाई होगी। इसी कारण उन्होंने इस विश्वविद्यालय को भारतीय संस्कृति और पश्चिमी वैज्ञानिक तथा तकनीकी, ज्ञान-विज्ञान के स्वस्थ समन्वय की आधार भूमि पर स्थापित किया। हमें उन महत् आदर्शों का निरन्तर चिन्तन करना चाहिए और उन्हीं के अनुरूप अपने वौद्धिक चिन्तन की उपलब्धियों के द्वारा 'प्रज्ञा' को तेजोदीप्त वन.ते रहने का प्रयत्न करना चाहिए।

बीच में इसका कार्य कुछ शिथिल हो गया था, आशा है अव यह पत्रिका समय से प्रकाशित हुआ करेगी और विश्वविद्यालयीय प्रतिभा का सम्यक् प्रतीक वन सकेगी।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

सांख्ययोगीयपुरुषबन्धमोक्षविचारः

डा० भक्तिसुधा मुखोपाध्याया

दुःखत्रयाभिघातादुत्पद्यते हि विचारपरम्परादुःखान्मुक्तिविषये । शुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः पुरुषोऽविवेकवशाद्बद्ध इव प्रतीयते, तस्य पुनस्तस्मादविवेकादज्ञानाद्वा मुक्तिरेव पुरुषस्य मोक्षः । एवं सति पुरुषः स्वस्वरूपे प्रतिष्ठितो भवति । एतद् बन्धमोक्षसम्बन्धे सांख्ययोगदर्शने सन्ति सुचिन्तिता मतवादाः ।

पञ्चविंशतितत्त्वात्मकं सांख्यशास्त्रम् । तत्र प्रकृतिः पुरुषश्च द्वयं मूलतत्त्वम् । चतुर्विंशतितत्त्वात्मिका प्रकृतिः सर्गादौ महदादिक्रमेणावयवप्रसारणेन आत्मानं कूर्मशरीरमिव प्रसारयति प्रलये च तान् प्रसारितानवयवान् स्वदेह एव प्रविलापयन्ति । यथा मृत्सुवर्णाभ्यां घटरुचकादयो न भिद्यन्ते तथा वैचित्र्यपूर्णं जगदिदं मूलप्रकृतेर्न भिद्यते ।

पञ्चविंशतिमः पुरुषः द्वयोर्मूलतत्त्वयोः द्वितीयं तत्त्वम् । संघातस्य अन्याधिष्ठातृत्वमवश्यमेव स्वीकार्यं यथा काष्ठफलकसंघातस्य पल्यंकस्य पुरुषाधिष्ठातृत्वं तच्छय्यार्थमुपयोगो वा । गुणानां संघातः प्रकृतिरपि पुरुषस्य दर्शनार्थं तस्य भोगाय वा कल्पते । प्रकृतिः त्रिगुणमयी जड़ा परिणामिण्यपि, पुरुष एतायाः विपरीतो निर्गुणश्चित्स्वरूप अपरिणामी च द्रष्टारूपेणैव वर्तते । प्रकृतिः दृश्यदर्शनरूपेणास्ते; पुरुषोऽविवेकात् प्रकृतेरभेदबुद्धचा प्रकृतेः बुद्धेर्वा धर्माणामभिमानं करोति । ज्ञानवृत्तिः बुद्धेरेव न तु पुरुषस्य, किन्तु बुद्धिधर्माणामुपचारेण पुरुषस्य 'अहं सुखी, अहं दुःखी' इत्यात्मकं ज्ञानं भवति । यथा कोऽपि मलिने दर्पणे स्वमुखं दृष्ट्वा दर्पणधर्मोपचारेण स्वमुखं मलिनं मन्यते तथैव बुद्धिधर्माभिमानी पुरुषो बुद्धिधर्मोपरागात् 'कृशोऽहं, स्थूलोऽहं, श्यामोऽहं, गौरोह' मित्यादिकं मन्यते । अविवेकादेव एतत् सर्वं भवति । यदा तत्त्वज्ञानात् पुरुष आत्मानं प्रकृतेरत्यन्तविलक्षणमिति विविच्य स्वस्वरूपं प्रजानाति तदैव तस्य विवेकज्ञानं भवति कैवल्यं च स प्राप्नोति । पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं च प्रकृतेः सृष्टिविकासपरम्परा प्रसरति । यः पुरुषः प्रकृतेरधिकारात् तस्याः भोगाय प्रभवति स एव अन्ते प्रकृतिपुरुषविवेकज्ञानात् प्रकृतिवियोगाच्च मोक्षमवाप्नोति ।

पुरुषो निर्विकारोऽसंगश्च । कथं पुनस्तस्य बन्धमोक्षौ ? उच्यते । पुरुषस्य बन्धे न स्वाभाविकत्वमस्ति औपाधिक एव तस्य बन्धः । प्रकृतिसंयोगजचित्तवृत्तिं विना—बुद्धिवृत्तेरुपचारादृते-न हि पुरुषस्य बन्धसम्भावना अस्ति । यथा स्वभावस्वच्छस्य स्फटिकमणेः रागो जपापुष्पं विना न घटति तथा पुरुषस्य प्रकृतिसंयोगं विना संसारो न सम्भवति । अतः प्रकृतेरेव संसारो भवति । जडा प्रकृतिः पुरुषसम्पर्कात् सान्निध्याद्वा अयस्कान्तमणिसान्निध्याल्लौह इव स्पन्दनं लभते ।

पुराणेतिहासेऽपि सांख्यमधिकृत्य प्रकृतिपुरुषतत्त्वविचारकाले पुरुषस्य प्रकृतिसम्पर्काद्बन्धविषये आलोचितम् । तत्रापि उच्यते पुरुषः प्रकृतेः सर्वथा मुक्त एव तथापि अविवेकवशादात्मनि प्रकृतेः धर्मानारोप्य स बद्धोभवति । यदैव पुरुषः प्रकृतिं तत्त्वतो ज्ञात्वा ता

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

विजहाति तदैव स शुध्यति। तदा तस्य 'नाहं देहोपाधिपरिच्छिन्नो जीवः किन्तु चित्स्वरूप एव' एवं बुद्धिर्भवति।

तत्त्वानां पञ्चविंशतिमः पुरुषः कपिलसांख्यशास्त्रे बद्धावस्थायां जीवः कथ्यते स एव कैवल्यं प्राप्तः परमात्मस्वरूपो भवति। पुरुषस्य एवं प्रकृतिसंयोगाद्बन्धः पश्चात्तत्त्वज्ञानान्मोक्षश्च तस्य भोगापवर्गार्थरूपपुरुषार्थसाधनाय एव भवतः।

पुराणेष्वपि एवमेव कथ्यते। किन्तु विशेषोऽयमत्र यदीश्वरस्वीकारात् षड्विंशत्-तत्त्वानि स्वीक्रियन्ते। न केवलमेतत्। कपिलमते पुरुषस्य (तत्त्वतः प्रकृतेः) मोक्षश्च स्वयमेव भवतः। उक्तं च सांख्यकारिकायाम्—

'बध्यते मच्यते स्वयमेव नानाश्रया प्रकृतिः।'

पौराणिकसांख्यमते तु ईश्वर एव तस्य ऐश्वर्यात् प्रकृतिपुरुषसंयोगं साधयित्वा भूतसर्गं क ोति। उच्यते अत्र—

"प्रकृतिं पुरुषञ्चैव प्रविश्यात्मेच्छया हरिः।
क्षोभयामास सम्प्राप्ते सर्गकाले व्ययाव्ययौ॥"

तत्त्वज्ञाने सम्प्राप्ते जीव एवं मन्यते 'परमेश्वरेण स्वात्मा बहुधा कृत्वा सृष्टः तेषां बहुधा सृष्टानां ीवानामन्यतमोऽहमधुना स्वस्वरूपं ज्ञातवान्। अहमीश्वरादभिन्नो, न तु प्रकृतेः। अज्ञानेनैव एतावत्कालमहमात्मानं प्रकृतेरभिन्नं मन्यमान आसम। प्रकृतिपुरुषयो-रापाततोऽभेदे दृष्टेऽपि तयोः तात्त्विकं भिन्नं स्वरूपं मशकोदुम्बरयोर्दार्ष्टान्तिकरूपेण सुष्ठु व्याख्यातम्। उदुम्बरस्य उदरे मशकस्तिष्ठति। यावदेष खण्डितो न भवेत्तावन्न कोऽपि शक्तः मशकोदुम्बरयोर्भेदावधारणे। उदुम्बरफले तु त्रुटिते एव यदा मशक उच्चैरुड्डीयते तदैव मशकोऽन्य उदुम्बरश्चान्य इति तत्त्वज्ञानं भवति। एवमेव प्रकृतिपुरुषयोरन्यताख्यातिरेव तत्त्वज्ञानदानात् पुरुषस्य मोक्षप्रापणाय कल्पते।

पातञ्जलयोगदर्शनेऽपि पुरुषसम्बन्धे एवमेवोक्तम् अस्मिन् दर्शने सैद्धान्तिकभागे सर्वत्र ंख्यमतानुसारिणि सत्यपि अत्र अधिकमेकं षड्विंशतिममीश्वरतत्त्वं स्वीकृतम्। तथापि नात्र ईश्वरः पौराणिकसांख्यस्य ईश्वर इव प्रकृतौ क्षोभं सम्पाद्य जगत्सृष्टिकरणे समर्थः किन्तु क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टेण स्वकीयपुरुषविशेषस्वरूपेण स्वस्य सार्वज्ञसिद्धया च जीवं तारकं ज्ञानं प्रापय्य तस्मै तत्त्वज्ञानं प्रदाय तस्य मोक्षलाभं सुकरं करोति। यथा तथा भवतु तत्त्वज्ञानादज्ञानापसरणेन, मेघापसरणेन स्वरूपस्थस्य सूर्यस्य इव पुरुषस्य प्रकृतिवियोगः तत्परिणामात् मोक्षश्च भवतीति अत्रापि स्वीकृतः।

———

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

रसतत्त्वविमर्शः

श्रीबालशास्त्री, आचार्यः, एम-ए,
संस्कृत-विभागः काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालयः, वाराणसी,

द्रुहिणादिभिराचार्यैर्भरतेन महर्षिणा ।
निरूपितो रसः, सोऽत्र सोपपत्ति विचार्यते ।।

इह तावत् रससम्बद्धाः संक्षेपतश्चत्वारः प्रश्नाः समुत्पद्यन्ते—१, रसः किंप्रमाणकः २, किम्प्रयोजनकः, ३, किंस्वरूपः, ४, कथं चोपलब्धव्यः, इति ।

रसः किम्प्रमाणकः

तत्र "मानाधीना मेयसिद्धिः, मानसिद्धिश्च लक्षणात्" इत्यभियुक्तोक्तदिशा रसो येन प्रमित्सितव्यस्तदीये हि स्वरूपे यथार्थज्ञानसाधनत्वात्मके फलतः सर्वसिद्धान्तरीत्या पर्यवसिते, तत्संख्यायां तैर्थिकानां सगोत्रकलहस्यानपेक्षणीयत्वेनोत्थापनानर्हत्वात् प्रकृताचार्यानुमोदितानामेव प्रमाणानामुपगन्तव्यतायां रसप्रस्थानिभिराचार्यैः प्रत्यक्षानुमानागमा एव प्रमाणत्वेनोपेयन्त इति वक्तुं युज्यते, तथापि प्रमेयविशेषनिरूपणप्रवणतावशंवदेन शास्त्रकारेण परमतमप्रतिषिद्धमनुमतं भवतीति नयमनुरुध्य प्रकृतविषयकसर्वोक्तिव्रातस्यानुसर्त्तव्यताप्रसक्तावपि सरनादाभिन्नतानिबन्धनसमानतन्त्रसिद्धान्तन्यायादरेण संगीतशास्त्रोदितत्वप्रयुक्तं, रसप्रत्यायनबृंहतया अत्यादृतव्यञ्जनायां यदुपज्ञताऽस्ति, तेषां वैयाकरणनानां राद्धान्ते महाभाष्यकारादिभि र्व्यवहृतत्वायत्तं चरमोपेयताया पारमार्थिकस्वरूपप्रदर्शनपरायणानां महर्षिशाण्डिल्यादीनां सूत्राक्षरतो वा लब्धं त्रैविध्यमुक्तनिष्ठमेवेति प्रकृते निर्दिष्टा प्रामाणत्रय्येवेहानुमोद्यत इति पक्षः शक्यस्वीकरणः, परेषामत्रैवान्तर्भावाद्, एतत्त्रिकेणैव रसः प्रमातव्यः इति ।

यद्यपि रसस्य प्रकाशाभिन्नतया नापरेण प्रकाश्यताऽपेक्षा, तथापि कथमपेक्षेत्यादिकं निपुणतरमुपरिष्टादुपपादयिष्यते ।

तत्र प्रत्यक्षं तावन्नाट्यप्रदर्शिनां सहृदयानामानुभाविकमेवेति नेह किमपि विवक्षणीयम् । अनुमानमपि पक्षीकृतात्मनि "आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियमित्यादिभिः श्रुतिभगवतीभिः प्रमापितेन निरतिशयप्रेमास्पदत्वेन हेतुना खल्वानन्दात्मकत्वसाधकतया स्वभ्युपगममेव, निरतिशयानन्दस्य रसात्मकतया, आत्मनश्च रसाभिन्नतया तदभिन्नाभिन्नस्य तदात्मकताया औत्सर्गिकत्वादित्यादिकमपि स्वरूपविवेचने विवेचनीयमास्ते । आगमस्तु "रसो वै सः", इत्यादिः किलोपक्रमोपसंहारादिभिर्निर्णीततत्परताको नैव तिरोहित इति प्रमाणत्रयसिद्धे रसतत्वे न काचिद् विमतिरुदेतुमर्हति ।

रसः किम्प्रयोजनकः

प्रयोजनं चेदमीये निश्चिकीर्षितव्ये अयमेव प्रयोजनात्मा इति सिद्धान्तः । तथा हि प्रयोजनं हि फलम् । तच्च गौणमुख्यभेदेन द्विविधम् । फलान्तरेच्छानधीनेच्छाविषयत्वं मुख्यत्वम् । फलान्तरेच्छाधीनेच्छाविषयत्वं च गौणत्वम् । एवं च मुख्यत्वं सुखे एव विश्राम्यति इत्यत्र नैव विवादो, विश्वजनीनानुभवसिद्धत्वात् ।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

यद्यपि लोके सुखत्वेन व्यवह्रियमाणं, न वस्तुतः सुखं, विनाशित्वेन दुःखाधायकत्वात्। तथा चोक्तं पतञ्जलिचरणैः 'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुखमेव सर्वं विवेकिनः' २।१५ इति। अत एव दुःखमिश्रितत्वेन सुखस्यापि मधुसम्पृक्तविषवद्धेयत्वात्, तदपि दिध्वंसयिषितव्यमेवेति महर्षिगोतमपादा व्यवातिष्ठिपन्।

तथापि वास्तविकसुखमलभमानाः संसारिणस्तदाभासेनैव कृतकृत्यंमन्यमानाः समवलोक्यन्ते।

वस्तुतः सुखं च 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्', 'तस्यैवानन्दस्य मात्रामुपजीवन्ति' इत्यादिभिर्भगवतीभिः श्रुतिभिरेवावगमितं, तच्चात्मस्वरूपघटकतया परिणामादिदुःखकालुष्यासंपृक्तमित्यात्मस्वरूपावगत्या सुज्ञानमौपनिषदप्रस्थानाध्वनीनैः। अत एव इदं विविच्यमानं रसतत्वं साहित्यदर्शनपरमजीवातुरूपात्मस्वरूपमुपजीव्यतया आश्रित्य प्रवृत्तानां चतुर्मुखादिभरतान्तानामाचार्याणाम् आर्षप्रमाणोपबृंहितं रसशास्त्रत्वेन व्यपदेश्यं न दर्शनान्तरैर्गतार्थमाशङ्कितव्यम्।

दर्शनान्तरेषु किल लोकायतिक-सौगतानाम् आत्मनः शाश्वतिकतैव दुर्लभा, विवसनसमये कथमपि नित्यत्वेऽपि तस्य आनन्दता शशविषाणायमानैव। नैयायिकवैशेषिकाणां मते आत्मनो नित्यत्वेऽपि निरानन्दतैवास्य स्वरूपं, सानन्दता तु दुःखवत्तावृतैवेति न सिषाधयिषितसिद्धिः। कापिल-पातञ्जलानामपि तथात्वेन साम्यमेव इति नाभीष्टसिद्धिः। अध्वरमीमांसाविदां नयेषु प्रायेणोक्तचर्य्यैवाशान्तिः। क्वचिन्मुक्तौ नित्यसुखाभिव्यक्त्यभ्युपगमेपि दुर्निवारा अर्थान्तरता, मुक्तेः पूर्वं तदीयव्यक्तेरसत्कल्पत्वात्। अनयैव दिशा आत्मनोऽनानन्दतावादिनामवशिष्टदर्शनानां सिद्धान्तेभ्योऽपि अगतार्थता स्फुटैव।

औपनिषदसिद्धान्तिनां त्वद्वैत-विशिष्टाद्वैत-शुद्धाद्वैत-द्वैताद्वैत-द्वैतवादिनां पञ्चानामपि प्रस्थानेषु खल्वात्मतत्वस्य नित्यतया आनन्दतया च महतः संवादस्य सत्वेपि, न तथा आनुकूल्यं यादृशं स्वाभीष्टसंपिपादयिषया आचार्या रसशास्त्रमुपनिविभन्तस्व एनदाविरब्रीभवन्। एतच्चानुपदमेव स्वरूपनिर्णयावसरे वक्ष्यते। ततश्चः—निरतिशयानन्दसाक्षात्कार एव प्रयोजनत्वेनावधार्यते अत्रेति आस्माकीनः समयः।

रसः किंस्वरूपः

रसस्य किं स्वरूपमिति जिज्ञासायां तावद् आत्मैव रसः इति रसदर्शनिनां राद्धान्तः। 'रसो वै सः', 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्', 'आनन्दाद्ध्येवेमानि भूतानि', इति श्रौतवचनानि स्वरूप-तटस्थलक्षणाभ्याम् आत्मानमेव लक्षयन्ति। आत्मा चात्र यद्यपि ब्रह्म-परमात्मादिपर्यायो भगवानेवोपक्रमोपसंहारादिभिस्तात्पर्यास्पदतया अवजिगमिषितस्तथापि प्रतिबिम्बतया, परिछिन्नतया, वस्तुतया वा 'यथाग्नेर्विस्फुलिङ्गाः', 'ममैवांशो जीवलोके' 'अंशो नानाव्यपदेशाद्', इत्यादिश्रुति-स्मृति-ब्रह्मसूत्रादिभिर्व्यवस्थापितो जीवोपि तत्वदृशा सच्चिदानन्दात्मा, परन्तु सिन्धोर्बिन्दुरिव तत्स्वभावः कणकल्पः सुतरां तदुपात्तसरणितः सर्वांशे एव तादृशो, नातो जगत्कर्तृत्वाद्यापत्तिः। अर्थम् चैनं तर्कोपष्टब्धानि 'जगद्व्यापारवर्जम्' इत्यादिवचनान्युपोद्बलयन्ति। अत एवायं तदीयतटस्थशक्त्यात्मकतया शास्त्रेषु व्यवह्रियते। सच्चिदानन्दरूपस्य भगवतः किल तिस्रः शक्तयः शास्त्रप्रमिताः स्वरूपा-तटस्था-बहिरङ्गाख्याः। आसु स्वरूपाख्याया अपि तिस्रो भिदाः, संधिनी-संविद्-ह्लादिनीनामिकाः। तथा च तत्वतो भगवत्स्वरूपसजातीयः,

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

सर्वथा तद्विजातीयवहिरङ्गातोपि विलक्षणः सन् जीवः, तटस्थ इति गीयते। एवं चोक्तस्वरूपो जीवोपि रसवाच्यतां नार्हतीति नाशङ्कनीयम्। न खलु रससमुद्रस्य बिन्दू रसान्यो भवितुमर्हति। एतदेवाभिप्रेत्य रसशास्त्राचार्याः प्राकृताप्राकृतभेदतो द्वैविध्यं रसस्य संगिरमाणास्तथैवोपापीपदन्। मूलं चैतदीयम् आग्नेयादिषु व्यक्तमेव।

भरतमुनिना तु यान् उपचिकीर्षुणा न्यवन्धि नाट्यशास्त्रम्, ते किलानादिकालतो बम्भ्रम्यमाणप्रपञ्चचक्रचङ्क्रममाणताचणा, अपरिशीलितचरपरमपुमर्थप्रापकपद्धतयः सुकुमारमतयो द्विविधवासनावासितहृदयाः काव्यार्थचिन्तनालङ्कर्मीणयोग्यतापरिपचेलिमचातुरीका विनेयाः, तान् एतान् 'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते' इत्यादिस्वरूपेण गुडजिह्विकान्यायेन चरमगन्तव्यदिगुन्मुखीनीकर्तुकामेन परमरसास्वादमाधुरीसंपल्लेशोपि यदवधि नानुभवगोचरी कार्यते, तदवधि कथमिवादसीयमर्मस्पृहयालवोमी क्रियेरन्निति विचिन्त्य, दुष्करप्रवृत्यास्पदानि श्रवणादीनि साधनान्यव्यापार्यापि निखिलानर्थनिदानाज्ञानमनुन्मूल्यापि, चिरसंचितचरकर्मकलापानपरिप्लुष्यापि जनैर्यथा तादृशं वस्त्वास्वादपदवीं नीयेत, यादृशं तत् तानि व्यापार्य, तदुन्मूल्य, तान् परिप्लुष्य सूरिभिस्तथा क्रियते, स प्रकारो दिव्यज्ञानमन्दरेण निगमपयोधीन् प्रमथ्य, नाट्याम्नायपीयूषाभवपुराविरकारि।

सुतरां प्रथमभूमिकारूढानामधिकारिणामुपकारः प्राकृतरसपरिचयेन यथा सुकरो, न तथा अप्राकृतरसज्ञानेन इत्यधिकारानुरूपमुपदेष्टारः श्रद्धेयवचनाः फलेग्रहियत्नाश्च भवन्ति नापरथा। अतो मुनिना प्राकृतस्यास्यैव रसस्य प्रबन्धो निबन्धेनान्वबन्धि, नापरस्य, नैतावता 'स' नास्त्येव, नानुमत एव वेत्यवगन्तव्यम्। कथमन्यथा आत्मदर्शनसाधनताभावादस्य शास्त्रस्य दर्शनता, कथं चोपक्रमे एव चतुर्वर्गाप्तिप्रयोजकत्वप्रतिश्रुतिरस्य संगच्छेत, कथं च रसतापि जीवस्वरूपघटकानन्दस्य। रसत्वप्रतिपादिका हि भगवती श्रुतिः उपक्रमोपसंहारादिपरिचारकवृन्दसेविता खलु स्वेष्टमाप्तुं प्रभवति।

न च तत्सध्रीचीनश्रुतितात्पर्यविषयाभिन्नत्वाज्जीवस्य नोक्तापरिति वाच्यम्। तयोरभेदस्य याथातथ्यचिन्तायामिदानीमुदस्यापि सम्प्रतिपन्नभेदकाले अभेदोक्तेरनुपयुक्तत्वात्। प्रदर्शितविधया शास्त्रप्रवृत्युपजीव्यविरोधाच्च।

एतेन ज्ञानकाण्डेन रसकाण्डस्य गतार्थतया काण्डान्तरारम्भचर्चा मुधैवेति प्रलपन्तो निरस्ताः। प्रयोजनपार्थक्यं हि प्रस्थानपार्थक्यं प्रयोजयति। तच्च प्रयोजनमैहिकम् आमुष्मिकं वा, उत्कृष्टमपकृष्टं वा अंशत इत्यन्यदेतत्।

इत्थं चैष रसः प्राकृतालम्बनकतया 'प्राकृत' इति व्यवह्रियते, अप्राकृतालम्बनको हि 'अप्राकृत' इति शास्त्रविदां मर्यादा व्यवहारासंकरार्थमादरणीयैव। द्वैविध्यं चैतद् आचार्यभरतेनापि बहुशो ध्वनितमप्यनधिकार्यत्वेन नाभिहितम्। तदेव पुनराग्नेयादौ स्पष्टमुक्तम्, नेयता कापि क्षतिः।

यत्तु प्राकृताप्राकृतौ रसौ क्रमेण लौकिकालौकिकौ कथ्येते इति, तन्न समीचीनम्, द्वयोरप्यलौकिकत्वात्। न हि लौकिको रसोऽध्यात्मविद्यानां प्रधानत्वेन प्रतिपाद्यो भवितुमर्हति। स हि तृतीयपुमर्थगृह्योऽन्यथा प्रस्थानभेदानुपपत्त्या बाभ्रव्यादिसंहितानामानर्थक्यमापतेदित्यादिर्भूयाननुप्लवः स्यात्।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

अलौकिकत्वं चैनयोर्लौकिकमर्यादातिशायित्वाद, दर्शयिष्यते चानुपदमेतत्। प्राकृतत्वं पादविभूतिविलासविजृम्भितत्वम्, त्रिपादवैभवं चाप्राकृतमिति वस्तुस्थितिः। अत एवायं प्राकृतो 'रस' इति कथ्यते, अप्राकृतस्तु 'भाव' इति नाट्यशास्त्रे भरतपरिभाषा। वस्तुतस्तु अप्राकृतो भक्तिरस उच्यते, रसत्वव्यपदेशजीवातोस्तादृशानन्दात्मकतया उभयत्राप्यविशेषात् इति।

रसः कथं चोपलब्धव्यः

रसोपलब्धिप्रकारस्त्वेष :—'वक्ष्यमाणस्वरूपकैर्विभावानुभावव्यभिचारिभिर्व्यक्तः स्थायी एव रसतां भजते' इति सिद्धान्तस्य सकलरसदर्शिभिराचार्यैरनुमोदितत्वेपि स्थायिस्वरूपे, तद्व्यक्तौ च मतभेदनिबन्धनो मार्गभेदो विद्यत एव। तथा हि—तत्र आहंकारिके चित्ते कारणविशेषोद्बुद्धे सत्वे स्वेतरगुणावभिभूय प्रकाशमाने जातु चिदनुभूतरत्यादिस्थायिसंस्कारोप्युद्बुद्धीभूय प्रतीयमान, उपचीयमान, पुष्यमाणः, अभिन्नायमाननेदिष्ठचिच्छक्तचा आत्मीयत्वेन भुज्यमानो रसव्यपदेशभागिति कापिली प्रक्रिया।

परन्त्वसौ जडत्व-परप्रकाश्यत्व-प्राकृतत्वादिमत्वाद् भिन्नमेव वस्तु, नास्माकीनो रसः।

भौतिके चित्ते हेतुविशेषाद् द्रुतिमति उदितम्रदिमनि मुद्रितो रत्यादिस्थाय्याकारः संस्कारः स्वोद्वोधकमहिमतिरस्कृतावृतिकचिद्विशिष्टो रस इत्यौपनिषदैकदेशिनां सरणिः।

अत्र पूर्वोक्तदोषासत्वेपि चितोऽङ्गत्वोक्त्या श्रुति स्वारस्यभङ्गो वर्तत एव। एतद्दोषं परिहर्त्तुकामैः कैश्चित् स्थाय्यवच्छिन्नभग्नावरणचिदेव रसः इत्यभिहितम्। अस्मिन् पक्षे गौणत्वभानप्रयुक्तास्वारस्यरूपदोषस्य परिहारेपि तदव्यवहितोत्तरवाक्यसहितैकवाक्यतास्वारस्यभङ्गरूपदोषस्य विद्यमानत्वेन न:स्यापि युक्तिसहत्वम्। तद्वाक्यं च 'रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवतीति। तथा हि—एतद्वाक्यघटकायंपदार्थकर्त्तृकलाभकर्मैव भवता रसत्वेन विवक्ष्येत। ततश्च स्पष्ट एव स्वारस्यभङ्गः। भग्नावरणचैतन्यस्यैवायम्पदार्थतया कर्तृकर्मणोरभेदापत्तेः।

न च सावरणस्यैवायम्पदार्थत्वेन कर्त्तृता, अनावरणस्य कर्मतयोपाधिकभेदेन अविरोधान्न स्वारस्यभङ्ग इति वाच्यम्। स्वप्रकाशवादे किलावरणभङ्गमन्तरेणेतरस्यानपेक्षणादावरणभङ्गादेव आनन्दीभवनप्राप्तेः पूर्वांशवैयर्थ्यंस्य वज्रलेपायितत्वात्।

एतेन 'सावरणोयं ह्यनावरणं रसं लब्ध्वा' इत्यादिव्याख्यानं कुर्वन्तः परास्ताः। 'सावरणो निरावरणः सन्' इत्येतावतैव तदभीष्टसिद्धेः।

तस्मादखिलानि कण्टकितवर्त्मान्युत्सृज्य परिष्कृतघण्टापथेन संचरिष्णूनां रसविदामेष खलु सिद्धान्तः—सः=प्रकृतः, स्वरूप-तटस्थलक्षणलक्षितो ब्रह्म-परमात्मपर्यायो भगवान् वै=निश्चयेन रसः=रसपदार्थः। तमेनं=रसमेव, नापरं, लब्ध्वा, अयम्=स्वल्पानन्दो जीवः, आनन्दी भवति=प्रशस्तानन्दो भवतीति। 'रसो वै सः', रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति'ति वाक्ययोरेतयोरेकवाक्यतया इत्थमेव व्याख्याने प्रकृतशास्त्रस्य दर्शनतापि परमपुमर्थप्रापकतया संगच्छते। न च आवरणभङ्गवैशिष्ट्येपि परमपुमर्थसंपादकत्वाक्षतिरिति वाच्यम्। तथा सति उत्तरमीमांसयैव गतार्थतायां रसशास्त्रस्यानारम्भणीयत्वापत्तेः। न चेष्टापत्तिः। अन्यैरपि भवदभिमतोत्तरमीमांसाशास्त्रानारम्भणे तुल्ययुक्तया इष्टापत्तेः सुवचत्वात्। न चोत्तरमीमांसा-

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

यामपि प्रस्थानान्तरे कथंकारं नाम रसशास्त्रारम्भणीयतानिर्वाहः इति शङ्क्यम् । गुडजिह्विकान्यायेन, तथा च, उपेयप्रतिपत्त्यर्था' इत्यादिपूर्वोक्तयुक्तेः सार्थक्यसम्भवात् । न चास्माभिरपि सार्थक्यमेवं सुसम्पादमिति साम्प्रतम् । अपारमार्थिकतापिशाचीभयादेवमुपगन्तुं भवतः असामर्थ्यात् । प्रकृतशास्त्रकृदभिमतरसस्य भवन्मते चरमोपेयत्वाभावाच्च ।

तथा च परमर्षिभरताचार्यस्य सूत्रम्: —'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः' इति । अत्र विभायन्ति=उद्बोधयन्ति प्रसुप्तस्थायिनमिति विभावाः, आलम्बनानि, उद्दीपनानि च । एवं च विषयतासम्बन्धेन स्थायिविशिष्टमालम्बम्, स्वोद्बोधजनकतासम्बन्धेन स्थायिविशिष्टमुद्दीपनम्, । स्थायिपोषकत्वे सति आलम्बनचेष्टरूपोऽनुभावः । आलम्बनावच्छेदेनाविर्भूष्णुतिरोभूष्णुत्वे सति स्थायिपोषकभावो व्यभिचारीति बोध्यम् । सूत्रे पञ्चमी हेत्वर्था । हेतुत्वं च कारकत्व-ज्ञापकत्वान्यतररूपम् । ज्ञापकत्वं च तद्विषयकज्ञानजनकज्ञानविषयत्वम् । ज्ञानं चात्र त्रिविधम्, प्रत्यक्षम्, अनुमितिः, शाब्दधीश्चेति । प्रत्यक्षं तु द्विविधम् यथार्थमयथार्थं चेति । अयथार्थमपि द्विधा, दोषजन्यं भ्रमत्वेन प्रसिद्धमेकम्, द्वितीयन्तु इच्छाजन्यमारोपत्वेन ख्यातम् ।

एवं च दमयन्त्यादिदर्शनजनितनलादिसमवेतरत्याद्युद्बोधस्य तत्कार्यकटाक्षादिकस्य सहचरितोत्कण्ठादीनां चानुकार्यनलादिनैव सम्बन्धात्तत्रैव रस उत्पन्नो, नटे तु तत्तदनुकृत्या सादृश्यमूलकारोप इति भट्टलोल्लटादयोवादिषुः ।

के च न नाट्यादिषु प्रकटविभावादिषु व्यञ्जनया नलादौ दमयन्त्यादिरतौ ज्ञातायां भावनादोषेण कल्पितनलत्वावच्छिन्ने स्वस्मिन् समुत्पन्नोऽनिर्वचनीयो दमयन्त्यादिविषयकरत्यादिरेव रस इति समगिरषत ।

अन्ये तु व्यञ्जनाऽनिर्वचनख्यात्यनभ्युपगमाद् भावनादोषेणात्मनि नलाद्यभेदग्राही दमयन्त्यादिरतिमदभेदबोधो विषयासत्त्वेऽपि मानसो भ्रम एव रस इत्यवोचन् ।

परे तु श्रीशङ्कुकानुयायिनः—नलत्वेन गृहीते नटात्मके पक्षे अकृत्रिमत्वेन गृहीतैर्विभावादिहेतुभिर्नलादिगतरत्यादिरनुमीयमानो रस इत्युपागमन् ।

अपरे च भट्टनायकानुवर्त्तिनः—नाट्यादिना व्यक्तिविशेषवृत्तित्वनिरूपितत्वाभ्यां जनितेऽपि स्थायिज्ञाने भावनया तयोः प्रमोषाद् रतित्वादिनैव प्रतीतरत्यादेः स्ववृत्तिरत्यादिसाजात्येनानुभूतचररत्यादिसंस्कारोद्बोधे ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वेन सत्वोद्रेकेण आनन्दरूपो रसः शब्दस्य भोगाख्यतः तार्तीयीकव्यापारेण साक्षात्क्रियत इत्यभ्युपागुः ।

इत्थं स्वस्वशेमुषीविकाससाहायकमवलम्ब्य, पारमर्षसूत्रघटकसंयोगपञ्चमीनिष्पत्तित्रिकस्य विविधार्थानुररीकुर्वन्तोऽभियुक्ताः स्वस्वमतानुरूपेण रसतत्वं प्रहेलिकान्यायेन प्राचीकशन् ।

परन्तु मुनिसम्मतरहस्यानाकलनाद् रसशास्त्रसिद्धान्तमार्मिकाणामश्रद्धेयान्येवाखिलान्येवोक्तमतानि, तदनुसारीणीतराणि चानिर्दिष्टान्येकदेशिमतानि अपि तथैव । तथाच अश्रद्धाबीजानि :—

तत्र प्रथमे तावद् विप्रकृष्टत्वात्, लौकिकत्वात्, काल्पनिकारोपविषयत्वाद् अर्थान्तरता । द्वितीयस्मिन् विमतानिर्वचनीयत्वाद् भ्रमविषयत्वात् तथात्वम् । तृतीयेऽपि भ्रमास्पदत्वमेव

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

तादृशम् । तुरीयेऽपि भेदग्रहणेन वाधात् कथमपि भेदाग्रहेऽपि नलादौ भैम्यादिरतिग्रहस्य सामाजिकप्रवृत्यनौपयिकत्वात् श्रव्यस्थले पक्षताज्ञानविरहाच्च अभिमतरसपरिपन्थिता दुर्निवारा । पञ्चमे तु प्रमाणप्रतिपन्नस्य शब्दनिष्ठक्रमिकव्यापारत्रयाभ्युपगमस्यैवारुन्तदतेति ।

श्रीमदभिनवगुप्ताचार्यास्तु—'विभावानुभावव्यभिचारिभिः संयोगाद् व्यञ्जनाद् रसस्य-स्थाय्युपहितचिदानन्दात्मनः, निष्पत्तिः=स्वरूपप्रकाशः' इति सूत्रार्थम् सिद्धान्तयन्ति स्म । फलबलकल्पनेन विभावादीनाम् साधारणीकरणात्मना व्यापारेण सर्वथा हि विशेषांशप्रमोषात् सामाजिकात्मनि स्थायी व्यज्यमानो रसः । दशमस्त्वमसि इत्यादिरीतितः शब्दादप्यपरोक्ष-ज्ञानाभ्युपगमान्न पारोक्ष्यप्रयुक्तमपि वैरस्यम् । उक्तालौकिकव्यापारमहिम्ना लौकिककार्य-कारणभावप्रसरावरोधाद् दुःखजनकतया क्लृप्तेभ्योऽपि सुखोत्पत्तेः सुरतक्षणवर्त्यधरदशनादा-विवानुभविकत्वाद् अन्तःकरणावृत्तित्वाच्चालौकिकत्वं निष्प्रत्यूहमेव ।

कार्यत्वज्ञाप्यत्वाभावाद् भूतवर्तमानभविष्यत्ववैधुर्यात् सविकल्पक-निर्विकल्पक-वेद्यत्व-विरहाच्च तादृशत्वं सुवचम् । नित्यत्वानन्दत्वस्वप्रकाशकत्वादिकं च रसस्य आत्मत्वादेव निर्विवादमेव । उत्पाद-विनाश-कादाचित्कत्वादिव्यवहारास्तु विशेषणचर्वणाविषयका एव इत्येव निष्कर्षं तत्र भवन्तो मम्मटभट्टप्रभृतयः समाद्रियन्ते स्म, अन्येऽपि रसशास्त्रनिबन्धारः प्रायेण एनामेव दिशमनुसस्रुः ।

इयांस्तु विशेषः—सर्वमप्येतद्दिग्दर्शनविधया विनेयोन्मुखीकरणाय श्रीभरताचार्येण प्राकृतरसनिरूपणव्याजेन प्रदर्शितं, वास्तविकतया उद्देश्यभूतोऽप्राकृतरसस्तु श्रीभगवदालम्बनक एव, तस्यैवाखिलशेषित्वेन चरमप्राप्यतया परमपुमथफलत्वेन चोपनिषत्स्मृतिपुराणादिषु व्यवस्थापिततया निखिलशास्त्रदर्शनानां यथायथं साक्षात्परम्परासाधारण्येन तन्निरूपणौपयिकान् भूयःप्रकारानाश्रित्य तत्रैव पर्यवसानस्याखिलतत्वविवेचकसार्थसम्मतत्वाद्, एवं च निसर्गतोऽलौकिके तस्मिन् यादृगलौकिकताविधित्सया नाटचादिषु लोकातिकानन्दानुभवानुगुणसाधारणी-करणोररीकरणमुपेयते, तादृशत्वस्य औत्सर्गिकतया आनन्दव्यक्तिप्रयोजकत्वांशे फलानुपधानेऽपि परत्रोपयोगित्वेन नाप्रयोजकता । अत एव प्रकारभेदोन्नयनाय आचार्य्यैरेष भक्तिरसनाम्ना व्यपदिष्यते । व्यतानि चायम् इतोऽपि बहिष्ठविधाभिः श्रीकृष्णद्वैपायनादिभिराचार्य्यैरिति न तिरोहितं विदुषाम् ।

रसमात्रस्य चास्य गौणमुख्यादिभेदाः, तत्प्रभेदाः, विभावादीनां चातिभूमानं प्राप्त-विभेदप्रकाराः विद्वद्भिः प्रबन्धेन बहुषु निबन्धेषु निरूपिताः, तत्तत्प्रकीर्णत्वादिरूपैस्तत्सर्वं पुनरवसरे कदाऽपि विज्ञसहृदयेभ्य उपायनीकरिष्यते ।

यत्तूपहृतं तन्निजसौजन्यगरिम्णा मरालचातुरीधुरीणाः स्वपरविवेचनविधुरा नैरपेक्ष्य-पवित्रमनसा स्वीकुर्वन्तु इत्याशासानो विरमति मुधा विस्तरादिति ।

गुरोः प्रसादाल्लब्धेऽस्मिन् रसतत्वविमर्शने ।
मदीयं नास्ति किञ्चित्, ता यदि स्युस्त्रुटिर्भिर्विना ॥

———

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

पदस्वरूपम्

चक्रवर्त्ती जगदीश चतुर्वेदी
व्याकरण विभागीय प्राच्य विद्या धर्म विज्ञान सङ्कायस्य का० हि० वि० वि०

तत्र तावत् पद्यते गम्यते अर्थात् ज्ञायते अर्थो येनेति व्युत्पत्या घञ् प्रत्यये संज्ञापूर्वकत्वादत्र वृद्धयभावे पदशब्दस्य सिद्धिर्भवति। एतेन यजुर्वेदप्रातिशाख्य प्रोक्तम् "अर्थः पदम्,"[1] इति पदलक्षणं संगतं भवति। यतोहि अर्थोऽस्ति यस्मिन् इत्यर्थे अर्थशब्दो वर्तते। ततश्च यो वै सार्थकः शब्दः अक्षरसमुदायः अक्षरं वेति तत्पदमिति तदाशयः अथवा शब्दार्थयोरितरेतराध्यासाद् 'अर्थः पदमिति विज्ञेयम्। यतोहि पदं श्रुतं पदार्थं श्रृणु अर्थं वदति इत्यादि व्यवहारस्तयोरितरेतराध्यासवलेन प्रसिद्धः। तस्माद् वाच्योऽर्थः कथं पदसंज्ञक इति नाशङ्कनीयमिह विज्ञैः। अतएव तत्राष्टमाध्याये "अक्षरसमुदायः पदम्" अक्षरं वा[2] इति पुनः पदलक्षणनिर्धारणं संगतमेव न तु विरूद्धम्। तत्र रामः, कृष्णः, इत्यादि अक्षरसमुदायस्योदाहरणम्। अ ई उ वर्णाः अक्षरपदस्योदाहरणमिति। एते वर्णा अपि स्वतन्त्ररूपेण वाचकाः सन्ति तत्र अकारो वासुदेवस्य वाचकः, ईकारो लक्ष्म्या, उकारश्च शम्भोरिति सुप्रसिद्धम्।

पदस्वरूपनिर्धारणविषये सन्ति पुरातनानां पदतत्त्वज्ञानां बहुविचाराः। तत्र केचनेह संगृह्यन्ते। प्रथमं तावत् पदलक्षणानि प्रातिशाख्येष्वेवं मिलन्ति। तथाहि तैत्तिरीय प्रातिशाख्ये "एकवर्णः"[3] पदमिति। बृहद्देवतायां च "वर्णसंघातजं पदमिति"[4]।

तदेवं समुपलभ्यमानेषु प्रातिशाख्येषु वर्णः, वर्णसमूहो वा पदमिति समानमेव लक्षणं प्रतिभाति। तत्र वाचको वर्णः, वर्णसमूहो वा पदमिति यजुर्वेद प्रातिशाख्योक्तमर्थः पदमिति लक्षणेन अन्येषामपि प्रातिशाख्यप्रोक्तलक्षणानां समन्वयो भवति। यतोहि अर्थवत् पदमिति तेषामभिप्रायः। तत्पदञ्च वर्णः वर्णसमूहो वा भवतु। अत्र वर्णशब्देन उपसर्गाणां निपाता-

---

[1] शु० यजु० प्रा० अ० ३ सू० २।

[2] शु० यजु० प्रा० अ० ८ सू० ४१, ४२।

[3] तै० प्रा० अ० १ सू० ५४। यत्तु एकवर्णः पदमपृक्तः इत्येवं सूत्रस्वरूपं मत्वा नेदं सूत्रं पदसंज्ञाविधायकम् अपितु अपृक्तसंज्ञाविधायकमिति वदन्ति तदपि सत्यम् यतोहि क्वचित् तथाविधपाठोऽपि समुपलभ्यते। किन्तु एक वर्णः पदमित्येकं सूत्रम्। अन्यच्च तदनु 'सोऽपृक्तसंज्ञः' इति पृथक् सूत्रं बहुत्रोपलभ्यते। तत्र सूत्रद्वयमिति पक्ष एव साधु भाति यतोहि एकवर्णः पदमपृक्तः इत्येक सूत्रपाठेऽपि एकवर्णः पदमुद्दिश्य अपृक्तसंज्ञा विधीयते। ततः एकवर्णस्य पदत्वं तन्मतेऽप्यविरुद्धमेव। अपि च शुक्लयजुर्वेद प्रातिशाख्यप्रोक्तम् 'अक्षरं वा' पदमित्यनेन समन्वयोऽपि भवति। अतः एकवर्णपदमिति पृथगेव पदविधायकं सूत्रमिति मन्तव्यम्।

[4] बृ० दे० अ० २ का० ११७।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

नामपि ग्रहणं भवति। यतस्तेऽपि पदसंज्ञकाः सन्ति। यद्यपि ते सर्वे न साक्षाद् वाचकाः किन्तु द्योतकाः इति सिद्धान्तः, पुनरपि द्योत्यमर्थमादायापीह पदलक्षणमिष्यते। अतः "अर्थः पदमिति" यजुर्वेदप्रातिशाख्यप्रोक्तपदलक्षणस्य अयमेवाशयो विद्यते यत् शास्त्रव्यवहारे सामान्यरूपेण यत्रार्थत्व स्वीक्रियते, तत्र पदत्वं संगच्छते। एवञ्च शक्यद्योत्ययोरूभयोरप्यर्थयोः पदलक्षणे ग्रहणमिति वोध्यम्। एवं पुराणादावपि –

"वर्णैर्वर्णसमूहं हि पदमाहुर्विपश्चितः।
वर्णास्तु भुवनैर्व्याप्तास्तेषां तेषूपलम्भनात्॥"[1]

इति शिवपुराणे वर्णसमूहो हि पदमिति निश्चितम्। तथा कौटिल्यार्थशास्त्रेऽपि "वर्ण संघातः पदमिति[2] पदलक्षणमुपलभ्यते। अपि च न्यायमंजर्याम् जयन्तभट्टेनापि "वर्ण समूहः पदमिति"[3] पदलक्षणं प्रोक्तम्।

अत्रेदमवगम्यते यत् प्रातिशाख्येषु एकाक्षरवर्णस्यापि पदत्वमङ्गीकृतम्, किन्तु तदनन्तरं पूर्वोक्तपुराणादि ग्रन्थेषु वर्णसमूहः पदमिति पदलक्षणमेव जातम्। यतो लोके वर्णसंघात एव पदमिति तेषां तात्पर्यम्: ततश्चेह लोकमेवानुसरन्ति पुराणादिप्रोक्तपदलक्षणानि। एतावता एकवर्णः पदमित्यस्य खण्डनं न मन्तव्यम्, पदशास्त्रव्यवहारे एकवर्णेऽपि पदशब्दप्रवृत्तिदर्शनात्।

एवमग्रेऽपि प्रातिशाख्यमतमनुसरन्तः केचन आलङ्कारिकाअपि तत्पदलक्षणं स्वीकुर्वन्ति। तथाहि साहित्यदर्पणे आचार्य विश्वनाथेन "वर्णाः पदंप्रयोगार्हानन्वितैकार्थबोधकाः[4]" इति पदलक्षणं स्वीकृतम्। तत्र एतत्पदस्वरूपं प्रातिशाख्योक्तपदस्वरूपतोऽव्यापकमस्ति, यतोह्यत्र न केवलं वर्णाः पदम्, किन्तु ये वर्णाः प्रयोगार्हा अन्वितैकार्थं बोधकाश्च सन्ति त एव पदमिति तदभिप्रायः। दर्पणोक्तपदलक्षणात् पूर्वं काव्यालंकार सूत्रवृत्तौ वामनाचार्येण "अतिप्रयुक्तं देशभाषापदम्[5]" इति पदस्वरूपं निर्धारितम्। तद्वृत्तौ च अतीवकविभिः प्रयुक्तं देशभाषा पदं प्रयोज्यम्, यथा योषिदित्यभिललाष न हालाम् इत्यत्र हालेति देशभाषापदम्। अनतिप्रयुक्तं तु न प्रयोज्यम्, यथा "कङ्केली काननालीरविरलविलसत् पल्लवा नर्तयन्तः" इत्यत्र कङ्केलि शब्दः न पदभाग् भवति कविभिरनङ्गीकारात्।

तत्पदलक्षणं च मन्ये देशभाषा प्रयुक्तपदसंग्रहार्थमेव जातम्। यतोहि कविभिः काव्येषु यषां देशभाषापदानामप्युपयोगः कृतस्तेषां संग्रहार्थमेव जातम्।

काव्यमीमांसायां राजशेखरेण च "व्याकरणस्मृतिनिर्णीतः शब्दो निरूक्तनिघण्ट्वादिभि निर्दिष्टस्तदभिधेयोऽर्थस्तौपदमिति[6]" प्रोक्तम् अत्र व्याकरणस्मृतिनिर्णीतः शब्दः वाचकः द्योतको वा भवतु इति नाग्रहः, किन्तु अर्थोऽपि पदसंज्ञक इति तदाशयः। तस्मादत्र शब्दार्थौ

[1] शि० पु० पू० वा० सं० १२ श्लो०।
[2] कौ० अर्थ शा० २ अ० १० अ० १६ सू०।
[3] न्यांयमंजरी, आ० ६ पदस्वरूपनि०।
[4] साहित्यदर्पणे, प० २ वा० स्व० नि १६ सू०।
[5] काव्या० सू० वृ०, अधि० ५ अ० १ सू० १३।
[6] का० मी०, अधि० ५ अ० १ सू० १३।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

पदमिति पदलक्षणं पूर्वोक्तप्रातिशाख्यमतमन्वेति। काव्ये शब्दस्य अर्थस्य च स्वतन्त्ररूपेण प्राधान्यमस्ति, यतस्तावुभावपिव्यञ्जकौस्तः।

जैनाचार्या अपि विशेषणविशिष्टमेव पदलक्षणं वदन्ति। तत्र प्रमेयकमलमार्तण्डे प्रभाचन्द्रमहोदयेन "वर्णानां परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायः पदम्[१]" इत्युक्तम्। अर्थात् परस्परापेक्षवर्णाः समुदाये निरपेक्षाश्च पदमिति तदभिप्रायः तदेवं पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टलक्षणैः निरर्थकशब्दानां पदत्वव्यवहारनिराकरणमेव कृतमिति सम्यगवम्यते। यतो लक्षणे विशेषणपदं व्यावर्तकमेव भवतीति प्रसिद्धम्। वैयाकरणानां पदलक्षणं प्रत्याहारेणैव प्रायः समुपलभ्यते। तत्र वैयाकरणशिरोमणिर्महर्षिपाणिनिः पदलक्षणं सुप्तिङन्तं पदमिति प्रत्याहारं पुरस्कृत्य प्रोक्तवान्। तत्र सुप्प्रत्याहारेण 'स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्ङेभ्याम्भ्यस्ङसिभ्याम्भ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप्[२]' इत्येकविंशतिः प्रत्ययाः संगृह्यन्ते। एवं तिङ प्रत्याहारेण 'तिप्तस्झिसिप्थस्थ मिब्वस्मस्तातां झ थासाथां ध्वमिड् वहिङ्महिङ्[३]' इत्येते अष्टादशलादेशाः समवगृह्यन्ते। तत्र स्वादयः प्रातिपदिकात् परे भवति, यथा-रामः रामौ रामाः, एवं तिबादयश्च धातोः परे एव भवतीति सिद्धान्तः। यथा-भवति भवतः भवन्ति, इत्यादिषु। सुप्तिङौ च प्रत्याहाराविति पाणिनीयपदशास्त्रमनुसरन्तः सर्वदा स्मरन्ति। यतः पदज्ञानं विना साधुशब्दप्रयोगो न भवति, विना साधुशब्दप्रयोगश्च स शब्दः कामधुग् न भवति। साधुशब्द एव स्वर्गेलोके च कामधुगिति महर्षिपतंजलिना महाभाष्ये उद्घोषितम् "एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुष्ठुप्रयुक्तः स्वर्गेलोके च कामधुग्भवति[४]" अस्तु !

भगवतः पाणिनेरनन्तरं प्रायः सर्वे शाब्दिकाः, सूत्रशैलीमनुसरन्तो मुनयो विवेचकाः विद्वांसश्च प्रत्याहारेणैव पदलक्षणं स्वीकुर्वन्ति। किंच महर्षे पाणिनेरिदं पदलक्षणं बहुव्यापकमस्ति, यतो वार्तिककारकात्यायनोऽपि "विभक्त्यन्तं पदम्[५]" इति मन्यते। व्याकरणशास्त्रे 'विभक्तिश्चेति[६]' सूत्रमस्ति। तत्र विभक्तिपदेन सुप्तिङौ गृह्येते। तस्मात् सुबन्तं तिङन्तञ्च पदमिति फलितम्।

एवं नाट्यशास्त्रे भरतमुनिनापि "विभक्त्यन्तं पदम्[७]" इति प्रोक्तम्। तथा नैयायिक प्रवरेणमहर्षिणा गौतमाचार्येण न्यायसूत्रे "ते विभक्त्यन्ताः पदमिति[८]" सूत्रितमेव। अत्र सुप्तिङन्तं पदं विभक्त्यन्तंपदमित्यादि स्वरूपनिर्णये च उपसर्गनिपातयोरपि पदत्वमस्त्येव। यद्यपि तत्र विभक्तिर्नावलोक्यते, पुनरपि सुब्विभक्तिस्ततः समायाति, तदनन्तरं तल्लुक् च

---

१ प्र० क० मा०, परोक्ष प्र० वा० सू० ३।१०१।
२ अष्टाध्यायी, अ० ४ पा० १ सू० २।
३ „ अ० ३ पा०४ सू०७८।
४ महाभाष्यम्, ६।१।८४। एकः पूर्वपरयोः।
५ „ १।२।६४। वा० १८।
६ अष्टाध्यायी, १।४।१०४।
७ ना० शा०, १५ का० ३६।
८ न्या० दर्शनम्, २ अ०२ आ० ६०।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

भवति । अतः लुप्तविभक्तिकशब्दा अपि पदमिति मन्तव्यम् । एवंच प्र परा अप इत्याद्युपसर्गाणाम्, च ह् वेति निपातानाम्, पच पठ नद इत्याख्यातानाञ्च पदत्वमिति सिद्धान्तः । अतएव तद् भाष्यम् "यथा दर्शनम् विकृता वर्णा विभक्त्यन्ताः पदसंज्ञा भवन्ति । विभक्ति द्वयी नामिकी आख्यातिकी च ब्राह्मणः, पचति इत्युदाहरणम्[१]" । उपसर्गनिपातास्तर्हि न पदसंज्ञा, लक्षणान्तरं वाच्यमिति ? शिष्यते च खलु नामिक्या विभक्तेरव्ययाल्लोपः, तयोः पदसंज्ञार्थमिति पदेनार्थसम्प्रत्यय इति प्रयोजनमिति संगच्छते ? ते विभक्त्यन्ताः पदमिति सूत्र व्याख्याने न्यायवार्त्तिकतात्पर्ये श्रीवाचस्पतिमिश्रमहोदयेन तएववर्णा एव पदं न तद् व्यतिरिक्तंस्फोटाख्यमिति, एवं पदं तत्र दत्वा साधुविवेचितम् । तच्चेह विस्तरभयान्नेह संगृह्यते । सिद्धान्ततः तन्मते वर्णा एव पदम् । ततोऽपि बोधदर्शनादिति भावः ।

अन्यत्र न्यायशास्त्रे च 'वृतिमत्वं[२]' पदत्वं, 'शक्तं पदंवेति[३]' पद स्वरूपम् मिलति, किन्तु तत्पदशब्देन नाम्नएवग्रहणं बोध्यम्, यतः श्रीमज्जगदीश तर्कालंकारभट्टाचार्येण प्रकृतिभेद निरूपणप्रसंगे नाम्नः स्वरूपनिर्धारणे पदंविभक्त्यन्तमित्येवस्वीकृतम् । कृष्णकान्तीटीकायांच स्पष्टमिदमुक्तं यत् ननु पदत्वं शक्तिमत्वं तदा समासस्यातथात्वात्-अर्थात् नैयायिकनये समासे शक्त्यभावात् विभक्तिसहकारेणापि कथं तत्प्रयोग इत्यतः आहपदं विभक्त्यन्तमिति अपि च यत्र शक्तं पदम् इत्युक्तं तत्र पदविभागे नाम्न एव विभागः कृतो वर्तते । तद्यथा यौगिक, रूढं, योगरूढं, यौगिकरूढमिति चतुर्विधं पदं लभ्यते । एतावता न्याय सूत्रोक्तपदलक्षणेनेदं पदलक्षणं विलक्षणमिति न मन्तव्यम् ।

पाणिनीय व्याकरणेतरव्याकरणेष्वपि पदलक्षणं प्रत्याहारसरणिमेवानुगच्छति । तथाहि जैनेन्द्रव्याकरणे सुम्मिङन्तं[४] पदम् । इति पद लक्षणमस्ति अत्र सुप् प्रत्याहारः मिङ्प्रत्याहारश्चेति प्रत्याहारद्वयं पाणिनीय व्याकरणवद् वर्तते, किन्तु पाणिनीयव्याकरणे तिङ प्रत्याहारमादाय प्रथममध्यमोत्तमपुरुषव्यवस्था जाता । इह जैनेन्द्रव्याकरणे तु मिङ प्रत्याहारेण पुर्वमुत्तमपुरुषः मध्ये मध्यमपुरुषः अन्ते च अन्य पुरुष इतिक्रमो निर्धारितः । अत्रेदवमेव तात्पर्य ज्ञायते यत् सर्वतोधिकं सान्निध्यमहंपदार्थस्यास्ति, ततस्त्वं पदार्थस्य, ततश्चान्य पदार्थस्येति पुरुषत्रय व्यवस्थायां सान्निध्यक्रमो जातः । एवं शांकटायन व्याकरणे सुङ्पदम् इति सूत्रम् विद्यते ।[५] पाणिनीय व्याकरणात् अत्र प्रत्याहार सौकर्यमिदमेव यत् एकेनैव सुङ्प्रत्याहारेण प्रसिद्धावुभावपि सुप्तिङावनुस्मर्येते भवतु : तत्र तत्र सम्प्रदायानुसारेण पदप्रत्याहारव्यवस्थासौकर्यम्, पुनरप्यर्थतः महर्षिपाणिनेः सिद्धान्तेमेवानुगच्छति सर्वेषां प्रत्याहारबललब्धं लक्षणम् ।

---

[१] न्यायदर्शनस्य वात्सायनभाष्ये, २।२।६० ।
[२] शब्द श० प्र०, नामनिरूपणम् ।
[३] न्या० सि० मु० श० ख०, 'पदविभाग' ।
[४] जैनेन्द्र व्या, १ अ० २ पा० १०३ सूत्रे ।
[५] शाक० व्या०, १ अ० १ पा० ६२ सूत्रे ।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

तदित्थंमिह पदस्वरूपविवेचने चातुर्विध्यमिव भाति पदलक्षणस्य। तत्र प्रातिशख्येषु द्विविधं पदलक्षणं जातम्। पूर्वं वै अर्थः पदम्[1] इति लक्षितम्। तत्रार्थस्यैव प्राधान्यमवगम्यते तेन द्योतकशव्दानां पदत्वं नांगीकृतं भवति, किन्तु तदनन्तरं पदलक्षणअर्थः[2] पदमिति नोपात्तम पुनरपि सार्थकपदानामेव पदत्वेनावबोधोमन्यते। सचार्थः वाच्यः द्योत्यो वाभवतु इत्यत्र नाग्रहः, अतएव चतुर्विधपदानां संग्रहो भवति। अलंकारशास्त्रे च विशषणविशिष्टं तृतीयपदलक्षणमुक्तम्। प्रत्याहारश्च पुरस्कृत्य चतुर्थं पदलक्षणं सम्पन्नम्। तत्र शाव्दिकाः नैयायिकादयश्च समायान्ति।

एषु सर्वेष्वपि पदस्वरूपप्रकारेषु वर्णसमुदायः, वर्णो वा पदमित्येव फलितम्, यतोविभक्तिः वर्णोत्तरमेव लभ्यते। यद्यपि व्याकरणदर्शने नित्येनस्फोटेनार्थबोधो भवति, नतु वर्णैरिति तत्सिद्धान्तः, ततश्च कथं तत्र पदत्वं सं गच्छत इति शक्यते वक्तुम्, पुनरपीह स्फोटामिव्यंञ्जकाः वर्णाः पदमिति पदस्वरूपं समवधेयम्।

———

[1] यजु०, ८ अ० ४१।
[2] ,, अ० ४२।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

दार्शनिक परिदृश्य में तुलसी की भक्ति

डॉ० राममोहन पाण्डेय

विश्व कवि गोस्वामी तुलसीदास की भक्ति पद्धति पर विचार करते समय उनकी दार्शनिक मान्यताओं को लेकर चिन्तकों में मतभेद खड़ा हो जाता है। कहीं प्रच्छन्न और कहीं प्रकट अपने समस्त काव्य ग्रन्थों में, विशेष रूप से 'रामचरित मानस' एवं 'विनय पत्रिका' में उन्होंने भक्ति रस की जो अजस्र सरिता बहाई है उसकी शीतलता, स्निग्धता और निनाद की एकरसता हृदयहारी है, मंगलकारी है और है अन्ततः विश्रामदायी भी। गोस्वामी जी की यह शैली है कि रामचरित के प्रवाह में मग्न श्रोता या पाठक के समक्ष भक्ति के सिद्धान्तों का प्रतिपादन इस रूप में किया जाय कि वह सहज ही उसके हृदय तक पहुँच जाय। राम कथा के बीच-बीच में उनके सिद्धान्त निरूपण की यह विशेषता सर्वत्र देखी जा सकती है। किन्तु, उन्होंने जहाँ भक्ति निरूपण की विसद आवश्यकता समझी है वहाँ विस्तार में इसका विवेचन भी किया है। मानस का उत्तरकाण्ड ज्ञान और भक्ति के गूढ़ सिद्धान्तों के प्रतिपादन से भरा है। यहाँ उन्हें पूर्ण अवकाश मिला है जहाँ, कथा प्रसंग से इतर स्वतंत्र रूप में ज्ञान और भक्ति का विवेचन उपस्थित करें।

जीव, जगत और ब्रह्म सम्बन्धी प्रश्नों को सुलझाने के लिए जो दार्शनिक मत खड़े हुए उनके वेदान्त से ही गोस्वामी जी अधिक प्रभावित दिखाई देते हैं। उनमें भी अद्वैत और विशिष्टाद्वैत को लेकर ही यह मतभेद विशेष रूप से खड़ा होता है कि उनका मूल सिद्धान्त क्या है? उनके भक्ति निरूपण की प्रक्रिया से कुछ लोग उन्हें विशिष्टाद्वैती मानते हैं, तो कुछ लोग उनकी पंक्तियों और प्रमाणों को देखकर यह निष्कर्ष निकालते हैं कि तुलसी वस्तुतः अद्वैती हैं और जीव, जगत और ब्रह्म के प्रश्न को उसी प्रकार सुलझाते हैं जिस प्रकार शंकराचार्य के वेदान्ती। अद्वैत के मतानुसार उनमें जो विशिष्टाद्वैत की बातें दिखाई देती हैं वह भक्ति के आग्रह के कारण हैं। वस्तुतः उनका दर्शन-अद्वैत दर्शन है। इसके अतिरिक्त कुछ लोग तो उन्हें द्वैतवादी सिद्ध करने की भी चेष्टा करते हैं। इस मतभेद का कारण यही है कि तुलसीदास के काव्य में जहाँ सिद्धान्तों का निरूपण हुआ है वहाँ कहीं उनकी धारणाएं अद्वैत तो कहीं विशिष्टाद्वैत के अनुरूप दिखाई देती हैं। इस स्थिति में निश्चित रूप से कहना कि तुलसीदास किसी विशेष सम्प्रदाय के अन्तर्गत आते हैं, कथमपि उचित नहीं है।

विद्वानों में विशेष मतभेद अद्वैत और विशिष्टाद्वैत को लेकर ही उठता है। अतः उसी पर विचार करना समीचीन होगा। विविध दार्शनिक सम्प्रदायों का मतभेद ब्रह्म और माया जीव और जगत के स्वरूप निरूपण के कारण ही है। इसके साथ ही इसमें साधन मार्ग की भिन्नता भी पाई जाती है। अतः इन्हीं पर संक्षेप में विचार करना ठीक होगा।

सर्वप्रथम ब्रह्म के स्वरूप को लीजिए। संक्षेप में कहा जा सकता है कि अद्वैत (केवलाद्वैत) में ब्रह्म, सत्, चित् और आनन्दमय है, यही उसका स्वरूप लक्षण है। वह जगत की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण है। यह उसका तटस्थ लक्षण है। ब्रह्म

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

ही एकमात्र सत्य है। वह सजातीय, विजातीय तथा स्वगत तीनों भेदों से परे शून्य है। वह निर्विशेष तथा निर्गुण है। वही मायावच्छिन्न होने पर सगुण और अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य होने पर जीव कहलाता है। उसका प्रसिद्ध वाक्य है 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' ब्रह्म के अतिरिक्त जो भी है वह प्रतिभासित सत्य मात्र है। इस प्रकार उनके अनुसार ब्रह्म निर्गुण है। सगुण उसका मायोपाधिक रूप होने से उससे अवश्य ही हट कर सिद्ध होता है।

दूसरी ओर विशिष्टाद्वैतवादियों के अनुसार ब्रह्म सजातीय विजातीय भेदों से शून्य होने पर भी स्वगत भेद से शून्य नहीं है। वह सविशेष है और स्वभाव से ही उसमें कल्याणकारी गुणों की सत्ता है। इस प्रकार वह सगुण है, निर्गुण नहीं। और जगत् उसके चिद्-अचिद् शरीर हैं। जो प्रलय काल में उसमें सूक्ष्म रूप से वर्तमान रहते हैं। दोनों की माया की कल्पना भी अलग-अलग है। अद्वैतियों के अनुसार वह ब्रह्म से अभिन्न होते हुए भी उसकी अनित्य इच्छा है। जगत ब्रह्म का विवर्त है जो माया की आवरण और विशेष शक्ति के कारण सत्य प्रतीत होता है। वह केवल प्रतिभासिक सत्य है और ब्रह्म ज्ञान होने पर उसकी कोई सत्ता नहीं रह जाती।

विशिष्टाद्वैत के अनुसार माया ब्रह्म की सर्जन शक्ति उसमें नित्य निवास करने वाली है। ब्रह्म के अचित् तत्त्व में विकार होने से जगत की सृष्टि होती है। अतः जगत परिणाम है, विवर्त नहीं।

"जीवो ब्रह्मैव नापरः" के अनुसार अद्वैतवादी जीव की सत्ता पृथक् नहीं मानते। जीव ब्रह्म ही है। वह अविद्योपाधि से भिन्न दिखाई देता है। विशिष्टाद्वैती जीव की सत्ता पृथक् मानते हैं और ब्रह्म तथा जीव में अंशाशी भाव मानते तथा जीव को नित्य सत्य सत्ता मानते हैं।

इस मार्ग के साधन चतुष्टय द्वारा ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर मुक्ति उपलब्ध करना अद्वैतियों का लक्ष्य है तो सगुण ईश्वर के शरणागत हो भक्ति द्वारा उसका सामीप्य लाभ कर संसार से मुक्ति पाना विशिष्टाद्वैतियों का।

इस प्रकार संक्षेप में दोनों मतों के मुख्य सिद्धान्त यही है। अब हमें देखना है कि तुलसीदास की विचारधारा किसके अन्तर्गत ली जा सकती है।

तुलसी के 'रामचरित मानस' तथा 'विनय पत्रिका' में उनके दार्शनिक सिद्धान्त अभिव्यक्त हुए हैं। वहां स्पष्ट देखा जा सकता है कि कहीं तो गोस्वामी जी राम को अद्वैतियों के ब्रह्म के रुप में निरुपित करते हैं तो कहीं विशिष्टाद्वैत के सगुण रुप में। जहां वे अद्वैतियों के ब्रह्म के रुप में उपस्थित करते है वहां प्रायः जगत की प्रातिभासिक सत्ता के स्वरुप का भी उल्लेख रहता है :

आदिमध्यांत, भगवंत त्वं सर्वगतमीश, पश्यंति ये ब्रह्मवादी
यथापट-तंतु घटमृत्तिका सर्प-स्रग दारु करि, कनक कटकांगदादी।[१]

---

[१] विनयपत्रिका, ५४।४।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

परन्तु अंत में प्रार्थना यही है-'पाहि मामीस संताप-संकुल सदा दास तुलसी प्रणत रावणारी।'[1] पर इसमें विशेषता यही है कि साथ ही वे राम को सगुण ब्रह्म कह कर उन्हीं की भक्ति का प्रतिपादन करते दिखाई देते हैं। इस प्रकार वे यह स्पष्ट कर देते हैं कि उनके राम निर्गुण भी हैं और सगुण भी। वे अद्वैतवादियों के सगुण की भाँति माया-वच्छिन्न नहीं, माया से परे है परन्तु फिर भी भक्ति के कारण सगुण ही नहीं, अनेक रुप धारण कर लेते है। स्थल संकोच से यहां अधिक उदाहरण न देकर एक दोहा ही पर्याप्त होगा :

> **व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुण विगत विनोद।**
> **सो अज प्रेम भगति बस, कौसल्या के गोद॥**[1]

जहां देवताओं, ऋषियों अथवा वेदों ने राम की वन्दना की है वहां राम का यह रुप प्रत्यक्ष है। राम के निर्गुण रुप की मान्यता स्थापित कर सगुण रुप में ही भक्ति द्वारा उनकी प्राप्ति अभीष्ट बतलाई गयी है।

> **जेहि महु आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना॥**[2]

कहकर राम का स्वरुप ही मानस का प्रतिपाद्य माना गया है। उसका प्रतिपादन प्रारम्भ में 'मानस' के आदि आचार्य भगवान शंकर ने पार्वती से किया है और सम्पूर्ण रामचरित में उसे चरितार्थ किया गया है। अन्त में राम रुप का प्रतिपादन कागभुंशुडि के द्वारा भी कराया गया है। इस प्रकार ज्ञान रुप भगवान शंकर और परम अनुभवी संत काग दोनों के द्वारा ग्रंथ के उपोद्घात और उपसंहार में राम के रुप के साथ माया, जगत और जीव के स्वरुप एवं इनके सम्बन्ध को स्पष्ट किया गया है। यहां विविध अवतरणों का विचार न कर शंकर भगवान के कथन पर विचार करना उचित होगा।

पार्वती द्वारा राम के स्वरुप में शंका प्रकट करने पर भगवान शंकर ने उन्हें विस्तार से समझाया है। उसका कुछ अंश इस प्रकार है :

> **झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने॥**[3]
> **जेहि जाने जग जाइ हराई। जागे जथा सपन भ्रम जाई॥**
> **बंदौ बाल रूप सोइ रामू। सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू॥**
> **मंगल भवन अमंगल हारी। द्रवउ सो दसरथ अजिर बिहारी॥**
>
> × × ×
>
> **सगुनहि अगुनहि नहि कुछ भेदा। गावहि मुनि पुरान बुध बेदा॥**[4]
> **अगुन अरुप अलख अज जोई। भगत प्रेम वस सगुन सो होई॥**
>
> × × ×
>
> **राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहि तहं मोह निसा लवलेसा॥**[5]

---

[1] रा० च० मा०, बालकाण्ड, दोहा—१९८।
[2] रा० च० मा०, उत्तरकाण्ड ६०।६।
[3] वही, बालकाण्ड, १११।१-४।
[4] वही, ११५।१-२।
[5] बालकाण्ड, ११५-५, ६, ८।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

सहज प्रकासरुप भगवाना । नहिं तहं पुनि विज्ञान बिहाना ॥
राम ब्रह्म व्यापक जग जाना । परमानन्द परेस पुरागा ॥

× × ×

जगत प्रकास्य प्रकासक रामू । मायाधीस ज्ञान गुन धामू ॥[1]
जासु सत्यता ते जड़ माया । भास सत्य इव मोह सहाया ॥

रजत सीप महुं भास जिमि जथा मानु कर बारि ।
जदपि मृषा तिहुं काल सोइ, भ्रम न सकइ कोउ टारि ॥

एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई । जदपि असत्य देत दुख अहई ॥
जौं सपने सिर काटै कोई । बिनु जागे न दूरि दुख होई ॥
जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई । गिरिजा सोइ कृपालु रघुराई ॥

इसके वाद ही 'विनु पद चले सुनै विनु काना'[2] आदि कह कर उपनिषदों में प्रतिपादित ब्रह्म का स्वरुप ही राम का भी वतलाया गया है।

शंकर के इन वचनों में राम अद्वैतियों के सच्चिदानंद निर्विकार ब्रह्म हैं और जगत माया जन्य प्रतिभासिक सत्य है। परन्तु अद्वैतियों की भांति ब्रह्मज्ञान से दूर होने की बात यहां नहीं कही जाती बल्कि विशिष्टाद्वैत के सगुण राम की कृपा से ही उक्त बात कही गयी है। यहां दोनों मतों का समन्वय स्पष्ट है। इसी प्रकार :

राम ब्रह्म परमारथ रुपा । अविगत अलख अनादि अनूपा ॥[3]
सकल विकार रहित गत भेदा । कहि नित नेति निरुपहिं वेदा ॥

में भी राम अद्वैतियों के ही ब्रह्म है, तो—

तात राम कहुं नर जनि मानहुं । निर्गुन ब्रह्म अजित अज जानहु ॥[4]
निज इच्छा प्रभु अवतरइ सुर महि गो द्विज लागि ।
सगुन उपासक संग तंह रहहिं मोच्छ सब त्यागि ॥

कह कर निर्गुण ब्रह्म और अवतारी राम की एकता प्रतिपादित कर दी गई है। उसी प्रकार :

राम सरुप तुम्हार बचन अगोचर बुद्धि पर ।[5]
अविगत अकथ अपार नेति नेति नित निगम कह ॥

"जगु पेखनि तुम देखनि हारे । विधि हरि संभु नचावनि हारे" में भी यही प्रतिपादित किया गया है।

इसी प्रकार भगवान् शंकर ही नहीं सुतीक्ष्ण और वेदों द्वारा भी सगुण निर्गुण की एकता स्थापित की गयी है। पर सर्वत्र गोस्वामी जी इष्ट रखते हैं सगुण को ही और उसे

---

[1] वही, बालकाण्ड ११६।७ से ११७।३ तक ।
[2] रा० च०मा०, बालकाण्ड ११७।५ ।
[3] वही, अयोध्याकाण्ड ९२।७-८ ।
[4] वही, किष्किन्धा काण्ड २५।१२ एवं दोहा २६ ।
[5] वही, अयोध्याकाण्ड १२६।१ ।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

भक्ति का आलम्बन मानते हैं। वे विशिष्ट अथवा शुद्धाद्वैतियों की भाँति निर्गुण को उड़ा नहीं देते बल्कि निर्गुण को समझने के लिए दावे के साथ सगुण को भी आवश्यक मानते हैं।

ज्ञान कहै अज्ञान बिनु, तम बिनु कहै प्रकास ॥
निर्गुन कहै जो सगुन बिनु, सो गुरु तुलसीदास ॥[१]

इसी प्रकार निर्गुण और सगुण का समन्वय तुलसी में सर्वत्र देखा जा सकता है।

माया को तुलसी ने राम की, जगत की उत्पत्ति, स्थिति और संहारकारिणी आदि शक्ति माना है जो सीता रूप में प्रकट होती है।[२] यह सिद्धान्त अद्वैतियों के अनुरूप नहीं है। तुलसी ने माया के दो रूप विद्या और अविद्या माना है।

तेहि कर भेद सुनहु तुम सोऊ। विद्या अपर अविद्या दोऊ ॥[३]

का तात्पर्य कुछ लोग अद्वैतियों की माया और अविद्या अथवा माया की आवरण और विशेष शक्ति समझते हैं, तो कुछ विद्वान् इसे भागवत में प्रतिपादित माया के विविध रूप मानते हैं। यही मत अधिक समीचीन जान् पड़ता है :

हरि सेवकहिं न व्याप अविद्या। प्रभु प्रेरित व्यापै तेहि विद्या ॥[४]

इसी का द्योतक हैं।

इस प्रकार कहीं-कहीं जगत को अद्वैतवादियों की भाँति प्रातिभासिक सत्य मानते हुए भी गोसाई जी प्रतिष्ठा वैष्णव दर्शन सम्मत माया की ही करते हैं।

जीव के सम्बन्ध में भी यही वात है। वे कहीं जीव और ब्रह्म में भेद मानते नहीं दिखाई देते और आत्मस्वरूप वोध को ही लक्ष्य और विवेक द्वारा उपलब्ध मानते हैं। 'जिव जवतें हरि तें विलगान्यो'[५] वाले पद में इसी को समझाया गया है कि जीव माया के कारण अपना स्वरूप भूल गया है :

देह जनित विकार सब त्यागे। तब फिरि निज स्वरूप अनुरागै ॥[६]

निज स्वरूप क्या है :

अनुराग सो निज रूप जो जगतें विलच्छन देखिए।
संतोष, सम सीतल सदा दम, देहवंत न लेखिए।
निरमल, निरामय, एक रस, तेहि हरष-सोक न व्यापई।
त्रैलोक-पावन सो सदा जाकी दसा ऐसी भई ॥[७]

अद्वैतियों के जीव की जीव-मुक्त स्थिति है। परन्तु उसे यह स्वरूप वोध जन द्वारा नहीं साधु सेवा या सत्संग से प्राप्त होता है। सत्संग से ही भक्ति भी प्राप्त होती है। कहा गया है :

---

[१] दोहावली, २५१।
[२] रा० च० मा०, बालकाण्ड १५१।४, वन्दना श्लोक ५, अयोध्याकाण्ड १२५ छंद।
[३] रा० च० मा०, अरण्यकाण्ड १४।४। [४] वही, उत्तरकाण्ड ७८।२।
[५] विनयपत्रिका, १३६। [६] वही। [७] वही।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

सेवक साधु द्वैतभय भागै। श्रीरघुवीर चरन लय लागै ॥[१]

इस प्रकार ज्ञानियों के आत्मबोध की उपलब्धि भी भक्ति द्वारा सम्भव बताई गई है :

गोस्वामी जी 'ईश्वर अंस जीव अविनासी'[२] तथा 'जीव अनेक एक श्रीकंता'[३] में विशेषतः अद्वैत मत का समर्थन करते दिखाई पड़ते हैं।

जो हो, इतना तो स्पष्ट है कि गोस्वामी जी चाहे अद्वैत के अनुसार ब्रह्म का निरूपण करें अथवा उसके सगुण रूप का प्रतिपादन, चाहे जगत को मिथ्या कहें अथवा जीव को अनेक अन्ततोगत्वा वे प्रतिष्ठा भक्ति की ही करते हैं। निर्गुण के ज्ञानमार्ग से कैवल्य परमपद की उपलब्धि को ज्ञान दीपक के रूप में स्वीकार करते हुए भी वे उसकी, भक्ति के सामने तुच्छता सिद्ध कर देते हैं।

अद्वैत ज्ञान मार्ग साधन चतुष्टय द्वारा 'ब्रह्म ज्ञान और फलस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति को ही परम लक्ष्य मानता है तो विशिष्टाद्वैत भक्ति के द्वारा सगुण भक्ति को।

गोस्वामी जी यहां भी उन दोनों से कुछ आगे बढ़ जाते हैं। उनके आदर्श भक्त, उन्हें 'हठि राम सनमुख'[४] करने वाले भक्त भरत अर्थ, धर्म, काम व मोक्ष की उपेक्षा कर इसी जगत में बार-बार जन्म लेने की कामना करते हैं[५] और तुलसी भी भक्ति को ही 'साधन सिद्धि' दोनों ही मानते हैं। उनका यही कहना है—'को जानै को जैहे जमपुर, को सुरपुर परधाम को', 'तुलसिहि बहुत भलो लागत जग जीवन राम गुलाम को'[६] उन्हें विश्वास एक रामनाम को'[७] तथा 'भरोसो जाहि दूसरों सो करो'[८] नाम के सहारे किसी की चिन्ता नहीं।

इस प्रकार गोस्वामीजी में अद्वैत और विशिष्टाद्वैत मतों का समन्वय स्पष्ट परिलक्षित होता है। इतना ही नहीं डा० उदयभानु सिंह ने अपने ग्रंथ 'तुलसी दर्शन मीमांसा' में बड़े परिश्रम से तुलसी के दार्शनिक विचारों का विश्लेषण कर यह प्रमाणित किया है कि अन्य वेदान्ती मतों के अतिरिक्त अनेक आगमों और तन्त्र तथा सांख्य और योग के सिद्धान्तों से भी तुलसी के विचारों में अनेक साम्य और अनेक वैषम्य भी मिलता है। इस प्रकार उनका दर्शन सम्प्रदायवादी न होकर समन्वयवादी है।[९]

उपर्युक्त सभी तथ्यों को दृष्टिगत रख कर हम कह सकते हैं कि तुलसी का दर्शन उन समन्वयवाद से आगे बढ़कर सच्चे मानवतावादी भक्ति दर्शन के रूप में दिखाई देता है। तुलसी को समूचे मानव जीवन से अलग कर किसी साम्प्रदायिक घेरे में खड़ा करना उनके साथ ही नहीं अपनी बुद्धि के साथ भी अतिचार है।

सरल बात तो यह है कि कोरे वाक्यज्ञान या हेतुवाद और बुद्धिवाद को वे ठीक

---

[१] विनय, १३६।११।
[२] रा० च० मा०, उत्तरकाण्ड ११६।२।
[३] वही, उत्तरकाण्ड ७७।७।
[४] रा० च० मा०, अयोध्याकाण्ड ३२५ छंद।
[५] वही, अयोध्याकाण्ड २०४।
[६] विनयपत्रिका १५५।
[७] वही।
[८] वही, २२६।
[९] तुलसी दर्शन मीमांसा—डा० उदयभानुसिंह, पृ० ३६५, प्रथम सं०।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

नहीं समझते थे। वे 'जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू, जहँ नहीं राम प्रेम परधानू'[1] को मानने वाले थे।

उनके यहाँ ज्ञान की अवहेलना नहीं थीं। भक्ति के चरम सोपान पर पहुँचे हुए जगत को प्रभुमय देखने वाले अनुभवी संत कागभुशुंडि का कथन है :

जानेंबिनु न होई परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती।।[2]
प्रीति बिना नहिं भगति दृढाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई।।
बिनु गुरु होइ कि ग्यान, ग्यान कि होइ बिराग बिनु।
गावहिं वेद पुरान, सुख कि लहिअ हरि भगति बिनु।।

यहाँ भी ज्ञान विराग की महिमा है, पर यह ज्ञान भी राम कृपा पर ही आश्रित है :

राम कृपा बिनु सुनु खगराई। जानि न जाइ राम प्रभुताई।।[3]

× × ×

बारि मथें घृत होइ बरु, सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ, यह सिद्धांत अपेल।।[4]

से भी राम-भक्ति बिना भव बाधा का नाश संभव नहीं ज्ञात होता।

गोस्वामी जी में जो अद्वैत और विशिष्टाद्वैत की अलग-अलग छटा दिखाई पड़ती है उसका कारण यह है कि वे जब भक्ति भावना में अधिक निमग्न होते और लोगों के सामने भक्ति का खुला रूप रखना चाहते थे तब विशिष्टाद्वैत के ढंग पर उनके सामने आते थे, क्योंकि जनता इसी रूप में उसका साक्षात्कार कर सकती थी। भक्ति योग का निरूपण करते समय लक्ष्मण से भी उन्होंने माया के दो भेद—शुद्धाद्वैत निरुपित विद्या और अविद्या ही बतलाया[5] तथा भक्ति का निरूपण किया। राम ने भी वहाँ 'जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई'[6] कह कर स्वयं को विशिष्टाद्वैत के सगुण ब्रह्म के रूप में ही प्रकट किया है। उसी प्रकार गरुड़ को जन्म-भूमि का भेद समझाते समय काग 'ईस्वर अंस जीव अविनासी'[7] की ही चर्चा करते हैं और प्रजाओं से राम जीव के 'काल कर्म सुभाव गुन घेरा'[8] में बद्ध हो चौरासी लाख योनियों के भ्रमण की बात करते हैं। ये सभी विशिष्टाद्वैत के अनुरूप हैं। तुलसीदास का प्रतिपाद्य भक्ति ही है। अतः जब ज्ञानियों के बीच में वे भक्ति का उत्कर्ष दिखाना चाहते हैं तब अद्वैतियों की पद्धति पर आगे बढ़ते और ज्ञान की श्रेष्ठता को मानकर व्यवहार के क्षेत्र में उसे कठिन दुस्साध्य और मोक्षप्रद बता कर उससे अलग हो जाते और फिर भक्ति की स्थापना कर उसे सर्वसुलभ और सहज बना देते हैं।

गोस्वामी जी जिस प्रकार लोक की मार्यादा के समर्थक थे उसी प्रकार ज्ञान और भक्ति की मर्यादा के भी। वे यह उचित नहीं समझते थे कि कोई ज्ञानी भक्ति के क्षेत्र में

---

[1] रा० च० मा०, अयोध्याकाण्ड २९०।२।
[2] वही, उत्तरकाण्ड, ८८।७-८, ८९ (क)।
[3] वही, उत्तरकाण्ड ८८।६।
[4] वही, उत्तरकाण्ड १२२ (क)।
[5] रा० च० मा०, अरण्यकाण्ड १४।४।
[6] वही, अरण्यकाण्ड, १५।२।
[7] रा० च० मा०, उत्तरकाण्ड ११६।२।
[8] वही, उत्तरकाण्ड, ४३।५।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

पहुंच उसकी मर्यादा नष्ट करे अथवा कोई भक्त ज्ञान से अनभिज्ञ होते हुए भी उसके क्षेत्र में पहुंच कर व्यर्थ का ज्ञान छाटे। यह मर्यादा बुद्धि उनमें बराबर बनी रहती थी और इसी के आधार पर उन्हें चारों ओर समन्वय और सामंजस्य स्थापित करने की चिन्ता होती थी। उनके यहाँ जो सभी प्रकार के सिद्धान्तों का यथा स्थान प्रतिपादन है उससे प्रत्यक्ष है कि उनका विचार था कि आचार्यों द्वारा प्रतिपादित जितने सिद्धान्त चले हैं वे किसी न किसी सारभूत तथ्य पर अवलंबित है। अतः किसी भी सिद्धान्त को सहसा हँस कर उड़ा देना उचित नहीं हैं। उचित यही है कि उसकी प्रतिष्ठा, उसकी मर्यादा के अनुरुप की जाए और उसे उसी कोटि के जीव के लिए उचित ठहराया जाए। उन्होंने मानस में यही किया भी है। जैसे मानस के राम सबके राम है, वैसे मानस के सिद्धान्त भी सबके सिद्धान्त हैं। किसी भी आस्तिक सम्प्रदाय का व्यक्ति उसमें अपने अनुरुप सिद्धान्तों का प्रतिपादन पा जाएगा। इस प्रकार तुलसी के दर्शन में सभी दर्शनों का समन्वय और विश्वव्यापी राम के चरित में विश्व को नाना भाँति देखने वाले के लिए उचित स्थान है।

अन्त में प्रश्न यही रह जाता है कि आखिर तुलसी का क्या मत है ? वह भी स्पष्ट है। तुलसी जानते सब कुछ हैं, ज्ञान, योग और कर्म, पर सभी को जानते हुए भी चाहते राम की भक्ति ही हैं। उन्हें मोक्ष की चिन्ता नहीं, शास्त्रार्थ द्वारा प्रतिपक्षी को पराजित करने की रुचि नहीं। उन्हें तो सत्संग भाता है और उनके ब्रह्म निरूपण में ज्ञान, वैराग्य और भक्ति की त्रिवेणी प्रवाहित होती है वहाँ—

ब्रह्म निरूपन धरम विधि, बरनहिं तत्व विभाग।
कहहिं भगति भगवंत कै संजुत ग्यान बिराग॥[१]

की ही चर्चा है। यहाँ ज्ञान, वैराग्य, धर्म विधि, तत्व चिन्तन सभी को स्थान है पर प्रतिष्ठा है भक्ति की ही। भक्ति मे भी करते हैं राम की इस फेर में नहीं पड़ते कि वह 'जगदीस' है अथवा 'महीप' वह तो दिवस निसि जीवन पर्यन्त राम का अनुराग चाहते हैं।[२]

उन्हें 'हठि राम सन्मुख' करने वाले भरत तीर्थराज से अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष का परित्याग कर 'जनम जनम रति राम पद' की कामना करते हैं और तुलसी भी खुल कर कह देते हैं—"को जाने को जैहै जमपुर को सुरपुर परधाम को। तुलसिहिं बहुत भलो लागत जगजीवन राम गुलाम को।"[३] उनके लिए इस संसार की अन्य वस्तुओं एवं विभूतियों से कुछ भी लेना-देना नहीं है—

कीरति, कुल, करतूति, भूति भलि सील सरूप सलोने।
तुलसी प्रभु अनुराग रहित जस सालन साग अलोने॥[४]

अपनी अपनी रुचि और स्वभाव की बात है। तुलसी का स्वभाव ही कुछ ऐसा है जो राम से विलग नहीं होता—

---

[१] रा० च० मा०, बालकाण्ड ४४। [२] दोहावली, ९१।
[३] विनयपत्रिका, १५५। [४] वही, १७५।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

लोक को न डरु परलोक को न सोचु देव,
सेवा न सहाय, गर्वु धाम को न धन को
राम ही के नाम तें जो होइ सोइ नीको लागै,
ऐंसोई सुभाउ कछु तुलसी के मन को ॥[१]

फिर राम के नाते तुलसी को यह संसार भला लगे तो आश्चर्य ही क्या। उनकी भावना यही है कि जब परात्पर ब्रह्म सगुण साकार रूप धारण कर इसी लोक में लीला करने अवतीर्ण हुआ है तो हम उसे छोड़कर किसी और ब्रह्म के फेर में क्यों पड़े। क्यों न हम भी उसकी इस लीला में अपने सम्पूर्ण हृदय से मग्न हो जाएं और व्यापक विश्वरूप का कण-कण मे साक्षात्कार करते हुए लोक सेवा को ही राम की सेवा समझें और उसी में लीन रहें। इसलिए-कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो'[२] में परहित निरत निरंतर, मन क्रम बचन नेम निबहौंगो" की ही कामना प्रकट की गयी है। ऐसे परोपकारी संतों के प्रेम के वशीभूत होकर तो प्रभु मानव शरीर धर कर पृथ्वी पर अवतीर्ण होते हैं। उनका उद्घोष है—'तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे। धरौं देह नहिं आन निहोरे।'[३]

अतः इस जग का जीवन ही श्रेय है जो अखिल विश्[illegible]व्यापी को मानव रूप में प्रकट कर देता है। भावों के वशीभूत होने वाले भगवान की [illegible] भक्ति का निरूपण 'मानस' में किया गया है और भगवान् शंकर से लेकर ऋ[illegible]लक्ष्मण, हनुमानादि ही नहीं मारीच और विभीषण. शबरी और जटायू तक राम के भक्त चित्रित किए गए हैं। भक्ति से अद्वैतपद पाने वाली शबरी और सगुण भक्ति पाने वाले विभिन्न भक्तों के मध्य भक्त शिरोमणि भरत सर्वोच्च आसन पर प्रतिष्ठित हैं। उनका भी लक्ष्य है—निःस्वार्थ राम प्रम और राम की सेवा। उन्होंने "जनम जनम रति रामपद" का वरदान मांगा है और राम की सेवा ही नहीं बल्कि उनकी आज्ञा-तुम्ह मुनि मातु सचिव सिख मानी। पालेहु पुहुमि प्रजा रजधानी।[४] का पालन करके लोक में सेवक धर्म का उच्चतम आदर्श उपस्थित किया है। उनकी इस स्वामिभक्ति में समस्त जगत की सेवा सिमट आयी है। प्रजा और पृथ्वी का पालन ही उनके लिए राम की सेवा बन गया है। तभी राम के हृदय में उन्हें वहाँ स्थान मिला जो अन्य किसी को न मिल सका और कहा गया—

भरत सरिस को राम सनेही। जगु जप राम राम जपु जेही ॥[५]

भरत का त्याग अन्यतम है। अयोध्या का राज्य तो किसी गिनती में नहीं, निर्वाण की भी उपेक्षा की और उसके आगे बढ़ कर प्रभु की सेवा के लिए उस सामीप्य सुख की भी चिन्ता न की जिसे हनुमान और लक्ष्मण भी न त्याग सके।

प्रियतम के सामीप्य सुख की कामना का भी त्याग विश्वरूप सेवा के लिए करना ही संत का गुण है। प्रभु का वचन है—

---

[१] कवितावली, उत्तरकाण्ड ७७।
[२] विनयपत्रिका, १७२।
[३] रा० च० मा०, सुन्दरकाण्ड ४७।८।
[४] वही, अयोध्याकाण्ड ३१४।८।
[५] रा० च० मा० अयोध्याकाण्ड २१७।७।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत ।
मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवंत ॥[१]

तुलसीदास भी इसी जगत में 'वार-वार जन्म लेकर' परहित निरत निरंतर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो की ही कामना करते हैं। यही संसार को प्रभुमय देखने का सुन्दर साधन है।

उनकी भक्ति विभिन्न दार्शनिक मतों के समन्वय से सम्भूत एक ऐसी चिन्तामणि है, जो रामपद एवं परमपद दिलाने में सहायिका बनती है। तुलसी न तो परम्परावादी ही थे और न तथा कथित प्रयोगवादी। उन्होंने परम्पराओं के जीवंत तत्वों को ग्रहण कर उसके उज्ज्वल स्वरूप को प्रतिभासित किया है और अपनी भक्तिभाव धारा में नये पन की ऐसी ऊर्जा का संचार किया है जो भारतीय भक्त मानस को वहा ले जाने में सहज समर्थ है। तुलसी की समन्वयवादी दृष्टि का यही रहस्य है। द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत का द्वन्द्व हो सकता है पर तुलसी की भक्ति इनके समन्वय से निर्मित होकर भी अपना अलग अस्तित्व रखती है।

---

[१] रा० च० मा० किष्किन्धाकाण्ड, ३।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

प्रयोगवादी (तथोक्त नयी कविता) में बिम्ब-विन्यास

डा० जनार्दन उपाध्याय

भावों की ऐन्द्रिय अभिव्यक्ति के लिए काव्य में सम्मूर्तन या बिम्ब-विधान का आश्रय लिया जाता है। बिम्ब का सामान्य अर्थ शब्द-चित्र है।[१] परन्तु शब्द-चित्र एवं बिम्ब में मूलतः भेद है। जहां तक ऐन्द्रियता का प्रश्न है, वह दोनों में समान होती है, क्योंकि चित्र एवं बिम्ब का स्वरूप, स्वभाव एवं प्रकृति इन्द्रिय-बोध्य है। पर दोनों की अंकन विधि में भेद है। बिम्ब-योजना में अप्रस्तुत का आश्रय लिया जाता है। किसी भाव या विचार की सम्यक् प्रेषणीयता एवं उसके अर्थ की पूर्ण स्पष्टता के लिए यह आवश्यक है कि सादृश्य या प्रभाव साम्य पर उपमानों का प्रयोग किया जाय। इसी से बिम्ब-विधान में रूपक, उपमा, मानवीकरण, प्रतीक आदि का सहारा लिया जाता है।

बिम्बों में अप्रस्तुत एवं शब्द-शक्तियों के कारण उपमेय की समुचित व्याख्या नवीन भंगिमा से होती है। अतः बिम्बों द्वारा रागात्मक स्फुरण होता है जिससे अभिव्यक्ति अधिक तीव्र और भावों की प्रेषणीयता अत्यन्त सहज हो जाती है। बिम्बों द्वारा यह कार्य दो तरह से सम्पादित होता है। प्रथम अवस्था में बिम्ब अपनी सम्मूर्तन कला द्वारा पाठक के मन को आकर्षित करता है। द्वितीय अवस्था में वही बिम्ब पाठक की विभिन्न इन्द्रियों को स्फुरित करते हुए काव्य के केन्द्रीभूत भाव को जगाकर रागात्मिका वृत्ति को एक हल्का संवेगात्मक आघात (Emotional shock) देता है। इसी से लुई-मैकनीज ने बिम्ब-विधान में आकर्षण और आघात की क्रिया का संकेत किया है।[२] काव्य में बिम्ब ग्रहण तब होता है जब कवि विभिन्न इन्द्रिय संवेद्य बिम्बों की संश्लिष्ट योजना द्वारा पाठक की मानसिक स्थिति में आवेगात्मक आकर्षण एवं आघात द्वारा रागात्मक परिवर्तन उपस्थित कर सके। अज्ञेय का एक उदाहरण उपरोक्त कथन को स्पष्ट कर देगा।

> **"तुम्हारे नैन**
> **पहले भोर की दो ओस-बूंदें**
> **अछूती, ज्योतिमयी,**
> **भीतर द्रवित**
> **(मानो विधाता के हृदय में**
> **जग गई हो भाप करुणा की अपरिमित)** [३]

कवि ने नायिका के नेत्र एवं उसके विभिन्न गुण-धर्मों के लिए उपयुक्त अप्रस्तुतों का प्रयोग कर सफल बिम्ब की योजना की है। वह प्रयोगवादी कवि है। अतः उसके लिए सभी पुराने "उपमान" मैले पड़ गये हैं। इस कारण से वह उपमेय की व्याख्या के लिए

---

[१] सी० डे० लेविस: पोइटिक इमेज, पृ० १८।
[२] लुई मैकनीज: माडर्न पोइट्री, पृ. १११।
[३] अज्ञेय; अकेले कंठ की पुकार पृ० १६।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

सादृश्य एवं प्रभाव-साम्य के आधार पर नूतन उपमानों का उपयोग करता है। मध्ययुगीन कवि नयन को 'कमल,' 'खंजन,' 'मीन' कहते हैं, तो छायावादी कवि 'नीलम की घाटी' एवं 'नयनों का आकाश' कहकर अपनी दिगन्त व्यापिनी कल्पना का परिचय देता है। नूतन भाव बोध एवं अभिनव सौन्दर्य चेतना से अनुप्राणित प्रयोगवादी कवि इन दोनों से परे एकदम नवीन उपमानों का प्रयोग करता है जिससे इन्द्रिय-संवेद्य विम्बों में भास्वरता, नवीनता, एवं उर्वरता आ जाती है। नायिका के नेत्र भोर की अछूती, ज्योतिर्मयी और भीतर द्रवित ओस-बूंद की भांति है। यहां पर कवि का मुख्यार्थ है नेत्रों की तरल दीप्ति, उनकी पवित्रता एवं तरलता की अभिव्यक्ति। इसके लिए विभिन्न भावव्यंजक शब्दों का प्रयोग हुआ है। पवित्रता के साथ वे तरल-क्रान्ति से युक्त हैं। पर सम्भव है कि तरल सौन्दर्य से संविलित पवित्र नेत्र कोमल न होकर कठोर हों। अतः कवि विधाता के हृदय में करुणा की अपरिमित भाप जगाकर द्रवित हो जाने की अभिव्यक्ति "भीतर द्रवित" कहकर करता है जिससे नेत्र कोमल भी हो गये हैं। इस कल्पना ने नेत्र की तरलता के साथ ही साथ उन्हें सजीव भी बना दी है। ऐन्द्रियता की दृष्टि से चक्षु एवं स्पर्शेन्द्रिय संवेद्य बिम्ब-रुपायित हुए हैं जो मुख्यभाव को रागात्मक स्फुरण एवं आवेगात्मक आघात द्वारा सम्प्रेषित करने में समर्थ हैं।

चित्रों में यह स्थिति नहीं होती है। वे किसी अन्य भावविशेष को संकेतिक करने में सहायक नहीं होते हैं। वहां पर मात्र उपयुक्त पदार्थों के स्वतन्त्र वर्णन द्वारा चित्र अंकित होते हैं। वस्तुतः उनमें अप्रस्तुत द्वारा उपमेय की व्याख्या के लिए उपमानों का उपयोग नहीं होता है। हां, इतनीं बात अवश्य है कि शब्दों का प्रयोग इस प्रकार होता है कि वे किसी भी वर्णित चित्र को सटीक ढंग से प्रस्तुत करने में समर्थ होते हैं। मुख्यतः चित्र में रेखाएं स्पष्ट, रंगों का मेल सानुपातिक एवं उनकी पूरी बनावट मंजी हुई होती है। यह गुण चित्रकला का है। जो कार्य चित्रकार तूलिका के सहारे करता है, वही कार्य कवि अपनी सम्मूर्त्तन कला द्वारा शब्दों से करता है। यह हम कह आये हैं कि बिम्ब मात्र शब्द चित्र नहीं है। शब्द-चित्र के परे उसमें साहचर्य द्वारा भाव के विभिन्न स्तरों को रूपायित करने की शक्ति होती है। शब्दचित्र केवल शब्दचित्र को प्रस्तुत करके शान्त हो जाता है। उसमें अन्यभाव को संकेतित करने की क्षमता नहीं होती। इस कथन की व्याख्या के लिए सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का एक उदाहरण लीजिए।

सुबह हुई
धरती के सुनहरे चिकने फर्श पर
हरी मटर का गोल बड़ा दाना लुढ़कने लगा
और उसके पीछे-पीछे भूरे पंख फड़फड़ाता
गौरैया का एक बच्चा
अपनी नन्ही सी सुर्ख चोंच खोल कर
उसे बार बार पकड़ने का असफल प्रयास करता फुदकने लगा।

इन पंक्तियों में सक्सेना ने प्रातः काल में गौरैया के बच्चे द्वारा चोंच से मटर के गोल दाने को पकड़ने की क्रिया को शब्द-चित्र प्रदान किया है। इसमें प्रयुक्त शब्द हमारे

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

सामने चक्षु प्रत्यक्ष कई छोटे छोटे चित्रों को प्रस्तुत करते हैं। यह पहले कहा जा चुका है कि चित्र में ऐन्द्रियता होती है। अतः यहां पर भी ऐन्द्रिय संवेद्य चित्र अंकित है। 'सुनहरे, "हरी", "भूरे", "सुर्ख" आदि शब्दों ने क्रमशः फर्श, मटर, पंख एवं चोंच का रूप एवं रंग के साथ यथार्थ चित्र अंकित किया है। "चिकने" से फर्श की चिक्कणता की व्यंजना होती है जिससे स्पर्शेन्द्रिय चित्र भी बन जाता है। आधुनिक कवि के शब्द चित्र स्थिर कम, गतिशील अधिक है। इसी कारण से प्रस्तुत चित्र में प्रयुक्त शब्द "फड़फड़ाता" और "फुदकने" से चित्र में गत्वरता आ गई है। पर इन सभी बातों के होते हुए भी यह विम्ब नहीं हो पाया है, क्योंकि ये शब्द-चित्र अपने आप में स्वतन्त्र हैं। वे किसी अन्य भाव को संकेतित नहीं करते हैं।

बिम्ब विधान की तीन अवस्थाएं होती हैं। अपनी प्रथम अवस्था में वह प्रत्यक्ष जगत की छाया होता है।[१] आशय यह है कि उपमेय के लिए प्रयुक्त उपमान प्रत्यक्ष जगत से गृहीत होते हैं और काव्य में इसी यथार्थ जगत् की छाया प्रतिविम्बित होती है। बिम्ब की यह अवस्था काव्य में सदैव मिलती है। उदाहरण के लिए जगदीश गुप्त ने गोरेभाल पर लगी बिन्दी के लिए प्रत्यक्ष जगत से गृहीत उपमान के द्वारा केन्द्रीभूत भाव की व्यंजना की है :—

"उगी गोरे भाल पर बेंदी
एक छोटे दायरे में लालिमा इतनी बिथुरती
बांध किसने दी।
नहा केशर के सरोवर में
ज्यों गुलाबी चांद उग आया।

यहाँ पर गोरे भाल पर लगी बिन्दी के लिए गुलाबी चाँद का बिम्ब प्रस्तुत किया गया है।

द्वितीय अवस्था में विम्ब एक वस्तु की छाया की छाया है।[२] इस प्रकार का बिम्ब विधान छायावादी कविता म अधिकतर मिलता है। बिम्ब की तृतीय अवस्था में छाया की छाया प्रतिबिम्बित होती है।[3] यहाँ पर बिम्ब की रेखाएं इतनी पतली, अनिश्चित और अस्पष्ट होती है कि वह प्रतीक सदृश प्रतीत होने लगता है। पर वह पूर्ण प्रतीक नहीं हो पाता है :—

दो पंखुरियाँ
× × ×
झरी लाल गुलाब की, तकती पियासी
पिया–से ऊपर झुके उस फूल को
ओठज्यों ओठ तले !!

अज्ञेय की इन पंक्तियों में लाल गुलाब की पंखुरियों का फूल के तरफ देखने का चित्र बनता है, परन्तु साथ ही साथ इससे प्रतीकत्व द्वारा मानव की अतृप्त लालसा की भी अभिव्यक्ति होती है। अतः यहाँ पर बिम्ब प्रतीकत्वपूर्ण हो गया है।

---

१ "साहित्य रूप", डा० राम अवध द्विवेदी, पृ० २७६।
२ "साहित्य रूप" : डा० राम अवध द्विवेदी, पृ० २७६।
३ वही, पृ० २७६।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

आज का कवि सामाजिक विविधता, मानसिक पेचीदगी एवं भावों की शंकुलता की अभिव्यक्ति के लिए विम्वों का चयन विभिन्न क्षेत्रों से करता है। छायावादी कवि बिम्ब के लिए उपादानों को विशेषतः से प्रकृति ग्रहण करता है। पर प्रयोगवादी कविता में विम्ब चयन जीवन तथा उसके दैनिक व्यापार से किया गया है। यही कारण है कि आज की कविता में विज्ञान, कृषि, दैनिक जीवन, पशुचारण, मनोरंजन, फैक्टरी से बिम्बों को ग्रहण करके भावों की व्यंजना हुई है।[1]

प्रयोगवादी विम्ब विन्यास कोचार भागों में विभाजित कर सकते हैं: स्थिर बिम्ब विन्यास (static Imagery), आवेगात्मक विम्व विन्यास (shocking Imagery) आनुषंगिक विम्ब विन्यास (Associative Imagery) मनोवैज्ञानिक विम्ब विन्यास (Psychological Imagery)।

प्रयोगवादी विम्ब विन्यास

- स्थिर विम्ब विन्यास
- आवेगात्मक विम्व विन्यास
- आनुषंगिक विम्व विन्यास
- मनोवैज्ञानिक बिम्ब विन्यास
  - युक्तभावानुषंग विम्ब
  - यौन बिम्ब

(क) स्थिर बिम्ब-विन्यास

जियोफ्री बुला ने आधुनिक कविता के विम्बों को रोमांटिक विम्ब से अलग बताते हुए कहा है कि आधुनिक कविता के विम्ब स्थिर हैं जब कि रोमांटिक विम्ब गतिशील होते हैं।[2] स्थिरबिम्ब का अर्थ है अनुभूति के विकास क्रम के साथ उनमें संवर्धनशीलता नहीं होती है। वस्तुतः वे एक ही भाव विशेष को व्यक्त करके रह जाते हैं। इस प्रकार की विम्ब योजना प्रयोगवादी कविता में मिलती है। स्थिर विम्ब में प्रत्येक नई अनुभूति के लिए एक स्वतन्त्र बिम्ब प्रयुक्त होता है। छायावाद में एक विम्व भावविशेष के विभिन्न स्तरों को रूपायित करता है। अतः उसमें एक प्रकार का फैलाव मिलता है। परन्तु प्रयोगवादी स्थिर बिम्ब द्वारा एक ही अनुभूति की व्यंजना होती है। इसी से इनके एक-एक बिम्ब सटीक एवं कसे हुए हैं। इसके लिए डा० राम विलास शर्मा की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं:—

नदी की धार सोयी है
सिकुड़ दुबली भिखारिन-सी
बजाते शोहदों-से सीटियाँ
ये झिंगुरों के दल।

---

[1] इस प्रसंग में नरेश मेहता, धर्मवीर भारती, नलिन विलोचन शर्मा, शम्भुनाथ सिंह, गिरिजा कुमार माथुर, केशरी कुमार, प्रयागनारायण त्रिपाठी, डा० देवराज, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, अज्ञेय आदि की बिम्बयोजना, द्रष्टव्य है।

[2] जियोफ्री बुला : ट्रेन्ड इन मार्डन पोइट्री, पृ० १२९।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

पथ बिसरी पहाड़िनी-सी
भटकती बिजलियाँ नभ में
सागर की सतह पर क्यू लगाये
जुड़ रहे बादल
टिका आराम कुर्सी में
उबास ले रहा सूरज
सुहागिन सांझ के सिर से
सरकता जा रहा आंचल ॥

प्रस्तुत उदाहरण में कई बिखरे हुए आकर्षक बिम्बों का वैशिष्ठ्य है। एक बिम्ब एक भाव को व्यक्त करके स्थिर हो जाता है। फिर दूसरे भाव के लिए दूसरा बिम्ब आता है। बरसात के अभाव में क्षीणकाय नदी की अभिव्यक्ति के लिए कल्पना द्वारा दुबली भिखारिन का चित्र अंकित करता है। यहां एक चित्र एक भाव को व्यक्त करके स्थिर हो जाता है। आगे शोहदो सा सीटियां बजाते झिंगुरों का दल, पथ भूली पहाड़िन सी नभ में बिजलियों का भटकना, सागर की सतह पर क्यू लगाये बादल, आराम कुर्सी में उबासी लेता सूर्य तथा सुहागिन सांझ का चित्र अंकित हुआ है। उपरोक्त बिम्बों से स्पष्ट है कि वे एक भाव को ही व्यक्त करके किस प्रकार शान्त हो जाते हैं।

(ख) आवेगात्मक बिम्ब-विन्यास

इस प्रकार की बिम्ब योजना में किसी भाव या रूप के लिए प्रचलित बिम्बों या चित्रों की अपेक्षा ऐसे बिम्बों का निर्माण होता है जो अपनी विचित्रता के कारण पाठक को संवेगात्मक आघात देते हैं। आवेगात्मक बिम्ब अपनी इसी स्तब्धकारी शक्ति के कारण रागात्मक एवं बौद्धिक शक्ति को आघात द्वारा स्फुरित कर ऐन्द्रिय एवं मानस बिम्बों को प्रस्तुत करने में समर्थ होता है। इसके लिए अज्ञेय की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :—

अगर मैं कहूँ
बिछली घास हो तुम
लहलहाती हवा में कलंगी छरहरी बाजरे की
एक प्रतीक
बिछली घास है।
या शरद की सांझ के सूने गगन की पीठिका पर
दोलती कलंगी अकेली
बाजरे की।
और जब जब देखता हूँ
यह खुला वीरान संसृति का घना हो सिमट आता है
और मैं एकान्त होता हूँ
समर्पित।[१]

---

[१] अज्ञेय, हरीघास पर क्षण भर, पृ० ५८।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

नूतन सौन्दर्य बोध से अनुप्राणित कवि नारी रूप के लिए परिचित बिम्बों के विरुद्ध एक नया बिम्ब प्रस्तुत करता है। उपरोक्त पंक्तियों में नारी का गत्वर सौन्दर्य, अंगों का लचीलापन, शारीरिक तन्वीपन रूप की मृदुता एवं मसृणता हरी बिछली घास एवं छरहरी बाजरे की कलंगी द्वारा रूपायित हो उठती हैं। इस रूप का जीवन एवं संसृति के सूनेपन में कितना महत्त्व है, इसकी अभिव्यक्ति के लिए जो सह-संबद्ध बिम्ब लाया गया है वह है सांध्य कालीन सूने आकाश में डोलती हुई कलंगी। सांध्यकाल के शून्य आकाश में डोलती कलंगी की सत्ता जितनी रोचक एवं आह्लादकारी है, सूनसान जीवन में उतना ही आह्लादिक नारी रूप है। ऐन्द्रिय संवेद्य बिम्बों में दृश्य स्पर्श बिम्बों का मिलित अंकन हुआ है। चित्र की दृष्टि से यह स्थिर न होकर गत्वर चित्र है। स्पष्ट है नवीन उपमानों द्वारा नये बिम्दों की नियोजना द्वारा पाठक का मन सहसा चकित हो जाता है वह क्षण भर के लिये वह अपने पूर्व प्रचलित उपमानों से भिन्न उपमानों को देखकर क्षणिक भावात्मक आघात की अनुभूति करता है। इस प्रकार के आकर्षण एवं आघात पर निर्मित बिम्ब "प्रयोगवादी कविता में अधिक है।"[1] इसे चित्र संख्या एक में इस प्रकार देखा जा सकता है :

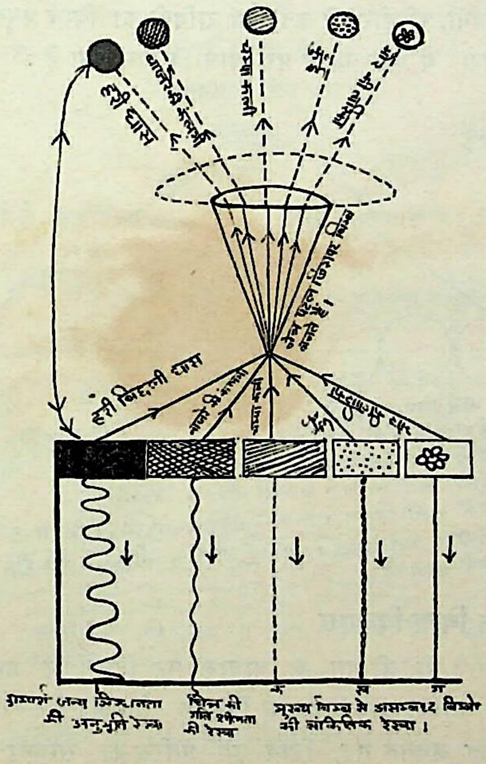

(ग) आनुषंगिक बिम्ब-विन्यास

इस प्रकार की बिम्ब योजना में एक ही रुप की अभिव्यक्ति विभिन्न क्रमिक बिम्बों

---

[1] देखिए चित्र संख्या एक।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

द्वारा की जाती है। इसमें एक के बाद एक बिम्ब नई अनुभूतियों से युक्त होकर प्रयुक्त होते हैं। देवराज की निम्न पंक्तियों में यह बिम्ब देखा जा सकता है :—

वह हंसी
मानो गुलाबी पंखुडियों में हिमघुली
प्रातः किरण धंसी।
प्रेमिका हृदय पर नव आसाढ़ी तड़ित की
ज्यों गिरी चाँदनी,
मन के सुनहले क्षितिज में चमकी नई
रवि-हीर की कनी
मानो नई इक रागिनी की भूमिका
मृदु वायु में बजी।[१]

यहां पर मधुर हास्य के आलोक के विस्तार, उसकी भास्वरता, ध्वनि माधुर्य एवं आह्लादक गुण की प्रशस्त अभिव्यक्ति के लिए क्रमिक रुप से हिमघुली प्रातः किरन, आषाढ़ी तड़ित की चाँदनी, रविहीर की कनी एवं रागिनी का विम्ब प्रयुक्त हुआ है। मदन वात्स्यायन के "शुक्रतारा" में इसी पद्धति पर बिम्ब विन्यास हुआ है :[२]

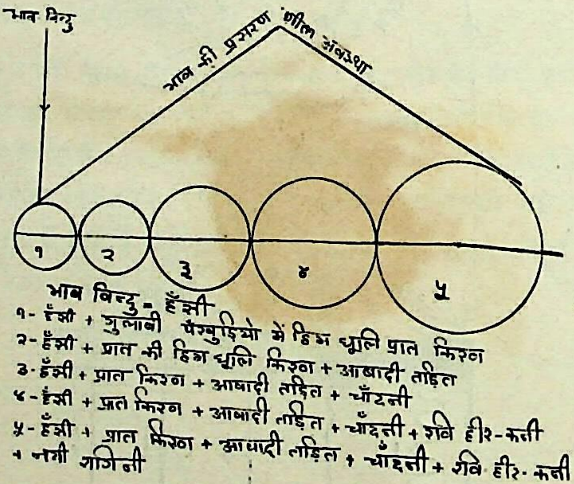

(घ) मनोवैज्ञानिक बिम्ब-विन्यास

मिस वाडकिन ने सी. जी युग के आधार पर बिम्बों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया है[3]। युग के अनुसार साइकी अर्थात् चित्त के तीन भेद हैं :—चेतन मन, व्यक्तिगत अचेतन मन, समष्टिगत अचेतन मन, बिम्ब एवं प्रतीक का सम्बन्ध अचेतनमन की दोनों अवस्थाओं से रहता है, पर अधिकांशतः उनका मूल समष्टिगत अचेतन में रहता है, क्योंकि

---

[१] देवराज; युग-चेतना, अप्रैल १९५७। [२] देखिए चित्र संख्या दो।
[3] आरकिटाइपल पैटर्न इन पोइट्री, मिस वाडकिन।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

मौलिक (Primordial) बिम्ब एक ही प्रकार के असंख्य अनुभवों का सूक्ष्म रूप होता है जो व्यक्ति विशेष का न होकर संस्कारवशात मानव को उसके पूर्वजों से मिला है[1]। आशय यह है कि आदिम संस्कारजनित मानव की परिवारगत, जातिगत, समूहगत, असंख्य प्रभाव एवं प्रवृत्तियां मन की सबसे निचली परत में पड़ी रहती हैं और वे ही समय-समय पर चेतन मन की ओर अग्रसर होती हैं। युंग ने इन्हें ही आरकिटाइयस कहा है। चित्त की गहराई में असम्बद्धभावों की लहरें उठती तो अवश्य हैं, परन्तु उनका स्वरूप विशृंखल रहता है। उन्हें चेतना का मुक्त प्रवाह (फ्री एसोशियेशन) कह सकते हैं। चेतना के मुक्त प्रवाह की अभिव्यक्ति युक्त भावानुषंगात्मक बिम्बों के द्वारा ही हो सकती है।

मुक्तभावानुषंगपद्धति पर निर्मित बिम्ब

मुक्तभावानुषंग के आधार पर निर्मित बिम्वों द्वारा कविता में एक स्मृति चित्र बनता है। इस पद्धति मे उस चित्र का स्पष्ट अंकन नहीं रहता है, वल्कि कुछ शब्द ऐसे होते हैं जो भावना के साहचर्य से पूर्व की बातों को प्रस्तुत कर देते हैं। यद्यपि इस प्रकार के प्रयोग से काव्य में अस्पष्टता एवं दुरुहता आ जाती है, पर प्रयोगशीलता की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण है—

संदिग्ध प्रत्यूष बेला
निश्चयपूर्ण दिन बन गई
मनहूस
प्रत्यूष

नलिन विलोचन शर्मा ने प्रत्यूष के धुंधलेपन से मुक्त आसंग के सहारे वर्तमान जीवन की

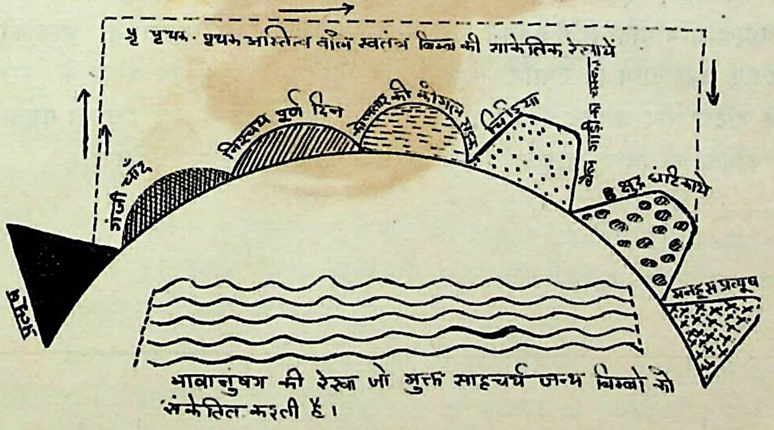

---

[1] The se archetypes be (C. G. Jung) deseribed as 'Psychic residu e of numberless experiences of the same type experiences which have happened not to the individual but to his ancesters and of which the results are inherited in the structure of the brain."

Mise Maud Bodkin
Archetypal patterns in poetry, pp. 1.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

जर्जर आधिभौतिक सभ्यता की व्यंजना की है। और विस्तृत भूमि पर यह देश की उस राजनैतिक,आर्थिक एवं सांस्कृतिक विपन्नता को संकेतित करता है जिस पर इलियट का पूरा वेस्ट-लेण्ड लिखा गया है।[१]

(२) यौन बिम्ब

फ्रायड एवं अति यथार्थवादी प्रभाव के कारण अवचेतन मन में पड़ी भावनाओं की व्यंजना सेक्स बिम्बों द्वारा होती है। आधुनिक हिन्दी कविता (नयी कविता) में मनुष्य की अतृप्त इच्छाओं एवं कठोर वर्जनाओं की अभिव्यक्ति हुई है। अज्ञेय के अनुसार आज का मानव "सेक्स" संवन्धी वर्जनाओं से आक्रान्त है। उसका मस्तिष्क भी दमित कामभावनाओं के भार से बोझिल है। इस प्रकार उसकी सौन्दर्य चेतना भी यौन भावना से लिप्त है। इस अवस्था में उपमा, रूपक, प्रतीक का यौन परक हो जाना स्वाभाविक है।[२] आज इस प्रकार के यौन विम्बों की कल्पना मिलती है। अज्ञेय ने निम्न पंक्तियों में ऐन्द्रिय आकर्षण एवं रूपलिप्सा के आधार पर व्यंजित काम-व्यापार की सम्यक् अभिव्यक्ति की है।

गीली दूब से मेदुर
मोड़ पर जिनके नदी का फूल है, जल है
मोड़ के भीतर घिरे हों, बांह में ज्यों
गुच्छ लाल वुरूस के उत्फुल्ल ॥

समग्रत: अनुशीलन से, स्पष्ट है कि प्रयोगवादी कविता में एक तरफ ऐन्द्रिय बिम्बों की प्रधानता है तो दूसरी तरफ मानस विम्बों (मनोवैज्ञानिक) कीं भी कभी नहीं है। ऐन्द्रिय बिम्बों में एक वात विशेष लक्षित होती है कि विभिन्न इन्द्रिय संवेद्य बिम्बों का प्रयोग एक साथ होता है। इससे विम्ब में नवीनता तो आ ही जाती है, भाव की विपन्न संवेदनाएं एक साथ ही रूपायित होती है। बौद्धिकता के विशेष आग्रह के कारण कुछ बिम्ब जटिल और अस्पष्ट भी हो गये हैं। फिर भी यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि नयी कविता का बिम्ब विधान पूर्वकालीन बिम्ब विन्यास से सर्वथा नवीन है।

———

[१] तारसप्तक (प्रथम) पृ० ७६।
[२] देखिए चित्र संख्या तीन।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

बंगला और हिन्दी के सर्वनाम

राजमणि शर्मा
शोध-छात्र, हिन्दी विभाग, का० हि० वि० वि०

१. आधुनिक भारतीय भाषाओं का विकास अपभ्रंश के निम्न पांच रूपों से हुआ है :

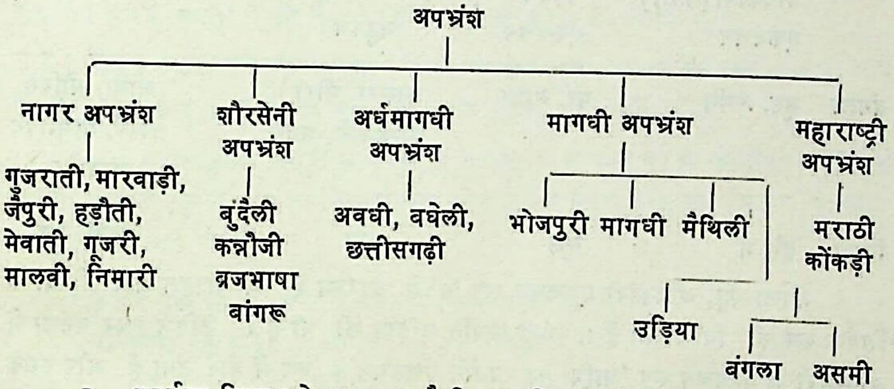

२. उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि आधुनिक हिन्दी का स्वरूप शौरसेनी तथा अर्धमागधी अपभ्रंश के मेल से विकसित हुआ और बंगला का स्वरूप मागधी अपभ्रंश से विकसित हुआ है। मागधी अपभ्रंश से एक तरफ विहारी भाषाओं–भोजपुरी, मागधी, मैथिली और दूसरी तरफ उड़िया, बंगला, असमिया भाषाओं का विकास हुआ है। चीनी-यात्री ह्वेनसांग के अनुसार भी ७ वीं शती में बिहार, बंगाल और आसाम की भाषा एक ही थी। चटर्जी भी इस बात से सहमत हैं कि बंगला, उड़िया, असमिया और बिहारी भाषाओं की जननी एक ही अपभ्रंश रूप–मागधी–है। इससे यह बात साफ हो जाती है कि आधुनिक बंगला भाषा का जन्म ७ वीं शती के बाद हुआ।

३. डा० चटर्जी के अनुसार आर्यों के बंगाल में जाने के पूर्व कोल, द्रविड़ भाषा-भाषी लोग रहते थे। उनके अनुसार बंगला भाषा की ध्वन्यात्मक संरचना पर द्रविड़ भाषाओं का स्पष्ट प्रभाव अभी भी देखा जा सकता है।

४. अपभ्रंश से विकसित होने के कारण दोनों भाषाओं – बंगला और हिन्दी में बहुत अधिक समानता मिलती है। यहाँ मेरा विवेच्य है—दोनों भाषाओं के सर्वनाम-रूप। इन दोनों भाषाओं के सर्वनाम-रूपों में बहुत अधिक समानता है। प्रायः दोनों भाषाओं में आज पाए जाने वाले सर्वनाम रूप एक ही मूल से विकसित हुए हैं; केवल क्षेत्रीय प्रभाव ने उनके उच्चारण में थोड़ी बहुत भिन्नता ला दी है; जो निम्न विवेचन से स्पष्ट है।

५.१ व्यक्तिवाचक सर्वनाम

बंगला और हिन्दी दोनों के व्यक्तिवाचक सर्वनाम प्रायः एक समान होते हैं। उनमें यदि कहीं थोड़ा सा अन्तर है तो स्थानीय प्राकृत प्रभाव के कारण ही। सर्वनाम रूप अपने

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

प्राचीन रूप से बहुत दूर नहीं गये हैं जबकि दोनों भाषाओं के संज्ञा रूप अपने प्राचीन रूप से बिलकुल भिन्न प्रतीत होते हैं।

प्रथम पुरुष और द्वितीय पुरुष में सर्वनाम के चार रूप मिलते हैं :

(१) अविकारी (कर्त्ता) एकवचन रूप (२) तिर्यक एकवचन रूप

(३) अविकारी (कर्त्ता) बहुवचन रूप (४) तिर्यक बहुवचन रूप

५.१–१ प्रथम पुरुष

	अविकारी (कर्त्ता) एकवचन	तिर्यक एकवचन	अविकारी (कर्त्ता) बहुवचन	तिर्यक बहुवचन
बंगला	मुइ, आमि	मो, आमा	आमरा, मोरा आम्हेमाने, आमि	आमा, मोदिग मोदरे, आमादिग आमादेर
हिन्दी	हौं, मैं	मुझ	हम	हमौं, हमें

बंगला का अविकारी एकवचन रूप 'म' से प्रारम्भ है जो संस्कृत और हिन्दी के तिर्यक रूप की विशिष्टता है। यही स्थिति उड़िया की भी है। लेकिन इधर बंगला में अविकारी के बहुवचन रूप 'आमि' का प्रयोग एकवचन के रूप में होने लगा है और इसके बहुवचन रूप के लिए नए रूप 'आमरा' तथा 'अम्हेमाने' का निर्माण हुआ है। साथ ही कर्त्ता कारक एकवचन के रूप 'मुई' के बहुवचन रूप 'मोरा' का भी प्रचलन मिलता है।

अविकारी एकवचन के 'हौं', 'हउं', 'हुं' अथवा 'हव', 'हौं' के लिए संस्कृत में /अहं/ का प्रयोग होता था। किन्तु प्राकृत और अपभ्रंश में इसके आदि /अ/ का लोप हो गया और रूप हुआ—/हमुं/ शौरसेनी में /मं/ के लिए /उ/ का प्रयोग हुआ और हमुं > हउं हुआ।

हिन्दी 'मैं' संस्कृत के 'मया' तथा अपभ्रंश के मया > मइं से विकसित हुआ

बंगाली /मुइ/ अपभ्रंश के /हमुं/ से प्रारम्भिक /ह/ के छोड़ देने के बाद विकसित हुआ। 'बीम्स' की कल्पना है कि संभवतः इस रूप में आने तक इसने एक स्थिति और पार की होगी जब यह /अमुइ/ या /अमु/ बोला जाता रहा होगा। पर बंगला में /मुइ/ का प्रयोग सिर्फ निम्नवर्गीय समाज में ही होता है। आधुनिक बंगला में /आमि/ /हउ,/ /मइ/ का बहुवचन रूप है जो मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा के /अम्हे/ से बना है। इसका विकास-क्रम निम्न रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है :

अस्मे > अम्हे > अम्हि, अम्मि > आम्हि > आमि

'बीम्स' के अनुसार भी बंगला का /आमि/ प्राकृत रूप /अम्हे/ का सरलीकरण है। तिर्यक एकवचन रूप /मो/ और /मुझ/ प्राचीन और मध्यकालीन हिन्दी में भी पाया जाता है। /मुझ/ प्राकृत के सम्बन्ध कारक /मज्झ/ से विकसित हुआ और /मों/ प्राकृत के संबंध कारक /मह/ से विकसित हुआ।

आधुनिक बंगला में बहुवचन बनाने के लिए /–रा/ और /–दिग, –देरा/ जोड़ा जाता है इसके विपरीत प्राचीन बंगला में /–सकल/ और /–सब/ जोड़कर बहुवचन बनाया जाता था।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

५.१–२ द्वितीय पुरुष

द्वितीय पुरुष में प्रयुक्त होने वाले सभी बंगला तथा हिन्दी के सर्वनाम संस्कृत /त्वम्/ से विकसित हुए हैं जिनका विकासक्रम इस प्रकार है :

प्रा० भा० आ० भा०–त्वम् > म० भा० आ० तुम > अपभ्रंश तुंह > प्रा० बंगला तु > म० का० और आधुनिक बंगला–तुइ ।

डा० सुनीतिकुमार चटर्जी के अनुसार /तुइ/ का निर्माण प्राचीन बंगला के करण कारक, प्रथम पुरुष /मुइ/ के सादृश्य पर हुआ । बंगला का /तुइ/ अपभ्रंश के /तुझ/ का विकसित रूप है जबकि हिन्दी ने अपभ्रंश रूप को ही ग्रहण कर लिया ।

तिर्यक रूप प्रथम पुरुष के /मो/ और /मुझ/ के सादृश्य पर ही क्रमशः बंगला तथा हिन्दी के द्वितीय पुरुष के तिर्यक रूपों /तो/ और /तुझ/ का निर्माण हुआ ।

डा० सुनीतिकुमार चटर्जी के अनुसार /आमि/ के सादृश्य पर ही आधुनिक बंगला में द्वितीय पुरुष के /तुमि/ रूप का विकास हुआ और तिर्यक प्रथम पुरुष रूप /आमा/ के समानांतर ही /तोमा/ भी बना ।

द्वितीय पुरुष में मिलने वाले सर्वनाम निम्न प्रकार हैं :

	अविकारी (कर्त्ता) एक वचन	तिर्यक एक वचन	अविकारी (कर्त्ता) बहु वचन	तिर्यक बहु वचन
बंगला	तुइ, तुमि	तो, तोमा	तोरा, तोमरा +सब, सकल	तोदिग, तोदेर तोमादिग, तोमादेर
हिन्दी	तू, तुम	तुझ	तुम +लोग, सब	तुम +लोग, सब

५.१–३ तृतीय पुरुष

	अविकारी (कर्त्ता) एक वचन	तिर्यक एक वचन	अविकारी (कर्त्ता) बहु वचन	तिर्यक बहु वचन
बंगला	से, ता(हा) तिनि, तेहं तिहं	ताहा, ता ताना, तेना	ते(हा)रा (तहारा) –सब, सकल, से+सब ता(हा)दिग ताहादेर	तां(हा)रा +सब, सकल तां(हा)दिग तां(हा)देर
हिन्दी	वह		वे	

तृतीय पुरुष के लिए प्राचीन भारतीय आर्यभाषा में कर्त्ता कारक में /सा, सह/ था जो /ता/ से विकसित हुआ । मागधी प्राकृत में /से/ हो गया और मागधी अपभ्रंश में यह /सी/ के समान था जो असमी में /सि/ के रूप में सुरक्षित है । लेकिन बंगला, उड़िया, बिहारी भाषाओं में कर्त्ता कारक सर्वनाम /सि/ के बदले /से/ हो गया है । /-ए/ स्वर शायद दीर्घीकरण अथवा करण कारक /ते/ के प्रभाव के कारण हुआ है ।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

५.२ मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा की दूसरी स्थिति में पुल्लिग /से/ का प्रयोग नपुंसक के लिए भी होने लगा था। बंगाली में लिंगों में कोई भेद नहीं है इसलिए /से/ का प्रयोग पुलिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसक लिंग सभी के लिए होने लगा। वैसे नपुंसक लिंग के लिए /तो-हा/ रूप अधिक प्रचलित है।

५.३ तिर्यक एक वचन /ता(हा)/ सचमुच संबंध कारक /-अ-आहा/ है।

५.४ संज्ञा के समान ही, सर्वनाम में भी संबंध कारक एक विशेषण है जो कारक और लिंग को प्रभावित करता है। तिर्यक के समान ही इस तरह के जो अन्य सर्वनाम के रूप मिलते हैं वे निम्न हैं :

	प्रथम पुरुष		द्वितीय पुरुष	
	एक वचन	बहु वचन	एक वचन	बहु वचन
बंगला	मोर	आमार	तोर	तोमार
हिन्दी	मेरा	हमारा	तेरा	तुम्हारा

'बाप' ने 'मेरा' और 'तोरा' की व्युत्पत्ति क्रमशः संस्कृत 'मदीय' और 'त्वदीय' से मानी है और 'हंमारा' तथा 'तुम्हारा' की संस्कृत के 'अस्मदीय' और 'युष्मदीय' से। इसका विकास-क्रम इस प्रकार है द>ड>र।

५.४–१ निश्चयवाचक सर्वनाम

निश्चय वाचक सर्वनाम के दो रूप होते हैं—एक तो नजदीक का बोधक और दूसरा दूर का। नजदीक के लिए सभी भारतीय भाषाओं में /इ/ तथा दूर के लिए /अ/ अथवा /उ/ के विभिन्न रूप मिलते हैं।

५.४–२ नजदीक-बोधक निश्चय-वाचक सर्वनाम

	अविकारी (कर्त्ता) एक वचन	तिर्यक एक वचन	अविकारी (कर्त्ता) बहु वचन	तिर्यक बहु वचन
हिन्दी	इ, इह, ए, एह, यह	इस	ये	इन, इन्ह
बंगला	ए, इहा, एहां, इहं इनि	इहा, एपारा, ऐरा, इहारां, एसब, एगुला	ए, एमाने, एनां, इहां	एदिग, इहां, एदेर एहादिग, एहादेर एदेरा, ऐयादिग एतदिरे

५.४–३ दूर-बोधक निश्चयवाचक सर्वनाम

हिन्दी	उ, ओ, वह	उस	वे	उन, उन्ह
बंगला	ओ ओहा उनि, उहा उहा, ओहां	उहा ओ, ओहा ओना, उहा	ओ, ओरा उहारा, उनारा ओसब, ओ गुला	उहां, ओदिग ओदेर, उहादिगे ओनादेर, उहांदिग

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

५.४–४ सम्बन्ध-वाचक सर्वनाम

	अविकारी (कर्त्ता) एकवचन	तिर्यक एकवचन	अविकारी (कर्त्ता) बहुवचन	तिर्यक बहुवचन
हिन्दी	जो, जौन	जिस	जे	जिन
बंगला	जे	जाहा	जे	जहां

यह संस्कृत /य/ से, जो प्राकृत में /ज/ हो गया है, विकसित हुआ। तिर्यक रूप संस्कृत /यस्य/ से, जो प्राकृत /जस्स/ हुआ है, से बना है।

५.४–५ प्रश्नवाचक सर्वनाम

हिन्दी	कौन	किस	कौन	किन, किन्ह
बंगला	के	काहा	के	काहां

पुरानी हिन्दी में /को/–/किहि/ रूप है। इन सबका विकास संस्कृत /किम्/ से हुआ।

५.४–६ अनिश्चयवाचक सर्वनाम

हिन्दी	कोई	किसी	कोई	किन्हीं
बंगला	केह	काहा		

संस्कृत के /कोऽपि (को अपि)/ से जो प्राकृत में /कोवि/ हुआ, से विकसित हुआ। 'व' हट गया—/कोइ/ बचा। /कोइ/ की /ई/ बड़ी हो गई और रूप हुआ /कोई/।

बंगला में इसके बहुवचन रूप नहीं है और एक वचन रूप ही बहुवचन का कार्य करते हैं।

नपुंसक रूप ('कुछ' के लिए)

हिन्दी — कुछू, कुछ
बंगला — किछू
} इनका विकास संस्कृत /किंचित्/ से हुआ है।

५.४–७ आत्मवाचक सर्वनाम

हिन्दी — —आप
बंगला — आपनि
} ये संस्कृत के /आत्मा/ से विकसित हैं। प्राकृत में अप्पा, आपा अथवा अत्ता रूप मिलता है।

हिन्दी — अपना, अपनी, अपने, अपनो
बंगला — आपन, निजेर
} यह प्राकृत के संबंध वाचक /आपणो/ से विकसित हुआ है।

'कितना' के लिए हिन्दी में /कितना, कितनी,/ तथा बंगला में /कत, कतना/ मिलता है और हिन्दी /कैसा, कैसी/ के लिए बंगला में /किरुपे/ तथा /केमन/ मिलता है। हिन्दी /सब/ के लिए वगला में भी /सब/ ही मिलता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि बंगला और हिन्दी के सर्वनाम सिर्फ एक ही मूल से उत्पन्न ही नहीं हुए हैं अपितु इनके वर्त्तमान स्वरूप में भी अत्यधिक समानता है।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

कला और प्रतिनिधान

डॉ० भगवतीप्रसाद राय

यदि शुद्ध कला किसी प्रकार का शिल्प नहीं है तो वह प्रतिनिधि या वास्तविक या यथार्थ नहीं हो सकती। प्रतिनिधान शिल्पगत वस्तु है, एक विशिष्ट प्रकार का शिल्प ही है। इस व्याख्या का लक्ष्य यह सिद्ध करना है कि कला स्वयं प्रतिनिधि नहीं होती है और न प्रतिनिधि हो सकती है। परन्तु कला के प्रतिनिधान की धारणा सौंदर्यशास्त्र के इतिहास में इतनी महत्त्वपूर्ण मानी ली गई है कि इस विचार का अधिक आदर नहीं हो सकता। इसलिए कला के प्रतिनिधीय सिद्धान्त का विवेचन पृथक् रूप से किया जाएगा।

प्रतिनिधान और अनुकरण का भेद समझ लेना चाहिए। कोई कलाकृति तद्‌रूप किसी दूसरी कला कृति के सापेक्ष देखने पर मुख्यतः अनुकृत ज्ञात होती है और दूसरी कलाकृति कलात्मक गरिमा का प्रतिरूप लगती है। वह भी प्रकृति की किसी वस्तु के सापेक्ष देखने पर प्रतिनिधि ज्ञात होती है अर्थात् वह कलाकृति नहीं प्रतीत होती। अनुकरण एक शिल्प है इसलिए अनुकरण की सीमा तक वह तथाकथित कलाकृति होती है, भ्रमवश उसे कलाकृति कहा जाता है। आजकल इस बात पर जोर देने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि अधिकांश लोग शुद्ध अनुकरण की वृत्ति या अंतःप्रेरणा से रंगते, लिखते या गाते हैं और चित्रकार, लेखक या गायक के रूप में ख्याति अर्जित करते हैं, केवल इसलिए कि उन्होंने किसी ऐसे व्यक्ति की शैली का ठीक-ठीक अनुकरण किया है जो ख्यातिलब्ध है। परन्तु स्वयं कलाकार और उसके श्रोता या दर्शक दोनों जानते हैं कि इस प्रकार की कृति अनृत कर्म या कूटकर्म है। यहाँ उसे प्रमाणित करने का प्रयास करना समय का अपव्यय है। इसके विपरीत किसी स्थापना पर मनन करने से कुछ लाभ हो सकता है। कला के क्षेत्र में मौलिकता का तात्पर्य यह है कि वह पूर्वरचित किसी कृति के सदृश नहीं है। इसे आजकल कलात्मक प्रतिभा कहा जाता है। वास्तव में यह अयुक्त है। यदि किसी वर्तमान कलाकृति की भाँति जानबूझ कर कोई रचना करना मात्र शिल्प है तो उसी तरह जानबूझ कर उसके विरुद्ध कोई रचना करना भी मात्र शिल्प ही है। किसी संवेदना के कारण कोई वास्तविक कलाकृति मौलिक कही जाती है। परन्तु इस अर्थ में मौलिकता का तात्पर्य दूसरी कलाकृतियों से उसकी असमानता नहीं है। उस प्रकार की वस्तु की संज्ञा ही कलाकृति है इसलिए यह भी कलाकृति कही जाती है, कोई अन्य वस्तु नहीं।

प्रतिनिधि कला और शुद्ध कला

सभी कलाएँ प्रतिनिधि होती हैं, इस सिद्धान्त के स्थापन का श्रेय सामान्यतः प्लेटो और अरस्तू को दिया जाता है। इसी तरह का कोई सिद्धान्त पुनर्जागरण काल तथा सत्रहवीं शती के कलाशास्त्रियों का था। बाद में माना गया कि कुछ कलाएँ प्रतितिधि होती हैं, कुछ नहीं। आजकल स्वीकार्य दृष्टिकोण यह है कि कोई कला प्रतिनिधि नहीं होती है। अधिकांश कलाकारों और समीक्षकों की किसी-न-किसी तरह यही सम्मति है। शुद्ध

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

कला प्रतिनिधि नहीं हो सकती, इस विचार से यह नहीं अन्वित होता कि कला और प्रतिनिधान की संगति नहीं हो सकती। कला और शिल्प परस्पर अतिव्याप्त होते हैं। कोई भवन या कोई रचना जो प्रधानतः कला वस्तु या शिल्प है कलाकृति भी हो सकती है। परन्तु जो चीज उसे कलाकृति बनाती है वह उसे शिल्पवस्तु बनाने वाली चीज से भिन्न होती है। कोई प्रतिनिधान कलाकृति हो सकता है परन्तु जो वस्तु उसे प्रतिनिधि बनाती है वह एक है और जो कलाकृति बनाती है, वह दूसरी।

कोई प्रतिकृति प्रतिनिधि कृति होती है। उसका स्वामी उसमें अपनी पसन्द का निवेश चाहता है। वही चित्रकार का भी लक्ष्य होता है और यदि वह दक्ष चित्रकार है तो सफलतापूर्वक उस रुचि को चित्रित करता है। ऐसी रचना बहुत कठिन कार्य नहीं है। इस युक्ति के बल पर हम मान सकते हैं कि सभी महान चित्रकारों ने ऐसा किया होगा। पर यह हमारी मा यता ही हैं, उससे ऊपर कुछ नहीं। प्रतिकृति बनवाने के निमित्त बैठे व्यक्ति अब जीवित नहीं हैं इसलिए अब हम उनकी पसन्द की जाँच नहीं कर सकते। यदि प्रतिकृति की कोई विशेषता थी तो उसके ग्राहक की पसन्द। यदि ग्राहक जीवित नहीं है तो हम किसी सुन्दर प्रतिकृति या विरूप प्रतिकृति का भेद नहीं जान सकते। प्रतिकृति बनाने का आदेश करते समय ग्राहक अपनी पसन्द का निर्देश करता है, वह किसी कलाकृति की आकांक्षा नहीं व्यक्त करता। संभव है चित्रकार इस सौदे में ग्राहक की पसन्द के साथ-साथ कलाकृति का भी ध्यान रखे। विज्ञापनों को लीजिए। उनमें कलात्मक अभिप्रेरणा निहित होती है पर विकृति रूप में और किसी स्वार्थ की अधीनता में। कलाकार की दृष्टि से इसे ऊँचा लक्ष्य नहीं कहा जा सकता। प्रतिकृति चित्रक इसी कोटि का होता है। अपनी कलात्मक शक्ति को किसी निर्दिष्ट साध्य के अधीन बनाने से पहले, उसे कलाकार बनना होता है। जहाँ उसकी परवशता समाप्त होती है, वह अपने संपालक की पसन्द को तुष्ट कर देता है लेकिन ऐसा करने में वह अपने कलाकार का उत्सर्ग करता है। इसलिए कोई व्यापारिक प्रतिकृति, जैसा हम दीवालों के पोस्टरों में देखते हैं एक अर्थ में कलाकृति और दूसरे अर्थ में कलाकृति नहीं होती है। वह ऐसी कृति होती है जिसमें कलात्मक अनुप्रेरणा मूल रूप से वर्तमान रहती है पर किसी कलात्मक साध्य की अधीनता के कारण विकृत होती है। किसी प्रतिकृति को कलाकृति कहने का अर्थ उपर्युक्त से अधिक व्यापक है। हमारा तात्पर्य यह है कि कलाकार के प्रयास में एक ऊँचा भाव भी निहित होता है। वह किसी पसन्द की संरचना का उपयोग कलात्मक वस्तु के निर्माण के अवसर की भाँति करता है। इस तरह कला समभ्यास के लिए अवसर निकलता है।

इस बात से कोई अन्तर नहीं पड़ता कि कोई प्रतिकृति व्यक्तिनिष्ठ प्रतिनिधान है। अरस्तू ने नाट्य के प्रसंग में और सर जोशुआ रेनाल्ड ने चित्रकला के प्रसंग में कहा है कि सर्वनिष्ठ प्रतिनिधान जैसी चीज भी होती है। कोई ग्राहक किसी फूल अथवा प्राकृतिक दृश्य का चित्र इस कारण नहीं खरीदता है कि वह किसी पुष्प विशेष या दृश्य विशेष का प्रतिनिधि है बल्कि इसलिए कि उनमें से किसी का वह प्रतिनिधि है। चित्रकार ग्राहक के लिए निर्माण करते समय विशिष्ट प्रकार बनाता है। इसे अरस्तू सार्वत्रिक चित्रवस्तु कहते हैं। रस्किन ने सोचा कि सर्वनिष्ठ प्रतिनिधान से सुन्दर कलावस्तु का निर्माण नहीं

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

हो सकता। पर यह सत्य नहीं है, इसलिए नहीं कि वह प्रतिनिधान है और इसलिए भी नहीं कि वह सर्वनिष्ठ प्रतिनिधान है बल्कि इसलिए कि वास्तविक कलाकार के हाथों उसे शुद्ध कला की कोटि तक लाया जा सकता है। उन्नीसवी शती के विशेष ढंग के स्वच्छंदतावाद के प्रति उसने सर्वनिष्ठ प्रतिनिधान के विरुद्ध पक्षपात किया। वह कला को सर्वनिष्ठ रूप से निर्वासित कर रहा था ताकि बौद्धिकता से कला को मुक्त किया जा सके। क्योंकि यह माना गया कि बौद्धिक प्रभाव पड़ने से कला जड़ और असंवेदनशील होकर अकलात्मक हो जाएगी।

प्लेटो और अरस्तू

कलाशास्त्र के आधुनिक लेखक इस न्यायवाक्य का कर्ता प्लेटो को मानते हैं: अनुकरण बुरा है, सभी कलाएँ अनुकरण हैं, इसलिए सभी कलाएँ बुरी हैं। यहाँ अनुकरण का वही अर्थ है जो हमने ऊपर प्रतिनिधान शब्द का माना है। इसलिए प्लेटो अपने नगर से कला का निर्वासन करता है। कला पर प्लेटो का यह प्रहार एक गल्प है जो उन लोगों की विद्वता का मलिन प्रकाश विकीर्ण करता है जिन्होंने इस गल्प का अन्वेषण और आवर्तन किया। तथ्य यह है कि (१) सुकरात ने प्लेटो की रिपब्लिक में कविता को दो खण्डों में बाँटा (पहली) प्रतिनिधि और (दूसरी) अप्रतिनिधि। (२) वह प्रतिनिधि काव्य के कुछ प्रकारों को मनोरंजक मानता है परन्तु कई कारणों से उसे अवांछित समझता है। वह इस प्रकार की प्रतिनिधि कविता का निर्वासन केवल स्कूल की कक्षा से ही नहीं बल्कि पूरे नगर से चाहता है, (३) आगे वह अपनी वार्ता में अपने विभाजन से तुष्टि प्रकट करता है, (४) नए तर्कों के बल पर अपने प्रहार का पुनः प्रवर्तन करता है और इस बार उसका धावा समूचे प्रतिनिधि काव्य के क्षेत्र तक विस्तृत होता है। (५) वह सम्पूर्ण प्रतिनिधि काव्य का निर्वासन करता है पर कुछ विशेष प्रकार की कविता को ग्रहण करता है जो प्रतिनिधि नहीं है।

प्लेटो का अपने आदर्श नगर से कलाकार (या कवि) का निर्वासन विषयक गल्प "रिपब्लिक" को ठीक न समझने के कारण चल पड़ा। रिपब्लिक (३९८ ए) में वह कहता है, 'हमें उसकी पूजा किसी पवित्र, भव्य और प्रसन्न चित्त व्यक्ति की भाँति नहीं करनी चाहिए। हमें उससे कहना चाहिए कि उसकी भाँति हमारे नगर में कोई नहीं है और वैसा होने की किसी को अनुज्ञा भी नहीं है। हमें गंध-रस से उसे मुग्ध कर उसके सिर पर मुकुट रखकर अपने नगर से दूर भेज देना चाहिए। अपने कल्याण के लिए शुष्क और अल्प मनोरंजक कवि या कथाकार को नियोजित करना चाहिए जो हमारे लिए नेक पुरुष के आख्यान का प्रतिनिधि हो।' प्लेटो के मिथ्या भाष्यकर्ता कहते हैं कि उसके इस निर्वासन प्रस्ताव का शिकार कवि है। यदि वे वाक्य को अन्त तक पढ़ें तो देखेंगे कि उसका यह निर्वचन नहीं है। वह एक तरह का कवि हो सकता है। इस कवि का पूरा विश्लेषण करें तो ज्ञात होगा कि वह प्रतिनिधि कवि भी नहीं है, केवल मनोरंजक है जो उथली या असह्य चीजों का प्रतिनिधि है। इस तरह हम देखते हैं कि नगर में कुछ प्रकार के कवि ही नहीं बल्कि कुछ तरह के प्रतिनिधि कवि भी ग्रहीत हैं अर्थात् वे जो नेक पुरुष के आख्यान के प्रतिनिधि हैं।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

यहाँ प्लेटो का बचाव या उस पर अन्य सिद्धान्त आरोपित करने का प्रयास नहीं किया जा रहा है। लगता है कि वह प्रतिनिधि काव्य और मनोरंजक काव्य की पहचान करने में भ्रम दोष का शिकार हो गया। मनोरंजक कला केवल एक प्रकार की प्रतिनिधि कला है और दूसरे प्रकार की कला चमत्कारी होती है। उसने सुकरात के तरीकों को पर्याप्त शक्ति के साथ लागू नहीं किया। यदि वह ऐसा करता तो इस पचड़े से उबर जाता। वह कह सकता कि जब तक मैंने यह निश्चय नहीं किया कि स्वयं कविता क्या है, मैं प्रतिनिधि कविता की व्याख्या कैसे कर सकता हूँ? इसी मूल प्रश्न को न उठाने के कारण प्लेटो के तर्क व्यापक और गभीर रूप से गलत समझ लिए गए। आधुनिक पाठकों ने प्रतिनिधि और मनोरंजक काव्य पर प्लेटो के इस प्रहार को सम्पूर्ण काव्य पर प्रहार मान लिया। इसका कारण यह है कि उनका मस्तिष्क प्रतिनिधान को कला के समरूप मानने के सिद्धान्त से तुषारावृत था। इस सिद्धान्त को अपने मन में ग्रहण कर जब वे प्लेटो को पढ़ते हैं तो सम्पूर्ण अपवारण के होते उसी का आरोप सर्वत्र देखते हैं। जब तक कला-शास्त्रियों का मस्तिष्क इस सिद्धान्त से अभिभूत है, उनसे प्लेटो के ठीक कथन को समझने की आशा करना व्यर्थ है।

पाठक पूछ सकते हैं कि अरस्तू ने क्या कहा? क्या वह कला को मूलरूप से प्रतिनिधि नहीं मानता? उसने पोयटिक्स के प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर दिया है कि वह ऐसा नहीं मानता। वह प्लेटो के प्रतिनिधि और अप्रतिनिधि कला के चिरपरिचित भेद को स्वीकार करता है और मानता है कि कुछ प्रकार का संगीत प्रतिनिधि है पर सब नहीं। यह ठीक है कि वह प्लेटो का पूर्णतः अनुकरण नहीं करता और दोनों के बीच कहीं स्पष्ट रेखा खींचने के पक्ष में नहीं है। कविता को ही लीजिए। वह एक प्रकार के काव्य को प्रतिनिधि मानता है जिसे प्लेटो अप्रतिनिधि समझता था। महाकाव्य को अरस्तू पूर्णतया प्रनिनिधि मानता है जब कि प्लेटो उसका वर्गीकरण आंशिक प्रतिनिधि काव्य के रूप में करता है, लेकिन वह प्लेटो से इस बात पर सहमत है कि नाटक प्रतिनिधि काव्य है। संवेग को जगाना प्रतिनिधि काव्य का कार्य है। दुखान्त नाटकों के संवेग में करुणा और भय का मिश्रण होता है। वह इस बात पर भी प्लेटो से सहमत है कि किसी नाटकीय अभिनय द्वारा दर्शक के मन में उद्‌बुद्ध संवेग ऐसे होते हैं जो दैनिक कृत्यों के अनुपालन में उठे वैसे सवेगों को बाधित करते हैं।

प्लेटो की 'पोयटिक्स' किसी अर्थ में कविता की वकालत नहीं है। वह मनोरंजन के निमित्त रचित काव्य या प्रतिनिधि काव्य की प्रतिरक्षा है। शोकान्तकी दर्शक के मन में करुणा और भय उत्पन्न करती है। इस संवेग से गंभीर रूप से भावित मन व्यावहारिक जीवन के लिए अनुपयुक्त होता है। यहाँ तक प्लेटो और अरस्तू परस्पर सहमत हैं। आगे प्लेटो अपने निष्कर्ष पर पहुँचता है, इसलिए शोकान्तकी अपने दर्शक के दैनिक जीवन के लिए अपकारी है। अरस्तू इस विश्लेपण में एक पग आगे बढ़ता है और कहता है कि शोकान्तकी-जन्य संवेग दर्शक के मन को बोझिल बनाने के लिए अभिप्रेत नहीं होते। वे शोकान्तकी के अवलोकन की अनुभूति में गल जाते हैं। यह संवेगात्मक निर्मलता या रेचन शोकान्तकी के पश्चात् दर्शक के मन को करुणा और भय से भावित नहीं रखता बल्कि उसे उत्फुल्ल कर

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

देता है। इस प्रकार शोकान्तकी का अरस्तू-प्रभाव प्लेटो के प्रभाव के एकदम विपरीत है। अरस्तू की व्याख्या बिल्कुल ठीक और महत्वपूर्ण है। यद्यपि यह कला-सिद्धान्त के क्षेत्र में कोई बड़ा योगदान नहीं तथापि मनोरंजन सिद्धान्त के क्षेत्र में अंशदान अवश्य है। परन्तु क्या उसने मनोरंजक कला के संबंध में प्लेटों की मौलिक आपत्तियों का उत्तर दिया ? यह एक दूसरा प्रश्न है।

रिपब्लिक में मनोरंजक कला की व्याख्या एक घटना मात्र है। उसमें नाना प्रकार के विषयों का समावेश है, पर उसे हम विश्वकोष नहीं कह सकते। अनेक विषयक एक ही समस्या के चतुर्दिक केन्द्रित हैं। उसी समस्या पर प्रकाश डालने के लिए नाना प्रकार के विषयों का समावेश और विवेचन किया गया है। समस्या है यूनानी समाज का ह्रास, उसके लक्षण, कारण और संभव समाधान। उसके लक्षणों में एक है नवीन मनोरंजक कला द्वारा पुरानी चमत्कारी धार्मिक कला का दमन। प्लेटो की काव्य विवेचना वास्तविकता की जीवन्त भावना से अनुप्राणित है। वह पुरानी और नई कला के भेद को जानता है। उसका विश्लेषण करता है, पर यह विश्लेषण अधूरा है। वह सोचता है कि अस्तप्राय नई कला उत्तेजित और संवेगात्मक संसार की कला है। परन्तु वस्तुस्थिति इसके विपरीत है। वास्तव में वह कला संवेग निर्गत जगत की कला है, ऐसा ज़गत जिसके अधिवासी उसे एकरस और कालनिरपेक्ष समझते हैं। नई पीढ़ी के अनुभवों के आधार पर अरस्तू प्लेटो के इन तथ्यों का सुधार करता है परन्तु उनके महत्त्व की प्लेटो-भावना खो देता है। वह पाँचवी शती की महत्त्वपूर्ण और चौथी शती की अस्तप्राय स्थिति के भेद का अनुमान नहीं करता। यूनान की ह्रासकालीन स्थिति को देखते हुए प्लेटो अंधेरे को भविष्य-वक्ता की दृष्टि से देखता है और अपने उर्जस्वित मस्तिष्क की सारी शक्ति उसके प्रतिकार के लिए लगा देता है। नए हेलेन संसार के वासी अरस्तू को कोई निराशा नहीं दिखाई देती। दोनों के निर्वचन में यह बड़ा भारी भेद है।

प्रकृत और संवेगात्मक प्रतिनिधान

प्रतिनिधि कला की ठीक परिभाषा यह नहीं है कि कलावस्तु किसी मौलिक कृति का प्रतिरूप होती है। ऐसी स्थिति में हम उसे प्रकृत प्रतिनिधान कहेंगे। यदि कलावस्तु द्वारा उद्बुद्ध भावना मौलिक वस्तु की संवेग-भावना के अनुसार है तो हम उसे संवेगात्मक कलाकृति कहेंगे। जब हम कहते हैं कि कोई प्रतिकृति ग्राहक की भाँति है तब इसका अर्थ यह होता है कि दर्शक जब प्रतिकृति देखता है, उसे लगता है कि वह उपवेशक के सान्निध्य में है। प्रतिनिधि कलाकार का यही लक्ष्य होता है। वह जानता है कि किस प्रकार दर्शक को भावित करना चाहिए, यही उसका अभिलक्ष्य है। वह अपनी कलावस्तु का निर्माण इस प्रकार करता है कि वह अभीष्ट रूप में दर्शन को भावित करे। किसी सीमा तक यह कार्य वस्तु को प्रकृत रूप में रचकर किया जाता है। परन्तु उसके आगे का विधान प्रकृत रूप से कुशलता पूर्वक हटकर किया जाता है। यह निपुणता अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति के लिए साधन कल्पित करने की योजना है। ऐसी निपुणता दर्शक पर विशेष कलावस्तु का विशेष प्रभाव लक्ष्य कर इन्द्रियानुभव द्वारा अर्जित की जाती है। अनुभव द्वारा कलाकार अपने दर्शक पर काम्य प्रभाव की सृष्टि करने में सक्षम होता है।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

इसलिए प्रतिनिधि कलाकार की यह अज्ञता नहीं है कि उसकी रचना मौलिक कलाकृति की शुद्ध अनुकृति नहीं है। यदि उसने तद्‌रूप अंकन किया तो इस आधार पर कैमरा उसे तुच्छ बना देगा। जब कि वस्तुस्थिति इसके विपरीत है। प्रतिकृति चित्रक किसी प्रकृत पसन्द की सृष्टि नहीं करना चाहता। वह जानबूझ कर कुछ ऐसी चीज छोड़ देता है जिसे वह देखता है, कुछ का परिष्कार करता है और कुछ ऐसी चीज रच देता है जिसे वह ग्राहक में बिल्कुल नहीं देखता है। यह सब विधिसहित कुशलता पूर्वक करता है जिससे कुछ इस तरह की सृष्टि होती है जिसे ग्राहक मौलिक कहता है। व्यक्ति और वस्तु को हम जिस भावना से देखते है, हमारे उन सवेगों के अनुसार वे भिन्न दिखाई पड़ती हैं। हमारे लिए कोई संत्रासक वन्य पशु अपने सामान्य आकार से कद्दावर दिखाई देता है। उसके दाँत और पंजे विशेष रूप से आवर्धित प्रतीत होते हैं। यदि हम किसी पर्वत पर चढ़ने की कल्पना करते हैं तो उसका किनारा सपाट या उवड़-खाबड़ प्रतीत होता है। कोई व्यक्ति जिससे हम भयभीत हैं बड़ी और चुभती हुई आँखों वाला ज्ञात होता है। इन चीजों के फोटोग्राफ या प्रकृत चित्र उनके संवेगात्मक रूप से भिन्न होते हैं। कुशल कलाकार इनकी समानुपातिक अतिशयता को ध्यान में रखता है और संवेगात्मक रूप से यथार्थ रूप की सृष्टि करता है। यहाँ यथार्थ का तात्पर्य उस विशेष दर्शक का मानस चित्र है।

इस प्रकार कला का प्रतिनिधान प्रकृतवाद जैसा नहीं है। प्रकृतवाद प्रकृत प्रतिनिधान के भी समकक्ष नहीं है। वह वस्तु के सामान्य संसार के समरूप है जिसे हम सामान्य और स्वस्थ नेत्रों से देखते हैं और जिसे हम प्रकृति कहते हैं। मोटे तौर पर हम प्रतिनिधान की तीन कोटियाँ कर सकते हैं। पहली कोटि लगभग चयन रहित प्रतिनिधान की है जिनमें सम्यक् प्रकृत रूप का प्रयास होता है। दूसरी कोटि की कृतियों से स्वल्प संवेगात्मक प्रभाव उत्पन्न होता है। इसमें महत्त्वपूर्ण या लाक्षणिक गुणों का स्थूल चयन होता है। महत्वपूर्ण और लाक्षणिक विशेषण का अर्थ यह है कि वे संवेगात्मक अनुभूति को प्रेरित करने में स्वतः समर्थ होते हैं। इसे और स्पष्ट करने के लिए हम एक उदाहरण लें। कोई कलाकार किसी धार्मिक नृत्य का संवेगात्मक प्रभाव पुनः उत्पन्न करना चाहता है। आधुनिक पर्यटक किसी क्षण उसका फोटो खींच लेता है। परम्परावादी कलाकार एक-एक कर उसी क्रम से नर्तकों को बनाता चला जाता है। ऐसा करना जड़ता पूर्ण है क्योंकि नृत्य का संवेगात्मक प्रभाव किसी एक मुद्रा या भंगिमा में नियत नहीं होता, वह उसके पैटर्न पर आधृत होता है। कौशल इस बात में है कि नर्तकों का ध्यान बिल्कुल छोड़कर उस विशेष पैटर्न को अंकित किया जाए। ये पैटर्न ओजपूर्ण और अत्यन्त विलक्षण संवेगात्मक प्रभाव की सृष्टि करते हैं। इस कोटि में किसी मौलिक वस्तु का प्रतिनिधान करने वाली कलावस्तु प्रतीक कही जाती है। प्रतीक शब्द कुछ भ्रामक है। यह प्रतीक और अनुकृति या अनुलेख के आकार में भेद व्यक्त करता है जब कि उनमें भेद गुणात्मक होता है। इससे व्यंजित होता है कि प्रतीक का वरण किसी प्रकार की सहमति या संधि से प्रभावित होता है जिसमें कुछ लोग विशेष प्रयोजन के लिए उस वस्तु का प्रयोग करने को परस्पर सहमत होते हैं। प्रतीक शब्द से यही अर्थ ध्वनित होता है। वस्तुतः

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

इस प्रकार की कोई बात प्रतीक में नहीं होती। होता है वह केवल चुना हुआ प्रकृत प्रतिनिधान जो इन्द्रियानुभव के रूप में संवेगात्मक प्रतिनिधान के लिए प्रभावी साधन है।

कभी-कभी लोग कहते हैं कि वरण या चयन प्रत्येक कलाकार के कार्य का आवश्यक अंग है। यह बात ठीक नहीं है। शुद्ध कला के क्षेत्र में ऐसी कोई चीज नहीं होती है। कलाकार जो कुछ देखता है उसे लिखता है, जो अनुभव करता है उसे अभिव्यक्त करता है, अपनी अनुभूति का स्पष्ट प्रतिदर्श निर्मित करता है, कुछ छिपाता नहीं, कुछ बदलता नहीं। जब लोग चयन की बात करते हैं, तो समझना चाहिए कि वे शुद्ध कला के सिद्धान्त के विषय में चर्चा नहीं करते बल्कि दूसरी कोटि की प्रतिनिधि कला के सिद्धान्त के विषय में कहते हैं। उसे गलती से शुद्ध कला के अर्थ में समझ लिया जाता है। तीसरी कोटि प्रकृत प्रतिनिधान का बिल्कुल तिरस्कार कर देती है, पर होती है प्रतिनिधि कृति ही, क्योंकि उसका लक्ष्य अर्ध उन्मीलित संवेगात्मक प्रतिनिधान होता है।

कला और चमत्कार

प्रतिनिधान सदा किसी साध्य का साधन होता है। उसका साध्य होता है किसी संवेग की पुनः सृष्टि। चूँकि संवेग की सृष्टि किसी व्यावहारिक मूल्य या स्वतः संवेग के लिए होती है, इसलिए उसे चमत्कार या मनोरंजक कहा जाता है। चमत्कार शब्द का बिल्कुल निश्चित महत्व या अर्थ नहीं है। ग्राम्य समाज में प्रचलित कुछ प्रयोगों को व्यक्त करने के लिए इसका प्रयोग होता है। अर्ध शिष्ट और अर्ध शिक्षित समाज में भी यत्र-तत्र इसका प्रयोग होता है। परन्तु किसी निश्चित धारणा के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता। यहाँ चमत्कार या जादू का वह अर्थ नहीं लिया गया है जिसमें किसी इच्छा की पूर्ति के लिए कार्य-कारण असंगत मान्यताओं का प्रयोग किया जाता है, जैसे फसल के अवसर पर इस निमित्त उत्सव मनाना कि उसमें जितनी अधिक उछल-कूद होगी फसल उतनी ही ऊँची या समृद्ध होगी, या ध्यान करते ही कोई वस्तु प्रकट हो जाएगी। जादुई चिराग के अनेक गल्प प्रचलित हैं। यहाँ चमत्कार का विश्लेषण कला की दृष्टि से किया जाएगा। जादूगर को हम वैज्ञानिक नहीं कह सकते। यदि उसे घटिया वैज्ञानिक कहें तो हम उसके लक्षणों के लिए अपशब्द की योजना करेंगे जो उसे वैज्ञानिक से भिन्न करते हैं। चमत्कार और कला के बीच समताएँ दृढ़ और घनिष्ट हैं। चमत्कारी अभ्यासों में प्रायः नाच, गान, चित्रण और प्रतिरूपण जैसी कलात्मक क्रियाएँ होती हैं इसलिए चमत्कार और कला के मूल तत्त्व समान हैं। इसके अतिरिक्त इन तत्त्वों का एक कार्य और है जो दो प्रकार से मनोरंजन कृत्यों के सदृश हैं। ये किसी पूर्व कल्पित साध्य के साधन हैं, इसलिए शुद्ध कला नहीं है बल्कि शिल्प है? यह साध्य संवेगों का उद्बोधन है।

चमत्कार किसी पूर्वकल्पित साध्य का साधन होता है, यह कथन बहुत स्पष्ट है और यह भी स्पष्ट है कि इसमें जिस साधन का नियोजन होता है वह कुछ कलात्मक होता है। परन्तु चूँकि चमत्कार किसी साध्य का साधन होता है इसलिए उसे शुद्ध कला नहीं कहा जा सकता। उसे अर्ध कलात्मक कहना ठीक होगा। चमत्कार का साध्य सर्वदा और पूर्णतः संवेगों का उद्बोधन होता है। यह कथन कुछ अस्पष्ट है। परन्तु यह मानना

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

होगा कि कभी-कभी और अंशतः उसका साध्य होता है। जैसे मध्यकालीन भारत में कुछ जातियों में लड़ाई-झगड़े के पूर्व आल्हा गाकर युद्धप्रेरक संवेगों को उद्‌वुद्ध किया जाता थ । उत्साह के संवेग को जगाने के कारण आल्हा अव भी वहुत लोकप्रिय गान है।

मनोरंजन से भिन्न रीति से चमत्कार संवेगों को जगाता है। चामत्कारिक कृत्यों द्वारा उद्‌वुद्ध संवेग उन कृत्यों से नहीं संपादित होते। किसी चमत्कार से संबद्ध जन के दैनिक जीवन के लिए यह बड़ी बात है कि वैसा नहीं होता। चामत्कारिक कृत्य का संयोजन इस प्रकार होता है कि ऐसा न हो। जो होता है वह उसका विपर्यय है: वास्तविक जीवन में ये संवेग प्रभावी अधिकरणों के रूप में प्रक्षेपित, संघनित और समेकित होते हैं। यह प्रक्रिया रेचन प्रक्रिया से बिलकुल उल्टी होती है। रेचन प्रक्रिया में संवेगों का विधान इस तरह होता है कि वे दैनिक जीवन में बाधा नहीं पहुँचाते, चमत्कार दैनिक जीवन में धारित और निर्दिष्ट होता है। चमत्कारों द्वारा केवल संवेगात्मक प्रभावों की सृष्टि होती है। इनका संपादन आंशिक रूप से नट और आंशिक रूप से दर्शक के ऊपर अभिनय द्वारा अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव डालता है। यदि चतुराई से इनका संपादन न हो तो केवल एक बार इनका प्रभाव होता है। सारे चामत्कारिक कृत्यों का उद्देश्य अभिकर्ता में जीवनोपयोगी संवेगों का जनन है। उसका गौण कृत्य अन्य लोगों, दोस्तों या दुश्मनों में उपयोगी या अनुपयोगी संवेगों का जनन है।

चमत्कारों द्वारा मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालने का प्रयास होता है। उस पर विश्वास करने वाला व्यक्ति सोचता है कि उपयुक्त नृत्यों के बिना युद्ध शुरू कर देने के कारण हार होती है या उन चमत्कारों को पूरा किये बिना जंगल में पेड़ काट पाना कठिन होता है। पर इस विश्वास का अर्थ यह नहीं है कि चमत्कार की शक्ति से दुश्मन हारता है या पेड़ गिरता है और उसमें श्रम का विशेष महत्त्व नहीं होता। चमत्कार का प्रयोग मनोबल उठाने के लिए होता है। जहाँ चमत्कार का प्रयोजन हमारे साहस को अपने दुश्मन पर आक्रमण के बिन्दु तक कसना होता है, वहाँ संभव है दुश्मन का दिल चमत्कार से दहल जाए। ग्रामीण लोगों का विश्वास होता है कि चमत्कार से वे बातें हो सकती हैं जिन्हें सभ्य लोग असंभव समझते हैं जैसे पानी वरसाना या भूकम्प रोकना। निकम्मा कृषक अपनी खेती चौपट हो जाने को मौसम की प्रतिकूलता कहता है, वह अपनी अव्यवस्था पर ध्यान नहीं देता। पर यदि चामत्कारिक प्रयोगों से उसकी काहिली दूर हो जाए तो उसके पास मौसम पर दोष आरोपण के लिए कुछ नहीं होगा। विचारणीय बात यह है कि क्या चमत्कारों का उद्देश्य प्राकृतिक आपदाओं का प्रतिकार है या मनुष्य में निर्भयता और आशापूर्वक उनका सामना करने की इच्छा की संवेग-दशा का उद्‌बोधन है। यदि पहली स्थिति सत्य है तो वह चमत्कार का ढोंग है और यदि दूसरी स्थिति सत्य है तो वह चमत्कार का वास्तविक फल है। चमत्कार इस संवेग-प्रभाव को कैसे उत्पन्न करता है इसका समाधान सरल है। यह प्रतिनिधान द्वारा किया जाता है। एक काल्पनिक परिस्थिति उत्पन्न की जाती है जो वास्तविक परिस्थिति का प्रतिनिधान होती है जिस पर संवेग अंतरित करना होता है। कृत्य के चामत्कारिक प्रभाव के लिए आवश्यक है कि अभिकर्त्ता उक्त संबंध के विषय में

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

सजग हो और उसे मालूम हो कि युद्ध-नृत्य या कृषि उत्सव के लिए वह क्या कर रहा है। उसे उत्सव गान में बता देना चाहिए कि इस क्रिया द्वारा त्रुटि असंभव है।

चमत्कार प्रतिनिधान होता है। उससे उत्पन्न संवेग व्यावहारिक जीवन में उपयोग के कारण मूल्यवान होते हैं। चामत्कारिक क्रिया डायनेमो की भाँति है जो वास्तविक जीवन के तंत्र को संवेगीय धारा प्रदान करती है। इसलिए हर तरह के जीवन के लिए चमत्कार जरूरी है। यह प्रत्येक स्वस्थ समाज में पाया जाता है। जो समाज यह सोचता है कि अब चमत्कार का युग समाप्त हो गया उसकी दृष्टि भ्रामक है या यह मृतप्राय समाज का लक्षण है जो अपने पोषण के लिए हितकारी तत्त्व में अरुचि व्यक्त करता है।

चामत्कारिक कला

चामत्कारिक कला प्रतिनिधि होती है। इसलिए संवेगों को जगा देती है। इन संवेगो का जीवन के लिए निश्चित प्रयोजन होता है। यदि रसात्मक मानक से इस कला को मापा जाय तो वह अच्छी या खराब हो सकती है। परन्तु इस अच्छाई या दोष का संबंध उसके अपने कार्य से नहीं होता है। आज प्राचीनतम भित्ति चित्रों को उनकी चामत्कारिक क्रिया के आधार पर नहीं समझा जा सकता। जिस समाज में चामत्कारिक कला रस-बोध का उत्कर्ष मानी जाती है उसमें रसात्मक प्रकर्ष के लिए अच्छा कलात्मक विनियोग आवश्यक होता है। इस कला का दोहरा अभिप्राय होता है। जहाँ दोनों अभिप्राय साथ-साथ होते हैं वहाँ कला ऊँचा आसन ग्रहण कर लेती है।

मध्ययुगीन और आधुनिक कला में अन्तर यह है कि मध्यकालीन कला चामत्कारिक थी। काव्य में दो धाराएँ प्रबल होती हैं—सामान्य जन का स्थानीय गान जिसे हम लोक गीत कहते हैं। लोकगीत में नाच और गान, कथा और नाचारी होते हैं। ये अपने उत्स और अभिप्राय में चामत्कारिक होते हैं। यह कृषकों की चामत्कारिक कला है। दूसरी कला सभ्य जन की होती है। इससे हमारा निर्देश उपदेश, ऋचा, संगीत, भरत नाटयम् और वैठक की सजावट आदि हैं। मंत्रों और उत्सवों के साथ धार्मिक कला की व्याख्या की आवश्यकता नहीं है। उसका कार्य किसी संवेग को जगाना होता है। उसे चामत्कारिक कहने से उसका धार्मिक मूल्य कम नहीं होता है। चमत्कार और धर्म एक वस्तु नहीं है। चमत्कार उन संवेगों को जगाता है जो दैनिक जीवन-कृत्यों के लिए आवश्यक होते हैं। धर्म मत या पंथ है, संसार के विषय में विश्वास-पद्धति है। यह मूल्यों का परिणाम या आचार की पद्धति है। पर प्रत्येक धर्म का अपना चमत्कार होता है जिसे हम धर्माचार कहते हैं। वह उसके चमत्कारों की साधना होती है।

क्रीड़ाएँ और सामाजिक कृत्य भी धार्मिक प्रथा के अंतर्गत ले लिए जाते हैं। क्रीड़ाओं में शारीरिक शिक्षण के लक्षण होते हैं। क्रीड़ाएँ सहयोग और इमानदारी से खेलने की प्रवृत्ति विकसित करती हैं। ये ऐसे संवेग उत्पन्न करती हैं जो विशेष प्रकार की परि-स्थितियों में उपयोगी होते हैं। वे सज्जन होने के लिए धर्म के चामत्कारिक अंग हैं। सामाजिक जीवन के उप्सवों में विवाह, श्राद्ध, सहभोज, नृत्य और ऋतु-उत्सव आते हैं। गंधर्व विवाह से भिन्न ब्राह्म विवाह संवेगात्मक अभिप्राय है जिसमें प्रेमियों की युग्मता

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

की अपेक्षा विवाहित व्यक्तियों की युग्मता वांछित होती है। श्राद्ध एक दूसरे तरह का संवेगात्मक संस्कार है। यह शोक का सार्वजनिक प्रदर्शन नहीं होता बल्कि उस जीवित व्यक्ति के संवेगात्मक संबंधों को विच्छिन्न कर मृत के रूप में उससे नए संबंध बनाए रखने की प्रथा है।

सहभोज नए संबंध की स्थापना या पुराने संबंध के निर्वाह के लिए दिया जाता है। इससे मैत्री की भावना ठोस और सुदृढ़ होती है। एक दूसरे के प्रति आकर्षण होता है या कम-से-कम यह भावना होती है कि आतिथेय बुरा आदमी नहीं है। नृत्य प्रायः चामत्कारिक उत्सव के प्रतिनिधि होते हैं। ये व्यावहारिक क्रियाओं का प्रतिनिधान, निर्वाह और उत्थान करते हैं। शुद्ध रसात्मक दृष्टि से धार्मिक प्रथाएँ मध्यम कोटि की होती हैं। उन सबमें कलात्मक अभिप्राय निहित होता है पर वह चमत्कार का दास और विकृत होता है। मंत्र गायन या आल्हा संगीतज्ञ के लिए आदरणीय नहीं होता। इनका लक्ष्य किसी विशेष संवेग का उद्‌वोधन होता है।

कला में विनोद

यदि कला-वस्तु की योजना किसी संवेग उद्‌वोधन के लिए की गई है और उस संवेग का उपयोग सामान्य जीवन के व्यापार के लिए वांछित नहीं है या अपने आप किसी मूल्य वस्तु के रूप में उसका उपभोग का नहीं है तो उस कला-वस्तु का कृत्य विनोद या मनोरंजन होता है। चमत्कार उपयोगी होता है क्योंकि उससे उद्‌बुद्ध संवेग जीवन के वास्तविक उपयोग के लिए होता है। विनोद का वैसा उपयोग नहीं होता। उसकी योजना केवल मनोरंजन के लिए होती है। गत्यात्मक रूप से प्रत्येक उपस्थित संवेग की दो अवस्थाएँ होती हैं। संवेग या उत्तेजना और उसका विसर्जन। संवेग विसर्जन संवेग उत्सर्जन की दूसरी क्रिया है जिसके द्वारा हम अपने को उस संवेग के तनाव से मुक्त करते हैं। विनोद द्वारा उत्पन्न संवेग मनोरंजन के समय विसर्जित हो जाते हैं। वास्तव में यही विनोद की विलक्षणता है। विनोद संवेगों के विसर्जन का ऐसा उपाय है जिससे वास्तविक जीवन की रुचियों से विरोध नहीं उत्पन्न होता। यहाँ विनोद और जीवन की वास्तविकता के भेदों को समझ लेना चाहिए। इसमें अनुभूति को दो भागों में बाँटा गया है। विनोद में संवेग साध्य होता है। वास्तविक जीवन में संवेग वह शक्ति होता है जिसके प्रवर्तन से उससे ऊँचा साध्य लब्ध होता है।

वास्तविक जीवन को प्रभावित किए बिना संवेगों के विसर्जन के लिए किसी विश्वास-परिस्थिति की सृष्टि की आवश्यकता होता है जिसमें उसका विसर्जन किया जा सके। यह परिस्थिति वास्तविक परिस्थिति की प्रतिनिधि या अनुकृति होती है। विश्वस्त परिस्थिति में विसर्जित संवेग तिरोहित हो जाते हैं और उनके वे परिणाम नहीं होते हैं जो वास्तविक जीवन की परिस्थिति में उत्पन्न होते हैं। जैसे यदि एक आदमी मुक्का दिखा कर घृणा व्यक्त करता है तो सामान्यतः उसे खतरनाक समझा जाएगा, विशेषकर उस व्यक्ति के लिए जिसको धमकाता है। वह अपने बचाव के उपाय करेगा। यदि यह मान लिया जाए कि उसे इस तरह का कुछ भी बचाव नहीं करना है और जीवन अपने सामान्य रूप में चलता जाएगा तो इस परिस्थिति में व्यक्त क्रोधको विश्वस्त परिस्थिति कहते हैं।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

इस प्रकार की परिस्थिति चमत्कार सृष्ट परिस्थिति के समान हो सकती है। पर वह अवास्तविक या विश्वस्त होने में भिन्न होती है। विश्वस्त परिस्थिति में उद्‌बुद्ध संवेग तिरोहित होने के लिए होते हैं। वे अनुकूल परिस्थिति में अतिव्याप्त नहीं होते। विश्वास-निर्माण के इस तत्त्व को भ्रम कहते हैं। यह विनोद कला का विलक्षण तत्व है जो चमत्कार या शुद्ध कला में नहीं पाया जाता। यदि चामत्कारिक पूजन में कोई भैंसा या पार्थिव को अपना दुश्मन कहता है तो उसमें कोई भ्रम नहीं होता, वह दोनों के अन्तर को अच्छी तरह समझता है।

प्राय: कला और क्रीड़ा की तुलना की जाती है। कभी-कभी उन्हें एक मान लिया जाता है पर उससे कला की प्रकृति का उद्‌घाटन नहीं होता। यदि क्रीड़ा का अर्थ आत्म-विनोद माना जाए तो शुद्ध कला और क्रीड़ा में अधिक साम्य नहीं होता। परन्तु क्रीड़ा और विनोद-कला में अधिक साम्य होता है। ये दोनों एक-सी हैं। काव्य और क्रीड़ा में भेद यह होता है कि जब बालक खेलते हैं, कोई यह नहीं जानता कि वे क्या कर रहे हैं पर जब कवि लिखता है, हम जानते हैं कि वह काव्य लिख रहा है। मुदित होने की अनुभूति का कोई अन्य प्रयोजन नहीं होता। वह स्वत: आमोद के लिए ही होती है। इसलिए चमत्कार उपयोगितावादी है और विनोद सुखवादी। कला का प्रयोजन केवल विनोद नहीं होता इसलिए वह क्रीड़ा और चमत्कार से भिन्न हो जाती है।

लाभ और प्रसन्नता

सामान्यत: अनुकरणशील कलाकार को सुरुचि सम्पन्न होना चाहिए अर्थात् उसे यह जानना चाहिए कि कब किन संवेगों को उत्तेजित करना चाहिए। यदि वह जादूगर की तरह काम नहीं करना चाहता और उन वासनाओं को नहीं जगाना चाहता जिनका विसर्जन वास्तविक जीवन के अतिरिक्त कहीं नहीं हो सकता, उसे उन संवेगों को उकसाना चाहिए जो विश्वास निर्माण परिस्थिति में तिरोहित हो सकें। जब कभी कोई सवेग उत्तेजित किया जाता है, उसके साथ यह खतरा बना रहता है कि वह कला की सीमित दीवाल को तोड़कर वास्तविक जीवन में प्रवाहित न हो जाए। विनोदी और प्रगल्भ का यह लक्ष्य होता है कि ऐसा दुघर्ट न हो। कलाकार को मध्य मार्ग अपनाना चाहिए। उसे वास्तविक रस उत्पन्न करने के लिए श्रोता के व्यावहारिक जीवन से संवद्ध संवेगों को उत्तेजित करना चाहिए, पर वह इतने घनिष्ट रूप से संबद्ध नहीं होना चाहिए कि दीवाल भंग का कोई खतरा उत्पन्न हो जाए। जैसे यदि किसी देश के नागरिकों को किसी अन्य देश के नागरिकों का वैर-भाव दिखाया जाय जिनमें वास्तव में कोई घृणा या वैर भाव नहीं है तो उससे उनका विनोद नहीं होगा। इसके अतिरिक्त एक दूसरे से युद्ध के लिए संनद्ध देश के नागरिकों के लिए वह विनोद कारक होगा।

विनोद कला के उदाहरण

विनोद के लिए इस प्रकार कल्पित संवेग अनेक होते हैं। इस प्रयोजन के लिए कामेच्छा बहुत अनुकूल है। आज कल न केवल चित्र कला और मूर्ति कला में नग्नता का प्रदर्शन होता है बल्कि काम के अभिप्राय पर आघृत कहानी और उपन्यास पाठक के

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

काम संवेगों को उत्तेजित करने के लिए लिखे होते हैं। पर इन संवेगों का उत्तेजन वास्तविक काम व्यापार के लिए नहीं होता। बल्कि विश्वास-निर्माण वस्तु के उपबंध के लिए होता है। इस प्रकार उनकी वास्तविक रुचि को विनोद की ओर मोड़ दिया जाता है। इस विश्वास निर्माण की कामवासना ने जीवन को कितना प्रभावित किया है, इसका अनुमान किसी पुस्तकालय की प्रेम कथाओं की बाढ़ से लगाया जा सकता है। सिनेमा में तो यह सिद्धान्त ही स्वीकार कर लिया गया है कि प्रेम कथा के बिना कोई सिनेमा सफल नहीं हो सकता। पत्रिकाओं और समाचार पत्रों के मुखपृष्ठ, समाचार, कथा, विज्ञापन इसी तरह के तत्त्वों से आकंठ मग्न रहते हैं। चित्रकारी और काव्य दोनों में सद्यः स्नाताओं के चित्रण होते हैं। सत्य यह है कि ये बातें उस समाज का उद्‌घाटन करती हैं जिसमें कामवासना इतनी पतित हो गई है कि वह काम देवी या कामदेव न होकर केवल गुड़िया मात्र रह गई हैं। ऐसा समाज बन गया है जिसके उत्थान की कामना न कर हम यही सोचते हैं कि अब दुनिया रहने लायक नहीं रह गई है।

भय के संवेग से भी रसास्वादन हो सकता है। अनेक मेधावी लेखक भयंकर साहसिक कहानियों के उपन्यास लिखने में लगे हैं। जासूसी कहानियाँ आज की जनता का अधिक विनोद करती है। ये कहानियाँ आंशिक रूप से पाठक के भय-संवेग पर निर्भर होती हैं और आंशिक रूप से अन्य संवेगों के मिश्रण पर। ऐसी कहानियों में दूसरा महत्त्व-पूर्ण आवेग शक्ति में रुचि है। तीसरा संवेग किसी पहेली को सुलझाने की बौद्धिक उत्तेजना है और चौथा साहस की इच्छा है। पर अब तक शायद ही कोई लेखक जासूसी कहानी को शुद्ध कला के स्तर तक उठाने में सफल हो पाया है।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

हिन्दी और नेपाली साहित्य के मेरु दण्ड : भारतेन्दु तथा मोतीराम भट्ट

डी० आर० तिमसिना

प्राध्यापक, नेपाली, का० हि० वि० वि०

चिन्तन मनन की प्रक्रिया पृथक होने पर भी साहित्य की मूलभूत एकता अपरिहार्य है। साहित्यकार सीमित तथा एकदेशीय नहीं होता। साहित्यकार की विशाल भावनाएँ अनन्त विश्व के समस्त पक्ष को समेट लेती हैं। अतएव एक देश का साहित्यकार दूसरे देश के साहित्यकार के चिन्तन प्रवाह से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में प्रेरित तथा प्रभावित होता है। हिन्दी और नेपाली के साहित्यकारों की भी यही स्थिति है। स्थान सामीप्य और लिपि, भाषा, धर्म, संस्कृति आदि के सामञ्जस्य के कारण भी कतिपय मूर्धन्य नेपाली साहित्यकारों ने हिन्दी साहित्यकारों से प्रभाव ग्रहण किया है और इस सत्प्रेरणा से सुन्दर मौलिक कार्य किया है। इनमें से कविवर मोती राम भट्ट का नाम उल्लेखनीय है जिन्होंने खड़ी बोली के प्रवर्त्तक वावू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की प्रेरणा से आधुनिक नेपाली गद्य साहित्य का प्रतिष्ठापन किया।

भारतेन्दु के जन्म काल में भारत का अधिकांश भाग अंग्रेज़ों ने ले लिया था। भारत का शासन-सूत्र विदेशियों के हाथ में था जो अनपेक्षित था। 'बादशाह दर्पण' की भूमिका में भारतेन्दु ने मुसलमान के राज्य की हैजा रोग से और अंग्रेजी राज्य की क्षय रोग से तुलना की है।

उस समय नेपाल स्वतंत्र अवश्य था किन्तु अंग्रेजों के साथ युद्ध करने से शिथिल हो गया था। मोतीराम के समय में नेपाल में राणाओं का रोब था। राणा लोग भी अंग्रेजों के प्रभाव में पड़ने के कारण परमुखापेक्षी थे। फिर भी नेपाल में विदेशियों का शासन नहीं था। इस वक्त भारत की परतन्त्रना में दुःख तथा नेपाल की स्वतन्त्रता में हर्षोल्लास व्यक्त करते हुए मोतोराम गरजते हैं—

"भारत वर्ष महाँ अधम् यवनले राज् गर्नं लाग्या जसै
सब् बल् तेज् नृपका तहीं गइ गया धन् धर्म खोस्या तसैं।
अत्याचार बढ़दै गया यवनका रिस्फेर्न लाग्या तहाँ
पाई आज अनाथ शान्त गउमा रक्षा त गर्छन् कहाँ ?"

अर्थात् भारत में जिस समय अधम यवन लोग राज करने लगे, उस समय राजाओं का सारा बल तथा तेज नष्ट हो गया, धन और धर्म लुटे गए। यवनों का अत्याचार बढ़ने लगा, प्रतिशोध की भावना बढ़ने लगी। आज अनाथ तथा शान्त गायों की रक्षा कहाँ कौन करते हैं ?

"अचल झण्डा फर्कोस् फरफर गरी कान्ति पुरिमा।
रिपूको मन् थर्कोस् थर थर गरी छीन घरिमा ॥
यवनले राज् गर्दा कति पतित हिन्दुस्थल भयो।
फगत् यो नेपाल को मुलुक बाचि कञ्चन रहिगयो ॥"

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

अर्थात् नेपाल की राजधानी कान्तिपुरी (काठमाण्डू) में अचल झण्डा निरन्तर फहराता रहे और रिपुओं का मन क्षण-क्षण में थर्राता रहे। यवन के राज करने से हिन्दुस्तान के कतिपय भागों का पतन हो गया, केवल नेपाल देश सुरक्षित रहा।

ये दोनों लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार अपने-अपने क्षेत्र के अग्रणी माने जाते हैं। भारतेन्दु खड़ी बोली के प्रवर्तक और आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रतिष्ठापक हैं तो मोतीराम आधुनिक नेपाली गद्य साहित्य के। अपने-अपने क्षेत्र में इन दोनों का योगदान अद्वितीय है। भारतेन्दु देशभक्त साहित्यकार, भक्त कवि, संगीतकार, नाटककार, पत्रकार, कथाकार. उपन्यासकार, इतिहासकार, जीवनीकार तथा रसिक लेखक आदि के रूप में प्रख्यात हैं तो मोतीराम नेपाली के सर्वप्रथम पत्रकार, नाटककार, निबन्धकार, जीवनीकार, समालोचक, पौराणिक तथा समाजसेवी राष्ट्रवादी भक्त कवि, रसिक कवि, संगीतकार आदि के रूप में अविस्मरणीय हैं।

विक्रम संवत् १९३८ के आसपास काशी में भारतेन्दु के साथ मोती राम का सम्पर्क हुआ। भारतेन्दु ने एक नयी साहित्यिक मण्डली का गठन किया था। मोतीराम ने भी इन्हीं से साहित्यिक प्रेरणा ग्रहणकर नेपाली साहित्यिक मण्डल का निर्माण किया। भारतेन्दु के द्वारा रामकृष्ण वर्मा के साथ मोतीराम का सम्पर्क स्थापित हुआ और वे 'भारत जीवन प्रेस' के मैनेजर हुए। वहाँ से 'गोर्खा भारत जीवन' नामक सर्वप्रथम नेपाली अखबार निकाला गया। भारतेन्दु के निम्नोद्धृत उद्‌गार का रहस्य मोतीराम ने अच्छी तरह समझा था।

"निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।
विनु निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को सूल।।"

इन दोनों साहित्यकारों ने हिन्दी और नेपाली साहित्य में नये युग का निर्माण किया किन्तु ये दोनों संसार के प्रकाश में अधिक समय तक टिक न सके। बहुमुखी प्रतिमा सम्पन्न इन दोनों साहित्यकारों ने अल्प समय में बहुत काम किया, हिन्दी और नेपाली साहित्य को अनेक रत्न दिए और युवावस्था में ही मरकर अमर हुए।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म भाद्रशुक्ल पञ्चमी संवत् १९०७ में ठटेरी गली, काशी में हुआ और मृत्यु ३५ वर्ष की अवस्था में माघ कृष्ण षष्ठी संवत् १९४१ में हुई। मोतीराम भट्ट का जन्म भाद्र कृष्ण अमावास्या संवत् १९२३ में भोंसी को टोल, काठमाण्डू में हुआ और मृत्यु ३० वर्ष की अवस्था में भाद्र कृष्ण अमावास्या संवत् १९५३ में हुई।

इन दोनों रसिक कवियों ने अपनी अपनी साहित्यिक मण्डली में समस्यापूर्ति की महत्त्वपूर्ण परम्परा प्रचलित की थी। इस परम्परा से बहुत से लोगों को प्रेरणा मिली, अनेक लोग कवि हुए। मोतीराम ने नेपाली में 'समस्याशतक' ग्रन्थ तैयार करने की योजना भी बनाई थी। उदाहरण के लिए इन दोनों के द्वारा प्रस्तुत की गई समस्या की एक एक पंक्ति नीचे दी जाती है।

"अँखियाँ दुखियाँ नहीं मानति हैं।"

(भारतेन्दु)

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

"ल्यौ ल्यौ औंठिम दिन्छु राख तिमिले मेरो निशाना भनी।"
(मोतीराम)

ये दोनों साहित्यसेवी बहुभाषाविद थे। अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त इन लोगों ने संस्कृत, अंग्रेजी, उर्दू, बंगला आदि भाषाओं का साधिकार ज्ञानोपार्जन किया था।

विक्रम संवत् १९२४ से १९४० तक भारतेन्दु का साहित्य सेवा काल है। इस १६ वर्ष की अवधि में हिन्दी की सर्वप्रथम साहित्यिक पत्रिका 'कविवचन सुधा' के सम्पादन के अलावा उनकी विविध रचनाओं का प्रकाशन हुआ। इनमें से विद्या सुन्दर आदि २० नाटक, ८ आख्यायिकाएँ और सुलोचना आदि उपन्यास, प्रेमसरोवर आदि २९ काव्य ग्रन्थ, ८ स्तोत्र ग्रन्थ, नारदसूत्र आदि ८ अनुवाद ग्रन्थ, बन्दरसभा आदि १८ परिहास ग्रन्थ, ७ धार्मिक ग्रन्थ, ८ माहात्म्य ग्रन्थ, काश्मीर कुसुम आदि २५ ऐतिहासिक ग्रन्थ, भारत वीरत्व आदि ११ राजभक्ति विषयक ग्रन्थ, ७० फुटकर लेख, उपाख्यान, यात्रा विषयक पुस्तक और ७५ सम्पादित सामग्री उपलब्ध हैं।

विक्रम संवत् १९३८ से अन्तिम अवस्था (वि० सं० १९५३, तक मोतीराम का साहित्य सेवाकाल माना जाता है। इस १५ वर्ष की अवधि में उपन्यास और लघुकथा को छोड़कर साहित्य की विविध विधाओं में मोतीराम ने कलम चलायी। उनके मौलिक तथा अनूदित प्रकाशित एवं अप्रकाशित ग्रन्थों का नामोल्लेख मात्र नीचे किया जाता है।

मनोद्वेग प्रवाह (मौलिक कविता), गजेन्द्र मोक्ष (भक्ति काव्य), गफाष्टक (संकलन), संगीत चन्द्रोदय (गजल संकलन), उषा चरित्र (पौराणिक कथा), पञ्चक प्रपञ्चक (जुआका वर्णन), पीक दूत (मौलिक दूत काव्य), स्वजाध्याय, सकुनौती, भानु भक्त को जीवन चरित्र, प्रिय दर्शिका तथा शकुन्तला (अनुदित नाटक), चाणक्य नीति दर्पण, उखानको बखान (कविता), काशीराज चन्द्रसेन, पद्मावती (नाटक), प्रह्लादभक्ति कथा (काव्य), कमल भ्रमर संवाद (मौलिक कविता), बालाजी वर्णन (फुटकर कविता), गुल सनोवर, हुस्न अफरोज आराम दिल (उर्दू नाटक), श्लोक संग्रह और अनुप्रास मञ्जरी आदि।

भारतेन्दु भौतिक सम्पत्ति में लम्पट नहीं थे। उनके दो पुत्र और एक पुत्री थी, फिर भी उन्होंने धन का मोह नहीं किया। वे कहा करते थे—

'इस धन ने मेरे पुरखों को खा डाला मैं इस धन को खाऊँगा।' मोतीराम के कोई सन्तान नहीं थी। उन्होंने साहित्य को धन और सन्तान माना। नेपाली जगत् में कविता को धरोहर के रूप में रखकर उन्होंने अन्तिम साँस ली।

"पर्छे यो कविता शरण् सकलका पालन् गरून् प्रीतिले।"

इन दोनों साहित्यिकों का धार्मिक दृष्टिकोण प्रायः समान था। दोनों ने एक ही प्रकार के धार्मिक तथा साहित्यिक ग्रन्थों का रूपान्तर किया। दोनों रसिक और राष्ट्रप्रेम की भावना से प्रेरित थे। दोनों की रचनाओं में तत्कालीन सामाजिक जीवन की छाप है। दोनों घनिष्ठ मित्र दो देशों के अनुकूल प्रेम सूत्र में बँधे हुए थे। दोनों ही अल्पायु थे फिर भी बहुत काम करके अमर हो गए।

———

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

"कर्मों के आध्यात्मिक स्तर"

डा० रमाकान्त त्रिपाठी

निदेशक, उच्चानुशीलन दर्शन केन्द्र, का० हि० वि० वि०

उद्देश्य और साधन की दृष्टि से कर्मों के कई स्तर होते हैं। उद्देश्य की दृष्टि से कर्म दो स्तर के होते हैं—सकाम और निष्काम। किन्तु साधन की दृष्टि से कर्म कई स्तर के होते हैं। सकाम कर्मों के दो प्रकार के मुख्य साधन हैं—एक भौतिक और दूसरा दैवी। इन दोनों के भी कई प्रकार होते हैं। उन्हीं का विचार करके यहाँ कर्मो के कई स्तर निश्चित किये जायेंगे। इन स्तरों को जानने से लाभ यह होगा कि हम यह सरलता से जान सकेंगे कि हमारे कौन से कर्म किस स्तर के हैं, क्योंकि हमारे सारे कर्म सर्वदा एक स्तर के नहीं होते।

I

सकाम, कर्मों के भौतिक स्तर वे हैं जिनमें हम उद्देश्य की पूर्ति के लिये भौतिक साधनों का उपयोग करते हैं। धन-प्राप्ति के लिए उद्योग करना, स्वास्थ्य लाभ के लिए दवा खाना, सन्तान-प्राप्ति के लिए एक-से-अनेक विवाह करना—ये सब भौतिक साधनों के उपयोग के उदाहरण हैं। इस स्तर पर कार्य-कारण के सिद्धान्त के आधार पर जिन साधनों का हम प्रत्यक्ष फल देखते हैं उनका उपयोग करते हैं। परन्तु इन भौतिक साधनों के अतिरिक्त दैवी साधनों का भी उपयोग प्रत्येक समाज में पाया जाता है। जब हम भौतिक कारणों के अतिरिक्त अन्य किसी शक्ति या कारण में विश्वास करने लग जाते हैं तो हम दैवी साधनों की ओर उन्मुख होते हैं। हमारी दृष्टि में सबसे पहले इन साधनों की ओर वेदों ने हमारा ध्यान आकर्षित किया। वास्तव में वेदों की यही हमको सबसे बड़ी देन है—स्थूल कारणों से सूक्ष्म कारणों की ओर हमारी दृष्टि ले जाना अर्थात् एक दैवी साधना की ओर हमको प्रेरित करना। स्थूल जगत् से दृष्टि हटाकर क्रमशः मंत्रों की ओर, फिर देवताओं की ओर, ईश्वर की ओर और अन्त में ब्रह्म की ओर ले जाना ही वेदों का परम उद्देश्य है।

II

सर्वप्रथम सकाम कर्मों का वह स्तर है जहाँ हम प्रत्यक्ष परिणाम उत्पन्न करने वाले प्रत्यक्ष साधनों को अपनाते हैं। यह स्तर सबसे निकृष्ट तब होता है जब हम इस विश्वास से कार्य करते हैं कि हमारा अभ्युदय केवल अनुचित मार्गों या पाप कर्मों से ही हो सकता है। ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो हृदय से विश्वास करते हैं कि चोरी, बेईमानी, असत्य भाषण, धोखेबाजी और ठगी से ही सफलता मिल सकती है। इस स्तर पर उचित-अनुचित साधन का विवेक नहीं रहता है, दृष्टि केवल सफलता पर रहती है। ऐसे व्यक्तियों को असुर कहना उपयुक्त होगा।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

III

कर्मों का दूसरा स्तर वह है जहाँ हम केवल अनुचित साधनों का ही उपयोग नहीं करते, बल्कि ईमानदारी और सत्य का भी महत्त्व समझते हैं और उसके अनुसार आचरण भी करते हैं। परन्तु इस स्तर पर नैतिकता का महत्त्व नैतिकता के लिये नहीं है, बल्कि इसलिये है कि हम यह विश्वास करते हैं कि नैतिकता व्यावहारिक सफलता के लिये आवश्यक है। जैसे कोई व्यापारी यह समझे कि व्यापार की दृष्टि से ग्राहकों को आकृष्ट करने के लिए तथा सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए ईमानदारी आवश्यक है। ऐसे लोग नैतिकता को साध्य नहीं, अपितु साधन समझते हैं। इनकी दृष्टि भी सफलता पर ही रहती है। इसी से ये लोग जहाँ आवश्यक समझते हैं वहाँ अनैतिक साधनों का भी उपयोग करने में नहीं हिचकते। ऐसे लोग पहले स्तर के लोगों की अपेक्षा श्रेष्ठतर अवश्य हैं, किन्तु वास्तविक अर्थ में इनको नैतिक नहीं कहा जा सकता। सामाजिक दृष्टि से ये लोग कम हानिकर हैं, फिर भी ये स्वार्थी तो होते ही हैं। ये लोग पाप-पुण्य दोनों करने वाले होते हैं।

IV

तीसरे स्तर के लोग वे हैं जिनके मन में यह दृढ़ निश्चय होता है कि पाप कर्म किसी भी स्थिति में करने योग्य नहीं है चाहे सफलता मिले या न मिले। अर्थात् पाप कर्मों का फल बुरा ही होता है और वे सर्वथा त्याज्य हैं। बल्कि ये लोग और भी आगे बढ़कर यह विश्वास करते हैं कि वास्तविक अभ्युदय पुण्य करने से ही होता है। पुण्य एक सूक्ष्म और अदृष्ट वस्तु है और पुण्य का फल तुरन्त मिलता हुआ नहीं दिखायी देता है। बल्कि यह भी दिखाई पड़ता है कि इस जीवन में पुण्य कर्म करने वाले दुःखी और पाप कर्म करने वाले सुखी हैं। फिर भी विवेकी लोग पाप-पुण्य में विश्वास रखते हैं और कहते हैं कि वर्तमान सफलता-असफलता तो पहले के पुण्य-पाप का परिणाम है। वर्तमान पुण्य-पाप का फल तो आगे चलकर सम्भवतः दूसरे जन्म में मिले। इस प्रकार ऐसे लोग अपने को श्रद्धा के बल से पाप-कर्म से बचाते हैं और केवल पुण्य-कर्म ही करने की चेष्टा करते हैं। स्पष्ट है कि इस स्तर के लोगों के मन में प्रत्यक्ष उपयोगिता का मापदण्ड नहीं, बल्कि श्रद्धा और विश्वास का बल काम करता है। इस स्तर से सूक्ष्म जगत् में विश्वास प्रारम्भ हो जाता है। यद्यपि इस स्तर के लोगों का भी ध्यान अभ्युदय पर ही होता है, फिर भी ये लोग पाप-कर्म और तात्कालिस सफलता के आकर्षण से विचलित नहीं होते।

V

सकाम करने वालों का एक स्तर वह है जहाँ हम भौतिक साधनों के अतिरिक्त शास्त्रीय या दैवी साधनों में विश्वास करने लग जाते हैं। जैसे यह विश्वास करना कि यज्ञ, जप या दान से सफलता मिलेगी। इस प्रकार के लोग अनिवार्य रूप से धर्मात्मा या नैतिक हों यह आवश्यक नहीं है, परन्तु इतना अवश्य है कि ये लोग एक दूसरे स्तर के कार्य-कारण सम्बन्ध में विश्वास करते हैं। यज्ञ करने से किस प्रकार पुत्र, धन या युद्ध में विजय प्राप्त होगी यह प्रत्यक्ष दिखाया नहीं जा सकता और न तो यह बताया जा सकता है कि मंत्र-जप से भौतिक जगत् पर किस प्रकार प्रभाव पड़ता है या दान से कैसे कष्ट का निवारण होता

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

है। इस स्तर के लोगों में तथा तीसरे स्तर के लोगों में समानता यह है कि दोनों एक प्रकार के सूक्ष्म कारणता में विश्वास करते हैं। किन्तु भेद यह है कि इस स्तर के लोग तात्कालिक परिणाम की आशा से यज्ञ-जप आदि करते-कराते हैं और नैतिक जीवन की ओर ध्यान कम देकर एक प्रकार के सूक्ष्म साधन द्वारा सफलता प्राप्त करना चाहते हैं। इसी से इस स्तर के लोग सूक्ष्म साधनों का उपयोग अनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये भी करते देखे गये हैं। कभी-कभी चोर और हत्यारे भी इस उद्देश्य से जप यज्ञ कराते देखे गये हैं कि उनको दण्ड न मिले। न्याय और अन्याय दोनों पक्ष वाले इन उपायों का प्रयोग करते देखे गये हैं। इसी से इस प्रकार के साधन को धर्म-अधर्म न कहकर एक सूक्ष्म साधन (Technique) कहा गया। पुराणों में कई एक ऐसी कथायें मिलती हैं जिनमें यह दिखाया गया है कि असुर भी इन साधनों का प्रयोग करते हैं। इस स्तर के लोगों की विशेषता यह नहीं है कि वे नैतिक या धार्मिक होते हैं, बल्कि यह है कि वे एक सूक्ष्म साधन में विश्वास करते हैं और सम्भव है कि यह विश्वास आगे चलकर ईश्वर में विश्वास के रूप में परिणत हो जाय।

VI

पंचम स्तर के लोग वे हैं जो देवी-देवता में विश्वास रखते हैं और जो किसी देवी-देवता की उपासना के द्वारा उनको प्रसन्न कर अपना कार्य-साधन करना चाहते हैं। ये लोग भी यज्ञ, जप-दान आदि करते हैं, परन्तु इनको एक स्वतन्त्र साधन के रूप में नहीं; किन्तु किसी विशेष देवी-देवता को प्रसन्न करने के लिये। इस स्तर के लोग भी चतुर्थ स्तर के लोगों के समान हैं, क्योंकि इनके सामने भी नैतिक जीवन का लक्ष्य प्रधान रूप से नहीं रहता है। ये भी अपने अहं की तुष्टि या स्वार्थ की पूर्ति ही चाहते हैं। परन्तु ये लोग एक सूक्ष्म साधन (technique) का प्रयोग नहीं करते, बल्कि एक सूक्ष्म शक्ति (देवी या देवता) में विश्वास करते हैं और उसे प्रसन्न करने की चेष्टा करते हैं। किसी को प्रसन्न करने की बात है—इसलिए इस साधन से व्यक्तित्त्व पर भी प्रभाव पड़ता है। नैतिकता भले न जाग्रत हो कम-से-कम भक्ति भावना तो जाग्रत होती ही है। इसी से इस साधन का प्रयोग असुर भी करते हैं और अनेक असुर देवी-देवताओं के अच्छे भक्त भी हुए हैं। किन्तु उनके जीवन में लक्ष्य निम्न कोटि का या अहं पोषक रहता है इसलिए उनको आदर नहीं मिलता है। इसीलिये देवोपासना और ईश्वरोपासना में भेद है। ईश्वरोपासक कभी भी अधार्मिक या अनैतिक नहीं हो सकता, किन्तु देवोपासक होते हैं; क्योंकि देवताओं की पूजा एक शक्ति-विशेष के रूप में और स्वार्थ-पूर्ति के लिए होती है। किन्तु ईश्वर की भक्ति तो स्वार्थों से विमुख होने पर ही हो सकती है। यह सही है कि ईश्वर-भक्त भी कई स्तर के होते हैं। फिर भी उनका प्रयत्न नैतिकता की ओर आत्मशुद्धि के लिए होता है और वे पाप-कर्म हो जाने पर पाश्चात्ताप करते हैं। किन्तु यह बात देवोपासकों में नहीं देखी जाती, क्योंकि वे वास्तव में देवताओं के उपयोगकर्त्ता होते हैं; वास्तविक भक्त नहीं। ऐसे लोग एक देवता को छोड़कर फिर दूसरे देवता के पास भी जाने वाले होते हैं। ऐसे लोग यह भी करते हैं कि एक कार्य के लिए एक देवता की और दूसरे कार्य के लिए दूसरे देवता की आराधना करें। ये लोग देवताओं के एक विशिष्ट गुण या शक्ति से आकर्षित होते हैं। जो ईश्वर के प्रति आकृष्ट होता है वह उसकी न्यायप्रियता, सर्वमङ्गलकारकता, करुणा आदि

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

सब गुणों को दृष्टि में रखता है। हम उसे ईश्वर भक्त कदापि नहीं कह सकते जो ईश्वर की आज्ञाओं का उल्लंघन करता हो। कभी-कभी ईश्वर के भक्त भी ईश्वर को एक विशिष्ट देवता के रूप में देखते हैं और कभी-कभी तो अपराधी और अपराध के शिकार दोनों ईश्वर की प्रार्थना करते हैं, दोनों भक्ति दिखाते हैं और रक्षा की आशा करते हैं; और यदि अपराधी के पक्ष वाली बात हो जाती है तो जो अपराधी का शिकार होता है वह ईश्वर को कोसने लगता है। यह सब ईश्वर भक्ति नहीं है। ईश्वर को अथवा किसी देवता को केवल अपना ही समझना अथवा अपने स्वार्थों का साधन समझना स्वार्थान्धता है। ईश्वर कृपा अवश्य करता है, किन्तु कृपा का अर्थ अन्याय या पक्षपात नहीं है। साधारणतः हम कृपा का अर्थ पक्षपात और अपनी दृष्टि में जो न्याय है उसे न्याय समझते हैं, अतः ईश्वर से हम अपने मन की बात करवाना चाहते हैं। परन्तु स्वार्थसिद्धि के लिए देवता या ईश्वर की भक्ति न तो भक्ति है और न नैतिकता। आर्त और अर्थार्थी भक्तों की बात निराली है। उनकी विशेषता यह है कि वे अपनी शक्ति या अहंकार (कर्तृत्व) में सर्वथा विश्वास खोकर ईश्वर की शरण जाते हैं—इसी से वे भक्त कहलाते हैं। यद्यपि वे भी पूर्ण भक्त नहीं हैं, क्योंकि सकाम हैं। परन्तु वे लोग जो बिना अहंकार खोये अहंकार की तुष्टि और पुष्टि के लिए उपासना करते हैं वे आर्त या अर्थार्थी नहीं कहे जा सकते और भक्त की श्रेणी में नहीं आते। इन लोगों को स्वार्थ-साधन का और कोई सरल उपाय मिल जाय तो ये उपासना का भी त्याग कर सकते हैं।

VII

कर्मों का वह स्तर जो पूर्ण रूप से आध्यात्मिक है वह है "निष्काम कर्म" अर्थात् केवल कर्तव्य-दृष्टि से कर्त्तव्य, फल की आशा से नहीं; बल्कि धर्म-दृष्टि से कर्त्तव्य करना। कुछ लोग शंका करते हैं कि बिना फल की इच्छा के कर्म कैसे होगा या प्रेरणा कहाँ से मिलेगी? परन्तु वे भूल जाते हैं कि जब संसार-सुख भोगने की प्रवृत्ति नहीं रहती तो कर्म केवल धर्म-भावना से किये जा सकते हैं। जब तक कर्म-फल में आसक्ति रहती है तब तक धर्म-भावना पूर्ण रूप से काम नहीं करती। धर्मभावना से विचलित हम फल की आसक्ति के ही कारण होते हैं। इसी से गीता में भगवान् ने कहा है कि "श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः" और "सदोषमपि न त्यजेत्"। स्वधर्म विगुण अथवा सदोष कैसे हो सकता है? वास्तव में स्वधर्म न तो विगुण हो सकता है न सदोष। हाँ, स्वधर्म विगुण और सदोष दिखाई पड़ सकता है। स्वधर्म विगुण और सदोष तब दिखाई पड़ता है जब हम लाभ-हानि, प्रतिष्ठा-अप्रतिष्ठा, जय-विजय, सुख-दुःख और कठिनता-सरलता की दृष्टि से उसे देखते हैं। स्वधर्म का पालन तभी हो सकता है जब हम इन दृष्टियों को त्याग दें, अन्यथा स्वधर्म एक साधन मात्र हो जायगा; साध्य नहीं रहेगा। और, जब कर्म स्वधर्म की दृष्टि से किये जाते हैं तभी वे बन्धन कारक नहीं होते। इसी से निष्काम कर्म आध्यात्मिक साधना है। फल की दृष्टि से कर्म तो एक व्यापार है, साधना नहीं। निष्काम कर्म की भावना उत्पन्न होने पर सभी कर्म निष्काम भाव से किये जा सकते हैं और पूरा जीवन निष्काम हो जाता है। आध्यात्मिक साधना की यही विशेषता है कि उससे सारा जीवन ओत-प्रोत हो जाता है और सांसारिक जीवन एवं आध्यात्मिक जीवन में भेद नहीं रह जाता है।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

निष्काम कर्म का एक दूसरा प्रकार या स्तर भी है। यह वह स्तर है जहाँ हम कर्मफल का त्याग नहीं करते, बल्कि कर्मफल को ईश्वरार्पण कर देते हैं और कहते हैं: "त्वदीयं वस्तु गोविन्द, तुभ्यमेव समर्पये"। अनासक्ति तो यहाँ भी आवश्यक है ही. परन्तु यहां अनासक्ति के साथ-साथ भक्ति की भावना भी रहती है। यह कर्मों द्वारा या कर्मफल द्वारा ईश्वरो पासना है। साधारण उपासना और इस उपासना में भेद यह है कि साधारणतया हम ईश्वर को अच्छी से अच्छी वस्तुयें (उत्तम फल, उत्तम फूल, उत्तम वस्त्र, उत्तम प्रसाद आदि) अर्पण करने की कोशिश करते हैं। परन्तु ईश्वरार्पण-कर्म की साधना में हम अपने अच्छे-बुरे सभी कर्म भगवान् को समर्पित कर देते हैं। ऐसा एक भक्त ही कर सकता है। जो लोग अच्छे-बुरे की भावना से परेशान रहते हैं वे यह सोचेंगे कि बुरे कर्म भला ईश्वर को कैसे अर्पित किये जाँय ? किन्तु भक्त तो अपना सब कुछ भगवान् के आगे रख देता है। हाँ, यह बात अवश्य है कि चूंकि सभी कुछ भगवान् को अर्पित करना है, इसलिए भक्त भरसक कोशिश करेगा कि उससे बुरे कर्म न हों; किन्तु यदि हो ही जाय तो वह उसको भी भगवान् के आगे रख देगा। इसी से भगवान् की भी उस पर विशेष कृपा होती है। तुलसी दास ने कहा है; "की तोहिं लागैं राम प्रिय की तुम प्रभु प्रिय होय।" नैतिक आचरण वाला भक्त अपने आचरण द्वारा प्रभुप्रिय होना चाहता है, किन्तु सर्व समर्पण करने वाले भक्त को तो राम प्रिय हैं। अतः राम को सब कुछ समर्पित कर देना ही उसके लिए एकमात्र मार्ग है। ऐसे भक्तों की दृष्टि अपने पर नहीं होती है कि हम अच्छे हैं या बुरे, बल्कि भगवान् पर होती है जो उसे अत्यन्त प्रिय लगते हैं। तुलसी दास ने कहा है कि भगवान् राम जहाँ-जहाँ जाँय, वहाँ-वहाँ लोग उनको देखकर ही मुग्ध हो जाँय। इसका अर्थ यह है कि लोग राम के गुणों को जानकर या उनकी महानता को जानकर नहीं मुग्ध होते थे, बल्कि उनको देखने मात्र से मुग्ध हो जाते थे। यही बात भगवान् कृष्ण के विषय में भी सत्य है। जब हम किसी के गुण या महानता से मुग्ध हो जाते हैं, तो हमारी मुग्धता के पीछे किसी-न-किसी प्रकार का लोभ (स्वार्थ) होता है। मगर जब हम बिना किसी गुण के जाने केवल सौन्दर्य पर मुग्ध होते हैं तो उसमें लोभ की कोई भावना नहीं रहती है। इसी से बालक राम की भक्ति धनुषधारी राम की भक्ति से श्रेष्ठ है। धनुषधारी राम के भक्त को राम के धनुष से कुछ आशा रहती है, परन्तु बालक राम का भक्त तो सर्वथा निष्काम होता है। यदि किसी सच्चे भक्त से पूछा जाय कि उसे राम-कृष्ण प्रिय क्यों हैं, तो वह यह कदापि न कहेगा कि वे प्रिय इसलिये हैं कि वे शक्तिशाली हैं या ज्ञानी हैं या दयालु हैं।—बल्कि यही कहेगा कि राम उसे अच्छे लगते हैं और इसी से वह उनका भक्त है। हमारी आत्मा हमको किसी कारण से प्रिय नहीं होती, बल्कि स्वभाव से। यही बात ईश्वर के सच्चे प्रेम में भी होती है।

VIII

निष्काम कर्म में फलासक्ति भले न हो कर्तृत्वभाव तो होता ही है। अतः उससे भी ऊँचा एक स्तर है जहाँ कर्तृत्वभाव भी नहीं होता है। अर्थात् भक्त का भाव यह होता है कि सब कुछ भगवान ही कर रहे है और वह तो एक निमित्त मात्र है। इस भाव की प्राप्ति अत्यन्त कठिन है। यह विश्वास होना कि भगवान् हमसे अच्छे और बुरे दोनों प्रकार

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

के कार्य करा रहे हैं वास्तव में अच्छे-बुरे के द्वैत से ऊपर उठ जाना है। साधारणतया यह विश्वास करना कि संसार के अथवा हमारे जो बुरे कर्म हैं वे भी ईश्वर ही करते हैं—बहुत ही कठिन है। यह कठिनाई हमारी फलासक्ति के कारण होती है। हम सब को अच्छे फलों में आसक्ति होती है और बुरे फलों के लिये हेय भावना। इसलिये हमारी दृष्टि में जो बुरा है उसे हम ईश्वर के ऊपर नहीं थोपना चाहते। परन्तु यदि भगवान् मंगलमय है तो उससे कुछ भी बुरा हो ही नहीं सकता। इसी से भक्त के हृदय में किसी प्रकार का द्वन्द्व नहीं हो सकता। उसे यह मानने में कठिनाई नहीं होती कि ईश्वर सब कुछ करता है। हम लोग अच्छे बुरे का निर्णय एक विशेष मापदण्ड या विशेष दृष्टिकोण से करते हैं। हम सारे संसार का दृष्टिकोण नहीं अपना सकते। परन्तु ईश्वर का दृष्टिकोण पूर्ण संसार का होता है। अतः सब कुछ ईश्वर करता है और सबके मंगल के लिये करता है : यह स्वीकार करना अपने मापदण्ड का या अपने तथाकथित ज्ञान का त्याग करना है। कर्मों के फल का त्यागना सम्भवतः उतना कठिन नहीं है जितना अपने वर्तमान ज्ञान का; क्योंकि कर्मफल को तो हम क्षणिक और दुःखकारक-रूप में देख सकते हैं, परन्तु अपने ज्ञान का भरोसा हमारे अहं का सबसे प्रबल गढ़ है। उसके ढह जाने पर कहीं भी अहं को ठहरने का स्थान नहीं मिलता। अतः फलासक्ति के त्याग के बाद कर्तृत्वाभिमान का भी त्याग हो जाने से हम अध्यात्मिकता के सबसे उँचे स्तर पर पहुँच जाते हैं। कर्तृत्वभोक्तृत्वशून्य हमारा स्वरूप शुद्ध आत्मा का हो जाता है।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

'पूर्वी और पश्चिमी दर्शन में ज्ञानमीमांसा'

तपस्या पाण्डेय, शोध छात्रा,
दर्शन विभाग, का० हि० वि० वि०

ज्ञानमीमांसा दर्शन के तीन अंगों, तत्त्वमीमांसा (Metaphysics), ज्ञानमीमांसा (Epistemology), एवं विश्वमीमांसा (Ontology) में से एक है एवं वस्तुतः अन्य दो से प्राथमिक है। तत्त्व के सम्वन्ध में कुछ पूछने से पहले हमें यह निश्चय हो जाना आवश्यक है कि क्या तत्त्व मानव ज्ञान की सीमाओं में आता है, अर्थात् मानव ज्ञान की सीमा कहाँ तक है। ज्ञानमीमांसा के अन्तर्गत विचारणीय होता है कि हमारे ज्ञान की सम्भावना, साधन व सीमा क्या है।

प्रस्तुत लघु निवन्ध ज्ञानमीमांसा के सामान्य रूप को, उसके पूर्वी एवं पश्चिमी पक्षों को, स्पष्ट करने के लिए अपर्याप्त है। अतः हमें पूर्वी एवं पश्चिमी ज्ञानमीमांसा के बीच पायी जाने वाली समानताओं और असमानताओं के विवेचन से ही सन्तुष्ट रहना होगा। पूर्वी और पश्चिमी ज्ञानमीमांसा को पास-पास रखकर देखने पर समानताओं की अपेक्षा विभिन्नतायें ही दृष्टिगोचर होती हैं। सर्वप्रथम तथ्य जो हमारा ध्यान आकृष्ट करता है, वह ज्ञान के लक्ष्य के विषय में है। पाश्चात्य दर्शन में 'ज्ञान-ज्ञान के लिये' रहा, उसका लक्ष्य रहा निष्प्रयोजन-जिज्ञासावृत्ति (disinterested curiosity) की सन्तुष्टि। इसके विपरीत भारतीय संस्कृति के अनुसार ज्ञान का लक्ष्य है मोक्ष—'ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः' और इसी कारण ज्ञान से वढ़कर श्रेयस्कर कुछ भी नहीं—'न ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।' किन्तु यह न समझना चाहिए कि कर्म आदि की अपेक्षा यहाँ ज्ञान का महत्त्व कम रहा। वेदान्त, जो वैदिक परम्परा की चरम परिणति है, ज्ञान एवं ब्रह्म का तादात्म्य बताता है—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'।

पूर्वी व पश्चिमी दृष्टिकोणों में दूसरा भेद यह है कि जहाँ पर पश्चिमी ज्ञानमीमांसा में ज्ञान की संभावना व सीमा पर अधिक विचार हुआ वहाँ पर पूर्वी ज्ञानमीमांसा मुख्यतः प्रमाण-परीक्षा अर्थात् ज्ञान के साधनों के विवेचन में लगी रही। सुकरात, प्लेटो, डेकार्ट, स्पिनोजा, काण्ट, हीगल और अनुभववादी लॉक के सम्वन्ध में भी यह सही है जो अपना प्रधान उद्देश्य मानवबुद्धि की सीमा और शक्ति निर्धारित करना मानता था। भारतीय दर्शन की प्रवृत्ति प्रायः ज्ञान को स्वतः सिद्ध मानकर चलने की थी। भारतीय दार्शनिक इस तथ्य से भली भाँति अवगत रहे कि यदि ज्ञान को स्वतःसिद्ध न माना गया तो एक ज्ञान को सिद्ध करने के लिये दूसरे की, दूसरे के लिये तीसरे की आवश्यकता होगी और इस प्रकार अनवस्था दोष आ जायेगा। पूर्वमीमांसा जैसा वैदिक दर्शन तो ज्ञान को स्वतः प्रमाण मानता ही है, जैनदर्शन भी कहता है—'ज्ञानं-स्वपरभासी'। वस्तुतः भारतीय दर्शन में संदेहवाद को कभी गम्भीरता से नहीं लिया गया। सच तो यह है कि भारतीय संस्कृति ने किसी गम्भीर सन्देहवादी को उत्पन्न ही नहीं किया। प्रोटेगोरस और ह्यूम का यहाँ अभाव ही रहा।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

जो इने गिने संदेहवादी या अज्ञेयवादी हुए भी, जैसे संजय वेलट्ठपुत्त, उन्होंने भी भारतीय दर्शन पर कोई गम्भीर छाप नहीं छोड़ी। भारतीय विद्वान् इस तथ्य से सुपरिचित रहे कि संदेहवाद आत्मघाती और हास्यास्पद मत है। संदेहवाद की पृष्ठभूमि पर खड़े होकर स्वयं संदेहवाद की ही सिद्धि सम्भव नहीं। यदि हम कहें तो कह सकते हैं कि यहाँ पर संदेहवाद ने अपना 'उग्र' व भस्मक रूप धारण नहीं किया, वह मात्र 'जिज्ञासा' के रूप में ही रहा और इस रूप में उसका सर्वाधिक ज्वलन्त एवं सम्भवतः प्राचीनतम उदाहरण हमें ऋग्वेद के सूक्त में मिलता है—'यो अस्याव्यक्ष्यः परमे व्योमन् स अंगवेद यदि वा न वेद'—विश्व की आश्चर्यजनक विशालता व विचित्रता से चकित ऋषि जिज्ञासा करता है कि इसके रचयिता को भी इसका पूर्ण ज्ञान था या नहीं! विश्व साहित्य में इससे अधिक साहसिक अभिव्यक्ति दुर्लभ है। किन्तु वैदिक ऋषि संदेहवाद पर जाकर रुक नहीं गये, उन्होंने 'हिरण्यमय पात्र' को हटाकर 'सत्य' की झाँकी पाली।

भारतीय दर्शन में संशयवाद और अज्ञेयवाद को स्थान न मिल सकने का सर्वप्रधान कारण यह था कि यहाँ दर्शन का लक्ष्य सदैव व्यावहारिक रहा, मोक्ष की प्राप्ति। कहना न होगा कि संदेह वाद या अज्ञेयवाद की मूल प्रवृत्ति किसी यथार्थ सर्वोच्च सत्ता की स्वीकृति के विरुद्ध है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर श्रीमद्भागवद्गीता में कहा गया है—'संशयात्मा विनश्यति'। अतः यहाँ पर संदेह भी हुआ तो प्रायः मोक्ष की संभावना के प्रश्न पर, जैसा कि चार्वाक ने किया, और उस पर भी सामान्य दार्शनिक प्रवृत्ति चार्वाक दर्शन से अप्रभावित रही।

पूर्वी व पश्चिमी दर्शन में तीसरी समस्या प्रमाण विषयक रही। यद्यपि प्रमाणो के विषय में, जैसा कि स्वाभाविक है, भारतीय दर्शन पद्धतियों में भी ऐकमत्य नही है, जैसे पूर्वमीमांसा ६ प्रमाण स्वीकार करती है प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि तो वैशेषिक केवल दो ही प्रमाण-प्रत्यक्ष व अनुमान-मानता है और चार्वाक तो केवल प्रत्यक्ष को ही स्वीकार करता है। किन्तु चार्वाक को छोड़कर, भारतीय दर्शन में सर्वमान्य प्रमाण २ हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान इनमें भी प्रत्यक्ष को प्राथमिक माना गया। यह सब प्रकार के अनुमान का आधार है क्योंकि अनुमान के लिये व्याप्ति ज्ञान अनिवार्य है और व्याप्ति प्रत्यक्ष पर आधारित है।* पाश्चात्य तर्कशास्त्र का जन्मदाता अरस्तू इस तथ्य को नहीं समझ सका इसी तथ्य को न समझ पाने के कारण अरस्तू इस बात का कोई संतोषजनक समाधान न दे सका कि न्यायवाक्य (Syllogirm) के आधारभूत मेज़र प्रेमिस (Mazor Premis) की उपलब्धि कैसे होती है। अरस्तू के अनुसार विशेषों के निरीक्षण से सामान्य तक पहुँचा जाता है। 'सामान्य तथ्य की प्राप्ति, अरस्तू के अनुसार अंतर्दृष्टि से होती है। यहाँ तक तो ठीक है। किन्तु अरस्तू आगे बढ़कर अन्तर्दृष्टि को बुद्धि (Nous) का कार्य बता डालता है और इस भाँति नैयायिको ने जिसे 'सामान्य लक्षण प्रत्यक्ष की संज्ञा दी उसे अरस्तू ने बौद्धिक व्यापार बना दिया।

* तु० की दृष्टाच्चादृष्टसिद्धिः (ब्रह्मसूत्र शां० भा० २।२।२) : प्रत्यक्षपूर्वकत्वादनुमानस्य (बृहदा. उप. शां. भा. १।२।२); तथा—'प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानम्' (न्यायभाष्य, १।१।१)।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

वस्तुतः पाश्चात्य दर्शन की सामान्य प्रवृत्ति प्रत्यक्ष प्रमाण की उपेक्षा करने की थी। वह प्रारंभ से ही बुद्धिवाद की ओर झुका रहा। हेराक्लाइटस, पार्मिनिडीज से लेकर डेकार्ट, स्पिनोजा, लाइब्नित्ज, काण्ट, रशेल सभी बुद्धिवादी हैं। हीगल का पर ब्रह्म तो धारणाओं की समष्टि ही है। ब्रेडले, जो यद्यपि हीगल की रक्तशून्य धारणाओं Bloodless categories) में विश्वास नहीं करता, दर्शन का लक्ष्य बुद्धि को संतुष्ट करना समझता है। उसके अनुसार बुद्धि की संतुष्टि ही संकल्प और इच्छाशक्ति की संतुष्टि है।

मानव ज्ञान के स्वाभाविक स्रोत इन्द्रिय प्रत्यक्ष पर सबसे प्रथम गंभीर अविश्वास प्रकट किया पार्मिनिडीज ने। डिमाक्राइटस ने भी इन्द्रिय जन्य ज्ञान को अविश्वसनीय बताते हुए कहा कि रूप, रस, गंध आदि गुण वस्तुतः पदार्थों के अन्दर नहीं है, वे इन्द्रियों की कल्पना मात्र हैं। इन दार्शनिकों की एवं सोफिस्टो के संदेहवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप प्लेटो ने ज्ञान की स्थापना अवश्य की किन्तु उसे जाति प्रत्ययों में सीमित कर दिया। तब से लेकर आधुनिक काल तक पाश्चात्य दर्शन की मूलप्रवृत्ति बुद्धिवाद की ओर ही अधिक झुकी रही। ब्रेडले एवं बोसांके का तो यहाँ तक कहना है कि बौद्धिक कल्पनाओं से अछूती प्रत्यक्ष वास्तविकताओं (जिसे हम भारतीय दार्शनिक शब्दावली में निर्विकल्प प्रत्यक्ष कह सकते हैं) की सत्ता ही नही है। इसके ठीक विपरीत न्यायदर्शन के अनुसार जाति (सामान्य universal) का भी प्रत्यक्ष होता है जिसे सामान्य लक्षण प्रत्यक्ष कहते हैं। उधर प्रख्यात बौद्धदार्शनिक दिङ्नाग वास्तविक प्रत्यक्ष को नाम जाति से मुक्त मानता है (प्रत्यक्षं कल्पनापो नामजात्याद्यसंयुतम्)।

प्रत्यक्ष विषयक भारतीय दृष्टिकोण अपनी निजी विशेषता लिये हुए है। प्रारंभिक काल में तो इसका अर्थ विषयेन्द्रिय सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान था, किन्तु बाद में इसका अर्थ, नैयायिकों के अनुसार, इस प्रकार हो गया कि प्रत्यक्ष ज्ञान वह है जो बिना किसी दूसरे ज्ञान की सहायता से हो। इस प्रकार प्रत्यक्ष की सीमा विस्तृत हुई और उसमें सामान्य इन्द्रिय प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अलौकिक प्रत्यक्ष, योगियों की अन्तर्दृष्टि एवं ईश्वर का प्रत्यक्ष भी आ जाता है। भारतीय दर्शनों में सांख्य और वेदान्त का प्रत्यक्ष विषयक मत अपेक्षाकृत अधिक परिपक्व है। वेदान्त के अनुसार प्रत्यक्षज्ञान में अन्तःकरण विषयरूप बन जाता है, दोनों में तादाम्य सम्बन्ध हो जाता है।* वेदान्त परिभाषा के अनुसार घटादि विषय का प्रत्यक्ष उसके प्रमाता से अभिन्न होता है।† वस्तुतः डा० राधाकृष्णन् प्रभृति विद्वानों की इस आलोचना में सार है कि ज्ञाता एवं ज्ञेय का भेद जो दर्शन पद्धतियाँ बनाये रखती हैं वे ज्ञान की ठीक-ठीक व्याख्या नहीं कर पातीं। पाश्चात्य दर्शन में बर्गसा ने ही प्रत्यक्ष के अध्ययन में रुचि दर्शाई। केवल बर्गसा के मत की तुलना वेदान्त के प्रत्यक्ष विषयक मत से की जा सकती है। उसके अनुसार ज्ञान के दो भिन्न साधन हैं बुद्धि और प्रतिभान या अनुभव (Intuition)। बौद्धिक ज्ञान में हम ज्ञेय पदार्थ के चारो ओर घूमते हैं किन्तु अनुभव में हम पदार्थ में प्रवेश कर जाते हैं। पहला सापेक्ष ज्ञान है, दूसरा निरपेक्ष ज्ञान। प्रत्यक्ष

---

* तु० की० रूपाकारेण हि हृदयं परिणितं। बृह० शां० भा० ३।८।२०।

† घटादेर्विषयस्य प्रत्यक्षन्तु प्रमात्रभिन्नत्वम्। वे० प०, पृ० ७४।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

ज्ञान में प्रमाता और प्रमेय में तादाम्य (Coincide) सम्बन्ध हो जाता है। किन्तु जहाँ वर्गसां इस ज्ञान का प्रयोग केवल आत्म तत्त्व तक ही सीमित रखता है, वहाँ वेदान्त इसे सम्पूर्ण पदार्थों पर लागू कर देता है।

प्रमाण परीक्षा में प्रत्यक्ष के बाद अनुमान का स्थान आता है। पहले कहा जा चुका है कि 'व्याप्तिवाक्य प्रत्यक्ष पर आधारित है' इस तथ्य की ओर अरस्तू का ध्यान नहीं गया जिसके फलस्वरूप अनुमान सम्बन्धी पूर्वी और पश्चिमी मतों में गम्भीर भेद रहे। प्राचीन भारत में आगमन और निगमन में भेद नहीं रहा। व्याप्ति ज्ञान की समस्या को लेकर यहाँ पर आगमन शास्त्र का विकास हुआ। इस विषय में बौद्धों और नैयायिकों में बहुत मतभेद रहा। बौद्धों के अनुसार व्याप्ति सम्बन्ध उन्हीं दो पदार्थों में हो सकता है— जिनमें या तो कार्यकारण सम्बन्ध हो या तादाम्य सम्बन्ध हो। नैयायिकों के अनुसार तादाम्य और कार्यकारण सम्बन्ध के अतिरिक्त, व्याप्ति के लिए अन्वय व व्यतिरेक आवश्यक है। यह अन्वय व व्यतिरेक मिल के (Joint Method of Agreement and Difference) से भिन्न नहीं हैं। नैयायिकों के अनुसार तादाम्य और कार्यकारण का निर्धारण भी इसी पद्धति से होता है। गङ्गेश ने अन्वय व व्यतिरेक के अतिरिक्त तर्क की उपयोगिता भी स्वीकार की है।

तर्क का प्रश्न अनुमान से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। इस प्रश्न के दो विभाग हो जाते हैं—(१) तर्क के स्वरूप के सम्बन्ध में, एवं (२) तर्क की उपयोगिता या प्रामाणिकता के सम्बन्ध में। जहां तक प्रथम प्रश्न का सम्बन्ध है, पाश्चात्य दर्शन में तर्क प्रायः अनुमान-स्वरूप माना गया। पाश्चात्य तर्कशास्त्र विचार के तीन सार्वभौम नियमों Law of Identity, Law of contradiction और Law of Excluded middle को स्वीकार करता है और भारतीय तर्कशास्त्र भी इन नियमों से अपरिचित नहीं रहा। अतः डा० श्चेरवात्स्की का यह मत कि 'भारतीय तर्कशास्त्र को केवल विरोध नियम का ज्ञान था' अयथार्थ सिद्ध होता है। यद्यपि भारतीय तर्कशास्त्र में Excluded Middle पर जोर नहीं दिया है फिर भी वह उससे और Law of Identity से अपरिचित नहीं था। जयन्त की 'न्यायमंजरी' में स्पष्ट लिखा है 'तदुक्तं तत्परिच्छिनन्ति, अन्यद् व्यवच्छिन्नन्ति, तृतीय प्रकाशभावं च सूचयति'। इसमें योरपीय तर्कशास्त्र के तीनों नियमों का स्पष्ट उल्लेख है। सर्वदर्शन संग्रह हमें Law of Excluded Middle की सूचना देता है 'परस्पर विरोधे न हि प्रकारान्तर स्थितिः।' दो विरोधी पदार्थों के बीच कोई तीसरी स्थिति सम्भव नहीं।

योरपीय, कल्पना से विपरीत, भारत में तर्क प्रायः अनुमानरूप नहीं माना गया। वस्तुतः यहाँ पर तर्क की गणना प्रमाणों में हुई ही नहीं, यह प्रमाणों का सहकारी माना गया। तर्क के द्वारा किसी अनुमान के विरुद्ध कल्पना को असंगत सिद्ध किया जाता है। किन्तु 'सर्वतंत्रस्वतंत्र' वाचस्पति के अनुसार तर्क-अर्थापत्ति व अनुमानरूप है, और यह मत पाश्चात्य दृष्टिकोण के अधिक समीप है। तर्क की एक दूसरी प्रसिद्ध परिभाषा के अनुसार 'व्याप्य के आधार पर व्यापक का आरोप करना तर्क है (व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः)। यह परिभाषा तर्क को अनुमानरूप बताती है। वेदान्त, विशेषतः शंकर, भी इसे इसी रूप में मानते हैं।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

अब संक्षेप में तर्क की उपयोगिता का प्रश्न विचारणीय है। यद्यपि यूरोप का दृष्टिकोण मूलतः बुद्धिवादी रहा किन्तु ऐसा नहीं है कि वहाँ तर्क के विरुद्ध कोई आवाज न उठी हों। प्लाटिनस बुद्धिवाद का विरोधी था, लॉक ने इन्द्रियानुभव को प्राथमिकता दी, काण्ट ने स्पष्ट कहा कि बुद्धि परमार्थ के विषय में मौन हो जाती है। हीगल को भी स्वीकार करना पड़ा प्रत्येक बौद्धिक धारणा अधूरी होती है। किन्तु तर्क की प्रामाणिकता पर सबसे प्रबल आघात किया ब्रेडले ने जिसके अनुसार चिंतन प्रक्रिया विरोधग्रस्त है क्योंकि यह प्रक्रिया सम्बन्धात्मक है और सम्बन्ध की धारणा विरोधग्रस्त हैं। बर्गसां ने भी परमार्थ ज्ञान में बुद्धि की अनुपयोगिता को स्वीकार करता है। उसके अनुसार बुद्धि विश्लेषणात्मक है, वह किसी भी पदार्थ को समझने के फेर में उसके टुकड़े-टुकड़े कर डालती है। बुद्धि गति, परिवर्तन, सृजनशील वास्तविकता को नहीं समझ सकती। इसी प्रकार धर्मकीर्ति के अनुसार भी केवल स्वलक्षण में ही अर्थक्रियाकारित्व है, सामान्य लक्षण में नहीं एवं अर्थक्रियाकारित्व लक्षणं सत् के अनुसार, सामान्य लक्षण, जो बुद्धि का कार्य है, काल्पनिक है, संवृत्ति सत्य है। स्वलक्षण ही परमार्थ सत् है अतः अनुमान अयथार्थ है यद्यपि उसकी व्यावहारिक उपयोगिता है।

भारतीय विचारक तो प्रारम्भ से ही तर्क की अपर्याप्तता को जान गये थे। कठोपनिषद् स्पष्ट कहता है कि 'परम तत्त्व का ज्ञान तर्क से संभव नहीं—'नैषा तर्केण मतिरापनेया' (२।९)। शंकराचार्य के अनुसार चूँकि 'तर्क का आधार उत्प्रेक्षा या कल्पना मात्र होता है अतः तर्क अप्रतिष्ठित है।' किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि शंकराचार्य तर्क को छोड़कर अंधविश्वास पर जोर देते थे। व्यावहारिक दृष्टिकोण से तर्क की सत्ता उन्हें मान्य थी। सांख्य की आलोचना करते हुए वे कहते हैं—'कोई दार्शनिक पद्धति व्यक्तिगत रुचि के आधार पर ग्राह्य नहीं हो सकती, वह तभी ग्राह्य हो सकती है जब तर्कानुकूल हो।* कठ भाष्य में उन्होंने यहाँ तक कहा है कि सत्-असत् के निर्णय में बुद्धि ही एकमात्र प्रमाण है।† वस्तुतः शंकराचार्य अनुमानरूप तर्क की उपयोगिता को स्वीकार करते हैं, उत्प्रेक्षा रूप एवं अनुभव पर अनाधारित तर्क की नहीं।‡

इस प्रकार इस संक्षिप्त तुलनात्मक विवेचन से सूचित होता है कि पूर्वी व पश्चिमी ज्ञानमीमांसा में समानतायें भी रहीं किन्तु विभेद ही अधिक रहे, और इसका कारण था दोनों के जीवन मूल्यों में पार्थक्य। पाश्चात्य विद्वान् दर्शन को जीवन से नहीं जोड़ सके, वह उनके लिए मात्र बौद्धिक विलास बना रहा जबकि भारतीय संस्कृति की समग्र धारायें बस एक महासागर में मिल जाने को आतुर रहीं, समग्र प्रयत्न बस एक चरम लक्ष्य, मोक्ष तक पहुँचने के लिए किये गये। भारतीय दर्शन में तर्क की सीमाओं के प्रति सजगता एवं अपरोक्षानुभूति पर ल देने का यही रहस्य है जो उसे पाश्चात्य दर्शन की प्रत्ययात्मक अभिरुचि से पृथक् करता है।

———

* न ह्यभिलषितसिद्धि निबन्धना व्यवस्था शक्या विज्ञातुम्, उपपत्या तु कदाचिद् व्यवस्थोच्येत। ब्र० शां० भा० २।३।५०।

† बुद्धिर्हि नः प्रमाणं सदसतोर्याथात्म्यावगमे, ६।१२।

‡ स्वानुभूत्यनुसारेण तर्क्यतां मा कुतर्क्यताम्।—पंचदशी।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

योग दर्शनमें ईश्वर

केदारनाथ मिश्र,
दर्शन-विभाग, कला संकाय

साङ्ख्य और योग समानतन्त्र सिद्धान्त हैं और दोनोंका दार्शनिक आधार एक ही है। योग में साधारणतया साङ्ख्यकी प्रमाणमीमांसा और तत्त्वमीमांसा को स्वीकार कर लिया गया है और साङ्ख्य के पच्चीस तत्त्वों को स्वीकार करने के साथ ही छब्बीसवें तत्त्व ईश्वर का प्रतिपादन किया गया है। इसीलिए कभी-कभी योग को सेश्वर साङ्ख्य भी कहा जाता है। साङ्ख्य को प्रायः निरीश्वर साङ्ख्य कहा जाता है क्योंकि पारम्परिक कापिल साङ्ख्य—जिसका प्रतिनिधित्व ईश्वर कृष्ण की साङ्ख्यकारिका में हुआ है—में ईश्वर का कोई स्थान नहीं है और साङ्ख्य सूत्रों में ईश्वर की कोई सिद्धि न हो सकने का उल्लेख है।

इस सम्बन्ध में महापण्डित राहुल साङ्कृत्यायन ने अपने दर्शन-दिग्दर्शन में (पृष्ठ ६५ पर) लिखा है कि "जहाँ कपिल के साङ्ख्य में ईश्वर की गुंजाइश नहीं है, वहाँ पतञ्जलिने अपने दर्शनमें गुंजाइश बनाई है। 'गुंजाइश बनाई' इसलिए कहना पड़ता है कि पतञ्जलिने उसे उपनिषदों की भाँति सृष्टिकर्ता नहीं बनाना चाहा और न अक्षपाद की भाँति कर्मफल दिलाने वाला ही।"

पतञ्जलिकी अभिरुचि ईश्वर वाद की संस्थापना में न होकर समाधि की सिद्धि में है, अतः उनके लिए ईश्वर का महत्त्व दार्शनिक या सैद्धान्तिक दृष्टि की अपेक्षा व्यावहारिक या साधना की दृष्टि से अधिक है। योग सूत्रों में ईश्वरप्राणिधान को समाधि की सिद्धि में सहायक बताया गया है। वहाँ ईश्वर के सृष्टि-स्थिति-प्रलय आदि कर्मों का उल्लेख नहीं है और न ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने की ही कोई चेष्टा है। योग के परवर्ती व्याख्याकारों ने सृष्टि को ईश्वर से सम्बद्ध करने की चेष्टा की है[१]।

योगसूत्र और योगभाष्य आदि में ईश्वर के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है उसको कभी-कभी ईश्वरकी सत्ताके साधक प्रमाणोंका रूप देनेकी चेष्टा की जाती है। प्रोफेसर चन्द्रधर शर्माने योग दार्शनिकोंके अभिमत ईश्वरकी सिद्धिके लिए अधोलिखित चार तर्कोंका संक्षेपमें उल्लेख किया है[२]।

(क) श्रुति ईश्वरका उल्लेख करती है[३] अतः (शब्द प्रमाणसे) ईश्वरकी सत्ता सिद्ध होती है।

(ख) पुरुष तथा प्रकृति, जिनके संयोगसे सृष्टि होती है और वियोगसे प्रलय, दो परस्पर भिन्न एवं स्वतन्त्र तत्त्व हैं। पुरुषके निष्क्रिय तथा प्रकृतिके अचेतन होनेके कारण इन दोनोंका संयोग-वियोग स्वतः नहीं हो सकता। अतः किसी ऐसे सर्वज्ञका अस्तित्व स्वीकार करना पड़ता है जो प्रकृतिसे पुरुषका संयोगवियोग कराये और जिसके निर्देशनमें अचेतन प्रकृति उस रूपमें विकसित हो जो पुरुषोंके भोग एवं मोक्ष के लिए अनुकूल हो

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

भोजवृत्तिके अनुसार ईश्वर ही वह तत्त्व है जो प्रकृतिसे पुरुषका संयोग और वियोग कराता है[५]। आचार्य शङ्करका कहना है कि साङ्ख्य-योग दार्शनिक ईश्वरको प्रकृति एवं पुरुषका अधिष्ठाता मानते हैं[६]। वाचस्पति मिश्रकी एक उक्तिसे भी ऐसा प्रतीत होता है कि उनके अनुसार ईश्वरवादी योग दार्शनिक इस सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हैं कि अचेतन प्रकृति, चेतन तत्त्व ईश्वर द्वारा अधिष्ठित होनेसे ही प्रवर्तित होती है[६]।

(ग) ईश्वरकी सत्ताकी सिद्धि तारतम्यके नियमसे भी होती है। लौकिक पुरुषोंके ज्ञानमें तारतम्य या न्यूनाधिक्य का क्रम देखा जाता है जिससे यह अनुमान होता है कि एक ऐसा पुरुष-विशेष भी होना चाहिए जो ज्ञानकी अन्तिम अवधि, चरमसीमा और पराकाष्ठा हो तथा जिसमें सर्वज्ञताका बीज पूर्णरूपसे विकसित हो[७]। योगभाष्यकारके अनुसार उपर्युक्त अनुमानसे एक सर्वज्ञ पुरुष-विशेषकी सत्ताकी ही सिद्धि होती है और उसकी संज्ञा तथा उसके स्वरूप का ज्ञान श्रुतिस्मृत्यादिरूप आगमसे प्राप्त करना चाहिए[८]। वाचस्पति मिश्रने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि वह सर्वज्ञ पुरुष-विशेष ईश्वर ही है (बुद्ध, महावीर आदि नहीं)[९]।

(घ) ईश्वरप्रणिधानसे प्रसन्न होकर ईश्वर अनुग्रह करके साधककी सिद्धिके मार्गमें आने वाले विघ्नोंको दूरकर समाधि सिद्ध करा देते हैं[१०]। जिसकी उपासना इस प्रकार समाधिसिद्धि एवं तदद्वारा कैवल्यप्राप्ति में साधक हो उसकी सत्ता भी होनी चाहिए।

उपर्युक्त तर्कोंमें से प्रथम तर्क(क)के सम्बन्धमें प्रोफ़ेसर राधाकृष्णन् लिखते हैं कि योग दर्शनके अनुसार 'ईश्वरकी सत्ताकी सिद्धि शब्द प्रमाण (या श्रुति) से होती है किन्तु यह तर्क अन्योऽन्याश्रयदोष से दूषित है क्योंकि योग दर्शनमें वेदोंको प्रामाणिक माननेका आधार उनका ईश्वरप्रणीत होना बताया गया है[११]।'

तृतीय तर्क(ग)को दृष्टिगत रखते हुए प्रोफ़ेसर हिरियन्नाने लिखा है कि योग दर्शनमें ईश्वरकी सिद्धिके लिए दिया जाने वाला तर्क यह है कि मनुष्योंमें उपलब्ध होने वाला ज्ञान, ऐश्वर्य इत्यादिका तारतम्य अनिवार्यतः एक ऐसी सत्ता (अर्थात् ऐसे तत्त्व) का सूचक है जो ज्ञान और ऐश्वर्य की पराकाष्ठा हो। उनका मत है कि इस प्रकार एक पूर्ण पुरुषके प्रत्ययमात्रसे उसके सत्ताशक्ति होनेका निष्कर्ष निकालनेमें पतञ्जलिने पाश्चात्य दर्शनमें 'सत्तामूलक तर्क' के नामसे प्रसिद्ध तर्कका आश्रय लिया है[१२]। व्यासभाष्यमें दिये गये तर्कको देखकर पाश्चात्य दर्शनके उपर्युक्त सत्तामूलक तर्कके स्मरण हो आनेकी बात प्रोफ़ेसर राधाकृष्णन् ने भी कही है[१३]।

इस सम्बन्धमें यह अवधेय है कि पतञ्जलिके **'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्'** (योगसूत्र १।२५) इस सूत्रमें केवल पूर्ववर्ती सूत्रमें निरूपित ईश्वरमें ज्ञानके निरतिशय होनेका प्रतिपादन या उल्लेखमात्र है और इसमें हेतुनिर्देशपूर्वक किसी साध्यकी सिद्धिका कोई प्रयत्न नहीं किया गया है। यह सूत्र पूर्ववर्ती सूत्रमें प्रतिपादित ईश्वरके स्वरूपका निरूपक और उसके सर्वज्ञ होनेका बोधक है। इसमें हेतुसूचक किसी पदका प्रयोग भी नहीं किया गया है। अतः यह ईश्वरकी सत्ता आदिका अनुमापक नहीं प्रतीत होता। वाचस्पति मिश्रने भी **'ज्ञानशक्तावनुमानं प्रमाणयति'** (तत्त्ववैशारदी १।२५) अर्थात् 'उस

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

ईश्वरकी ज्ञानशक्तिकी सिद्धि अनुमान प्रमाणसे होती है यह बताते हैं' इत्यादि कहकर उपर्युक्त सूत्रको ईश्वरकी ज्ञानशक्तिका ही अनुमापक माना है, ईश्वरकी सत्ता का साधक नहीं।

पतञ्जलिके क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः (योगसूत्र १।२४) इस सूत्रके अनुसार ईश्वर एक विशेष प्रकारका पुरुष है जो (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश नामक पाँच) क्लेशों, (विहित ज्योतिष्टोमादि और निषिद्ध ब्रह्महत्यादि वैदिक एवं लौकिक, शुभाशुभफलदेने वाले कर्मों, (जन्म, मरण, भोग आदि कर्मफलरूप सुख-दुःख या) विपाक और (धर्माधर्मरूप सुख-दुःख के भोगसे उत्पन्न वासना या) आशय से अपरामृष्ट या अप्रभावित रहता है। वह सभी दोषोसे रहित निर्विकार तत्त्व है।

यों तो साङ्ख्ययोगदर्शनके अनुसार सभी पुरुष असङ्ग और त्रिगुणातीत हैं किन्तु क्लेश, कर्म आदि चित्तके धर्म होते हुए भी सांसारिक पुरुषोंके धर्म कहे जाते हैं और (जिस प्रकार सेनाकी हार-जीत राजाकी हार-जीत मानी जाती है उसी प्रकार) पुरुषोंको तत्तत् कर्मोंका भोक्ता कहा जाता है। अविवेकके कारण सांसारिक पुरुष अपनेको बुद्धिसे अभिन्न समझ लेता है अतः उसे बुद्धिगत सुख-दुःखका भोक्ता कहा जाता है। इस प्रकार पुरुषोंको (सांसारिक दशामें) क्लेशकर्मादिसे सम्बद्ध माना जाता है किन्तु ईश्वर भूत, वर्तमान एवं भविष्य किसी भी कालमें क्लेशादिसे किसी भी प्रकार सम्बद्ध नहीं होता अर्थात् उसका क्लेशादिसे औपाधिक सम्बन्ध भी नहीं होता, अतः वह अन्य पुरुषोंसे विलक्षण और विशिष्ट पुरुष है।

ईश्वर सांसारिक पुरुषोंसे भिन्न तो है ही, मुक्त पुरुषोंसे भी भिन्न है। मुक्त पुरुष मुक्त होनेके पूर्व बद्ध थे तथा (प्राकृतबन्ध, वैकारिकबन्ध और दक्षिणादिबन्ध इन) तीन प्रकारके बन्धोंको नष्ट कर शास्त्रोक्त उपायों द्वारा क्लेशादिसे मुक्त हुए हैं किन्तु ईश्वर कभी बन्धनमें थे ही नहीं वे सदा मुक्त हैं और ऐश्वर्य (अर्थात् ज्ञान, क्रिया और शक्तिरूप तीन सम्पदाओं) से सदा युक्त होनेके कारण सदा अर्थात् तीनों कालोंमें ईश्वर हैं।

ईश्वर प्रकृतिलीन पुरुषोंसे भी भिन्न, विलक्षण और विशिष्ट पुरुष हैं क्योंकि उनके भविष्यमें भी बन्धनमें पड़ने की कोई आशङ्का या सम्भावना नहीं है जबकि प्रधान, महत्, अहङ्कार तथा पञ्चतन्मात्र इन अष्टविधप्रकृतिरूप अनात्म पदार्थोंमें आत्मबुद्धि करके उपासना करने वाले एवं उसके परिणामस्वरूप प्रकृतिमें लीन हो जाने वाले प्रकृतिलीन पुरुषोंका पुनः बन्धनग्रस्त होना तथा जन्म लेना सम्भव है[१४]।

योगसूत्र में ईश्वर को सर्वज्ञ, ज्ञान की पराकाष्ठा एवं चरम सीमा कहा गया है। भाष्यकार व्यास उन्हें ज्ञान एवं ऐश्वर्य की पराकाष्ठा कहते हैं[१५]। वाचस्पति मिश्र उन्हें नित्यतृप्त एवं वैराग्यातिशयसम्पन्न बताते हुए उनके स्वरूप के निरूपण के लिए वायुपुराण के वे श्लोक उद्धृत करते हैं जिनमें ईश्वर के (सर्वज्ञता, तृप्ति, अनादि ज्ञान स्वतन्त्रता, अलुप्तशक्तित्व और अनन्त शक्ति इन) छः अङ्गों तथा (ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, तप, सत्य, क्षमा, धृति, स्रष्टृत्व, आत्मसम्बोध और अधिष्ठातृत्व इन) दस अव्ययों से सदा युक्त रहने की बात कही गयी है[१६]।

ईश्वर साम्यातिशयविनिर्मुक्त हैं। योगभाष्य के अनुसार उनके समान या उनसे

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

अधिक ऐश्वर्य वाला कोई अन्य तत्त्व नहीं है। वे अप्रतिम हैं और एक ही हैं। समान ऐश्वर्य से सम्पन्न दो (या दो से अधिक) ईश्वरों का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि उनकी परस्पर-विरोधी इच्छाएँ होने पर एक की सिद्धि और दूसरे की असिद्धि होने की स्थिति में एक को अपेक्षाकृत हीन मानना होगा और उसे ईश्वर ही न कहा जा सकेगा; तथा दोनों (या सभी) की इच्छाओं की सिद्धि होने की दशा में विरोध होगा अर्थात् एक ही कार्य को एक ही काल में (श्वेत और अश्वेत आदि) परस्पर-विरोधी धर्मों से युक्त मानने का अनिष्ट प्रसङ्ग उपस्थित होगा। उन ईश्वरों की इच्छाएँ परस्पर विरोधिनी नहीं होतीं, यह मान कर भी, एक से अधिक ईश्वरों की कल्पना करना, तत्त्ववैशारदी के अनुसार निरर्थक है, क्योंकि ऐसी सिथिति में सृष्टिनियमन आदि का कार्य सम्पन्न करने के लिए एक ईश्वर ही पर्याप्त होगा। यदि यह कहा जाये कि दो (या दो से अधिक) ईश्वर मिलकर नियमन आदि का कार्य करते हैं तो उनमें से किसी को भी ईश्वर न कहा जा सकेगा क्योंकि वे एक परिषद् के (सदस्य के) रूप में कार्य करते हैं। वे क्रमशः एक-एक करके नियमन करते हैं यह मानने में कल्पनागौरवदोष होता है। इसी प्रकार एक से अधिक ईश्वरों के नित्य ऐश्वर्य से सम्पन्न होते हुए भी एकैकशः ईशन या नियमन करने की बात भी कल्पना-गौरव दोष से युक्त और अविचारपूर्ण है अतः योग दर्शन में ईश्वर के एक और अद्वितीय होने के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है[१७]।

इस सम्बन्ध में यह अवधेय है कि एकेश्वरवाद के साथ बहुदेवतावाद का कोई विरोध नहीं है अतः योगदर्शन में एक ईश्वर को मानने के साथ ही अनेक देवताओं की सत्ता स्वीकार की गयी है।

ईश्वर कालातीत और नित्य हैं। वे सृष्टिके आदिमें उत्पन्न ब्रह्मादि देवों और अङ्गिरादि ऋषियों के भी पिता तथा उपदेष्टा हैं, क्योंकि कोई ऐसा काल नहीं था जब उनकी सत्ता न बच रही हो। सांख्यमें मुक्त पुरुषों की परम्पराको ही तारक ज्ञान देने वाला माना गया है किन्तु योग मुक्त पुरुषोंके गुरुरूपमें तारक ज्ञानके उपदेष्टा या वक्ता के रूपमें ईश्वरकी सत्ता मानता है। ईश्वर पूर्वाचार्योंके भी गुरू और वेदज्ञानके स्रष्टा हैं। वे परमगुरु हैं और अपना कोई स्वार्थ न होने पर भी कृपापरवश होकर प्राणियोंपर अनुग्रह करनेके लिए ज्ञान और धर्म के उपदेश द्वारा उनके उद्धारमें प्रवृत्त होते हैं।

ईश्वर निःशेष सदिच्छाओंसे युक्त और करुणामय हैं तथा इस बातका ध्यान रखते हैं कि प्रकृतिका विकास पुरुषोंके भोग और मोक्ष रूप हितोंके अनुकूल हो। इस बातको ध्यानमें रखते हुए वे प्रकृति-पुरुषका संयोग-वियोग कराते हैं तथा प्रकृतिके विकासका सञ्चालन, नियमन और मार्ग-दर्शन करते हैं।[१९]

ईश्वरप्रणिधानरूप भक्तिविशेष से आवर्जित या अभिमुखीकृत ईश्वर साधक को अभिध्यानमात्र से अनुगृहीत करते हैं और साधक की अतिशीघ्र समाधिसिद्धि हो जाती है। अभिध्यान से तात्पर्य ईश्वर के सङ्कल्प या उनकी इच्छा मात्र से है। ईश्वर केवल सङ्कल्प करते हैं कि साधक का अभिमत सिद्ध हो जाए और वह सिद्ध हो जाता है। इच्छा के सिवाय अन्य कोई व्यापार ईश्वर को नहीं करना पड़ता। इसप्रकार ईश्वरप्रणिधान समाधि-सिद्धि का उत्कृष्ट साधन है। यह बात योग सूत्रकार ने एकाधिक बार कही है।[२०]

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

ईश्वर भक्ति या पासना के विषय हैं। उनके अनुग्रह करनेकी बात भाष्यकार व्यास[२०A] आदिको स्वीकार है। भक्ति द्वारा भक्त भगवान्का अनुग्राह्य बनता है। प्रसन्न होकर भगवान् भक्तकी समाधिसिद्धिके मार्गमें आने वाले विघ्नोंको दूर कर उसे समाधिलाभ करा देते हैं।[२१]

प्रणव या ॐ ईश्वरका वाचक, अभिधायक या प्रतिपादक है और ईश्वर उसके वाच्य हैं। ईश्वर और प्रणव में वाच्यवाचक सम्बन्ध है और यह सम्बन्ध नित्य है। ईश्वरके सङ्केतसे इसका द्योतन या प्रकाशनमात्र होता है।[२२]

प्रणवके जप और (प्रणवके वाच्य या अभिधेय) ईश्वरकी भावना से चित्त एकाग्र होता है, अतः समाधिकी सिद्धिके लिए प्रणवका जप (यथावदुच्चारणम्) और (प्रणवके अर्थभूत) ईश्वरकी भावना (पुनः पुनः चेतसि निवेशनम्) करनी चाहिए। प्रणवके जप और ईश्वरकी भावना से साधककी समाधिसिद्धिके विघ्नरूप व्याधिस्त्यान आदि तथा दुःख दौर्मनस्य आदि दूर हो जाते हैं और पुरुषको अपने स्वरूपका बोध हो जाता है।[२३]

उपर्युक्त विवरणसे स्पष्ट है कि योगदर्शनमें ईश्वरका स्थान दार्शनिक दृष्टिसे अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। वह योगदर्शनके लिए अनिवार्य, आवश्यक या अपरिहार्य नहीं प्रतीत होता और ऐसा लगता है कि सांख्यकी ही भाँति योगका कार्य भी बिना ईश्वरके चल सकता है।

योगदर्शनमें ईश्वरको एक विशेष-पुरुष मात्र माना गया है और अनेक पुरुष तथा प्रकृति—सभी नित्य और विभु —उसे सीमित करनेके लिय उपस्थित हैं।[२४] उसे पुरुष-विशेष माननेपर पुरुषोंमें गुणगत भेद भी मानना पड़ेगा।

योगदर्शनके इस पुरुषविशेय या व्यक्तिविशेषरूप ईश्वरका योगदर्शनके अन्य तत्त्वों और सिद्धान्तों से घनिष्ठ और आन्तरिक सम्बन्ध नहीं है।

योगदर्शनमें ईश्वर तथा जगत् का सम्बन्ध न तो आन्तरिक ही है और न घनिष्ठ ही। ईश्वर जगत्का स्रष्टा संहारक या पालक नहीं है। वह उसका उपादान भी नहीं है। योगसूत्रोंमें ईश्वरकी सृष्टिसे सम्बद्ध क्रियाओंको कोई महत्त्व नहीं दिया गया है। स्वयं पतञ्जलिको जगतकी सृष्टिस्थितिलयकी समस्याका समाधान करनेके लिए ईश्वरकी आवश्यता का अनुभव नहीं हुआ है और उन्होंने सृष्टिके उपादान या निमित्त कारणके रूपमें ईश्वरका अनुमान करनेका तर्क नहीं दिया है।

ईश्वर और प्रकृतिका सम्बन्ध भी घनिष्ठ और आन्तरिक नहीं, बाह्य ही है। प्रकृति अनादि तथा नित्य है और ईश्वर न तो उसका स्रष्टा है, न पालक और न संहारक ही। प्रकृतिकी उत्पादक शक्ति भी ईश्वरप्राप्त न होकर स्वयं प्रकृतिकी अपनी शक्ति ही है। ईश्वर प्रकृतिमें अन्तर्यामी नहीं है और आन्तरिक ढंग से बाहरसे ही प्रकृति और पुरुष को सम्बद्ध करता है। वह प्रकृतिके विकासका मार्गनिर्देशन और नियमन बाहरसे यान्त्रिक रूपसे ही करता है प्रकृति में अन्तर्यामी होकर नहीं।

ईश्वर और पुरुषों का सम्बन्ध भी आन्तरिक, घनिष्ठ या अविच्छेद्य नहीं है। ईश्वर स्वयं एक पुरुष विशेष मात्र है और वह अन्य पुरुषोंका न तो स्रष्टा है, न पालक और न

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

संहारक, क्योंकि सभी पुरुष ईश्वरकी ही भाँति स्वयम्भू, विभु, अविनाशी और नित्य हैं। इस प्रकार पुरुष और ईश्वर का सम्वन्ध भी शिथिल, बाह्य और साधारण ही है आन्तरिक और घनिष्ठ नहीं। ईश्वर पुरुषोंमें अन्तर्यामी नहीं है, उनके अन्दर विद्यमान होकर उनका नियमन नहीं करता। पुरुषोंको योगदर्शनमें ईश्वराधिष्ठित नहीं माना गया है।

पुरुषोंके वन्धन और मोक्ष सें ईश्वरका कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। वन्धनका कारण अज्ञान है और मोक्ष (पुरुष-प्रकृतिके विवेकरुप) ज्ञानसे होता है। मानवीय जीवन या पुरुष का लक्ष्य ईश्वर (की प्राप्ति) नहीं अपितु पुरुषका प्रकृतिसे विविक्त होकर स्वरुपमें स्थित होना है। मोक्षप्राप्तिके लिए उसकी सहायता अपरिहार्य नहीं है, उसकी सहायताके विना अपने पौरुषसे भी मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। ईश्वरप्रणिधान मोक्षप्राप्तिमें सहायक केवल इसी अर्थमें है कि प्रसन्न हो जानेपर ईश्वर साधककी साधनाके मार्गमें आनेवाले विघ्नोंको दूरकर समाद्धिसिद्धिको सरल, सुगम और शीघ्रसाध्य बना देते हैं। वे सीधें किसीको मुक्त नहीं करते, मोक्ष तो पुरुपको स्वयं ही अर्जित करना होगा। इस प्रकार ईश्वरप्रणिधान समाधि और उसके फलकी प्राप्तिके साधनोंमेंसे एक सुगम साधन मात्र[२५] है, एक मात्र उपाय नहीं।

योगमें नित्यमुक्त पुरुषोंका स्पष्ट उल्लेख नहीं है। रामानुज आदि दार्शनिकोंकी अनन्त, गरुड, विष्वक्सेन आदि नित्यमुक्तोंकी जो धारणा है उससे योगके ईश्वरमें कोई विशेषता नहीं है। यदि नित्यमुक्तोंकी सत्ता मानी जाए तो ईश्वरका उनसे भेद नगण्य और वनावटी मात्र होगा।

योगदर्शनमें ईश्वरके स्वरूपके उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि योग दर्शनमें ईश्वरका स्थान अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है और योग दर्शन का ईश्वरसिद्धान्त दार्शनिक दृष्टिसे सन्तोष-जनक नहीं कहा जा सकता है।[२६]

गार्वेका मत है कि योगसूत्रोंके अध्ययनसे लगता है कि व्यक्तित्वसम्पन्न ईश्वर—जिसने बादमें योगदर्शनके स्वरूप निर्धारणमें महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की—का योगदर्शनमें प्रवेश प्रारम्भमें बहुत ही शिथिल ढंगसे और सतही तौरपर इसतरह कराया गया कि इस दर्शनका मूलभूत सिद्धान्त और प्रतिपाद्य पूर्णरूपसे अप्रभावित और अस्पष्ट रहे। वे तो यहाँ तक कहनेको प्रस्तुत हैं कि जिन योगसूत्रोंमें ईश्वरके व्यक्तित्वका विवेचन है वे (अर्थात् योगसूत्र १।२३-२७; २।१, ४५) ग्रन्थके अन्य भागोंसे असम्वद्ध तो हैं ही योगदर्शनके मूल-सिद्धान्तों और लक्ष्यके विपरीत हैं।[२७] प्रोफेसर एम्० हिरियन्नाका भी यही मत है कि योगदर्शनमें स्वीकृत ईश्वर उस दर्शनके अन्य सिद्धान्तोंसे शिथिलरूपमें ही सम्बद्ध है। वे भी मानते हैं कि जिन सूत्रोंमें ईश्वरका निरूपण है वे ग्रन्थके शेष भागसे असम्बद्ध हैं।[२८]

गार्वेके अनुसार योग दार्शनिकों द्वारा सांख्यदर्शनमें स्वीकृत तत्त्वों में ईश्वरको जोड़ देनेका उद्देश्य केवल ईश्वरवादियोंको सन्तुष्ट करना तथा सांख्य-प्रतिपादित सृष्टिसिद्धान्तके प्रचारको सुकर बना देना ही था।[२९] इसी मतसे सहमति प्रकट करते हुए प्रोफेसर राधाकृष्णन् ने लिखा है कि 'हम यह कहनेको विवश हैं कि योगदार्शनिकोंने जनसाधारणको अपने दर्शनकी ओर आकृष्ट करनेके लिए ही अपने दर्शनमें ईश्वरके प्रत्यक्ष का प्रवेश कराया।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

सृष्टिविषयक सांख्यसिद्धान्त एवं योगकी आध्यात्मिकसाधना के प्रचारके लिए समुत्सुक व्यक्तियोंको मनुष्यकी मनोवृत्तिको सन्तुष्ट किये बिना ऐसा कर सकना सम्भवतः कठिन प्रतीत हुआ और इसका फल यह हुआ कि योगदर्शनमें ईश्वरको स्वीकार कर लिया गया।[१०] प्रोफेसर एम्० हिरियन्ना भी गार्वेके उपर्युक्त मतके ही समर्थक हैं।[११] योगकी कठिन साधनामें संलग्न साधकको अन्धकार और अज्ञान से प्रकाशकी ओर ले जाने वाले एक ऐसे तत्त्वोपदेशक गुरु मार्गनिर्देशक और सहायक की आवश्यकता पद-पदपर अनुभव होती है जो उसे आश्वस्त कर प्रेरणा शक्ति और साहस प्रदान कर सके। योगदर्शननमें स्वीकृत ईश्वर उसके इस आवश्यकताकी पूर्ति करता है।

टिप्पणियाँ

१ द्रष्टव्य, योगसूत्र-भोजवृत्ति, १।२५।

२ द्रष्टव्य, Acritical Survey of Indion Philosophy, p. 174.

३ क्लेशकर्मविपाकैश्च वासनाभिस्तथैव च।
अपरामृष्टमेवाह पुरुषं हीश्वरं श्रुतिः॥ (याज्ञवल्क्यस्मृतिः, २।४३)।

४ द्रष्टव्य, योगसूत्र-भोजवृत्तिः १।२५।

५ केचित् तावत् सांख्ययोगव्यपाश्रयाः कल्पयन्ति प्रधानपुरुषयोरधिष्ठाता केवलं निमित्तकारणमीश्वर इतरेतरविलक्षणाः प्रधानपुरुषेश्वरा इति। ब्रह्मसूत्रशाङ्कर-भाष्यम्, २।२।३७)।

६ चेतनाधिष्ठितमचेतनं प्रवर्तत इति, यथा योगानामीश्वरवादिनाम्। ब्रह्मसूत्र-शङ्करभाष्यभामती, २।२।२)।

७ तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्। (योगसूत्र १।२५)।

८ सामान्यमात्रोपसंहारे च कृतोपक्षयमनुमानं न यिशेषप्रतिपत्तौ समर्थम्, इति तस्य संज्ञादिविशेषप्रतिपत्तिरागमतः पर्यन्वेष्या। (योगसूत्रभाष्य, १।२५)।

९ योगसूत्रभाष्यतत्त्ववैशारदी, १।२५।

१० स भगवानीश्वरः प्रसन्नः सन् अन्तरायरूपान् क्लेशान् परिहृत्य समाधिं सम्बोधयति (योगसूत्र-भोजवृत्तिः, २।४५)।

११ द्रष्टव्य, Indian Philosophy Vol II, p. 370.

१२ द्रष्टव्य, The Essentials of Indian Philosophy, p. 125.

१३ द्रष्टव्य, Indian Philosophy, Vol. II, p. 369.

१४ द्रष्टव्य, योगसूत्रभाष्यम् एवं तत्त्ववैशारदी, १।२४।

१५ द्रष्टव्य, योगसूत्रभाष्यम्, १।२४, २५।

१६ द्रष्टव्य, तत्त्ववैशारदी, १।२५।

१७ द्रष्टव्य, योगसूत्रभाष्यम्, एवं तत्त्ववैशारदी, १।२४।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

१८ द्रष्टव्य, योगसूत्रभाष्यम् १।२५।२६ ।

१९ द्रष्टव्य, योगसूत्रभोजवृत्तिः १।२५,

२० द्रष्टव्य, योगसूत्रम्, १।२३; २।४५ ।

२० A द्रष्टव्य, योगभाष्यम् १।२३, २५; ३।६ ।

२१ द्रष्टव्य, ऊपर टिप्पणी १० ।

२२ द्रष्टव्य, योगसूत्रभाष्यम् एवं तत्त्ववैशारदी, १।२७ ।

२३ द्रष्टव्य, योगसूत्रभाष्यम्, १।२८, २९ ।

२४ द्रष्टव्य, ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्, २।२।४१ ।

२५ सुगममुपायान्तरम् । (योगसूत्रभोजवृत्तिः १।२३) ।

२६ द्रष्टव्य, ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्, २।२।३७-४१ ।

२७ द्रष्टव्य, Encyclopaedia of Religion and Ethics, Vol XII, p. 831.

२८ द्रष्टव्य, Outlines of Indian Philosophy, p. 282.

२९ द्रष्टव्य, ऊपर टिप्पणी २७ ।

३० द्रष्टव्य, Indian Philosophy, Vol. II, p. 371.

३१ द्रष्टव्य, Outlines of Ihdian Philosophy, p. 268.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

जरथुस्त्र और उसका पारसीक धर्म

श्रीधर पाठक, शोधछात्र

प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

अफगानिस्तान से पश्चिम और उत्तर के जिस भाग को वर्तमान में "ईरान" कहा जाता है प्राचीन काल में उसे लोग "पारसीक देश" या "फारस" नाम से जानते थे। ई० पू० सप्तम अथवा प्रारम्भिक षष्ठ शती में इस प्राचीन पारसीक देश में एक महान् धर्म सुधारक अवतरित हुआ जिसने असभ्य ईरानियों को सभ्य बनाने का सफल प्रयत्न किया। आधुनिक उत्तर पूर्व ईरान, जो उन दिनों बेबीलोनिया और पश्चिमी ईरान के सभ्य भागों के सम्पर्क में न था, उसका कर्मक्षेत्र था। उस महान् धर्म सुधारक ने, जिसे विश्व जरथुस्त्र[1] नाम से जानता है, अर्धनग्न जातियों को जो धर्म उपदिष्ट किया वह आगे चलकर न केवल ईरान का राजधर्म बना वरन् ईरान से बाहर भी प्रकाशित हुआ। जरथुस्त्र के धार्मिक उपदेशों ने ख्रीष्ट मत, इस्लाम धर्म और ग्रीक विचारों के उत्तरकालिक विकास को प्रभावित किया।

देवदूत जरथुस्त्र

ईरानी जनश्रुतियों, जिन्हें पूर्ण प्रमाण नहीं माना जा सकता, के अनुसार महान् देवदूत जरथुस्त्र ईरान में अलक्षेन्द्र की शक्ति स्थापना से २५८ वर्ष पूर्व जीवित्त था जिसका अर्थ है कि ईरान पर अलक्षेन्द्र की विजय से २५८ वर्ष पूर्व (अलक्षेन्द्र ने ३३० ई० पू० ईरान में अपनी शक्ति स्थापित कर ली थी) जरथुस्त्र के जीवन की कोई मुख्य घटना हुई। यह घटना जरथुस्त्र को प्रथम बोध प्राप्ति भी हो सकती है जो उसकी ३० वर्ष की अवस्था में घटित हुई थी अथवा ४० वर्ष की अवस्था में जब उसने प्रथम उपदेश दिया था अथवा इससे दो वर्ष बाद जब राजा हिस्तास्य (विस्ताष्य) उसका शिष्य हुआ था। परम्पराओं के अनुसार देवदूत ७७ वर्ष तक जीवित रहा।

लगभग ३० वर्ष की आयु में जब वह यौवन के शिखर पर था, उसने पूर्वी ईरान के अर्धनग्न कबीलों को सभ्य बनाने का कार्य हाथ में लिया किन्तु १० वर्षों तक उसका भ्रातृज "मध्यमान" ही उसका एकमात्र शिष्य और अनुयायी था। परम्पराओं के अनुसार प्रायः दो वर्षों बाद, जो बहुत अधिक विश्वस्त समय नहीं कहा जा सकता, राजकुमार विस्तास्थ ने जो ताजिकिस्तान और उत्तरी बलूचिस्तान का राजा कहा जाता है, इस महान् देवदूत से धर्मदीक्षा ली। विस्तास्य को अपना शिष्य बनाने में जरस्थुस्त्र को भयंकरतम तांत्रिक युद्धों से गुजरना पड़ा। विस्तास्थ के शिष्यत्वग्रहण के साथ ही जरथुस्त्र को अनेक स्थानों

[1] प्राचीन ईरानी भाषा में इसे जरथुस्त्र कहा जाता था, नयी फारसी में इसे जरदुश्ति Zaradushi कहते हैं। अंग्रेजी में जोरोस्टर Zoroster है जो जरथुस्त्र का विरुद्ध हुआ ग्रीक नाम है।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

से निमन्त्रण मिले जिनमें महान देवदूत को औत्सुक्य और चिन्ता के स्पष्ट लक्षण दृष्टगत हुए थे। उसनें अपने कवीले की कई प्रथाओं को पूर्वी ईरान के कवीलों में प्रस्थापित किया। उन्हें कृषि कर्म की ओर उत्प्रेरित करने तथा यायावरीय जीवन से मुक्ति दिलाने के लिए प्राणों की बाजी लगाई। अपने सुधारों के माध्यम से उस महान् देवदूत ने प्राचीन ईरानी विश्वासों को धार्मिक स्वरूप प्रदान किया।

गाथा (जो अवेस्ता का ही एक अंग है और जिसे देवदूत ने स्वयं प्रणीत किया था) की उत्तरकालीन परम्पराओं में जरथुस्त्र को एक अलौकिक पुरुष मान लिया गया। उसे प्राचीन काल के एक विधिज्ञ यीम का क्ष्वरेनंह (प्रा० फारसी-फर्नह) अर्थात् गर्व कहा गया है। उसके सत्कर्मों से क्रुद्ध देवस् (प्राचीन फारसी में जिसका अर्थ दैत्य या राक्षस होता है) उसे मार डालने के लिए सदा खोजा करते थे। अहुरमज्दा और अमेशस्पेन्तस उसके मुख्य सहयोगी हुए जिनके सम्मुख उसने अपने मत का उपदेश दिया था। उसने वैकिटचा और सीस्तान की धार्मिक यात्रा की। उसके सुधारों के कारण जरथुस्त्र का सामूहिक विरोध किया गया। ऐन्द्र जालिक और माया भिचारी के धर्मशास्त्री उसके घोर शत्रु हो गए। राजकुमार विस्तास्थ स्वयं उसका शत्रु था किन्तु दैवी शक्तियों द्वारा उसने राजकुमार तथा उसकी सेना को अपने बश में किया। इतना ही नहीं वह राजकुमार के एक मन्त्री जिसका नाम "जमस्प" था के साथ अपनी पुत्री पौरुचिस्त का विवाह करने में भी सफल हुआ। विर्धमियों से देवदूत का भयंकर संघर्ष निरन्तर गतिशील था। एकवार शक्ति प्रदर्शन के दौरान, जहाँ धर्म परिवर्तन का संस्कार हो रहा था वहीं पवित्र वेदिका के निकट विरोधी ऐन्द्रजालिक पुरोहितों द्वारा वह मार डाला गया।

इस देवदूत के जीवन के विषय में प्राप्त जानकारी यद्यपि पूर्ण प्रमाणिक नहीं कही जा सकती किन्तु उसकी ऐतिहासिकता में सन्देह के आधार भी नहीं हैं।

मृत्योपरान्त जरथुस्त्र की प्रशंसा में अनेकों लेख रचे गए। कहा गया कि उसके जन्म के समय पृथ्वी प्रसन्न हुई और मानव रुप में पृथ्वी पर निर्विघ्न विचरण करने वाले राक्षस छिप गए। वह अहुरमज्दा तथा उसके साथियों की मदद और अहरिमान के विनाश के लिए हंसते हुए पृथ्वी पर अवतरित हुआ था। वह समस्त पुरोहितों, योद्धाओं और अश्ववारों में श्रेष्ठ था। वह चिकित्सा विज्ञान एवं विविध प्रकार की ललित कलाओं में पारंगत था। इन तथ्यों की सूचना हमें ९वीं शती की "पहलवी धर्म पुस्तकों" से प्राप्त होती है। यह मीडिया देश (पश्चिमी ईरान के मगी कबीले के 'पौरुशास्य' नामक प्रभावशाली व्यक्ति का पुत्र था। महान इतिहासकार हेरोडोटस ने मगी लोगों को मीडियावासियों में श्रेष्ठ (नोवुल्स) कहा है। इनके और भारतीयों के नामों में काफी हद तक साम्य मिलता है। यें ज्योतिष, सामुद्रिकशास्त्र और इन्द्रजाल में पारंगत होते थे। यद्यपि अवेस्ता में इस कवीले की चर्चा नहीं के वरावर है। इस कवीले की दो मुख्य प्रथाएं जो संभवतः पहले मध्य एशिया में प्रचलित थीं, जरथुस्त्र के वाद उसके धर्म में सम्मिलित कर ली गयीं। वे थीं:—

१—शवों का खगों के लिए परित्याग

२—कौटुम्बिक विवाह

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

ईरान के सासानी युग में प्राप्त होने वाली विश्वास की महान एकता जरथुस्त्र द्वारा प्रणीत क्रान्ति का अन्तिम चरण था।

पश्चिम में जरथुस्त्र को सदा ही महान् समझा गया। यूरोप में उसकी पहली चर्चा प्लेटो ने की। उसे कभी कभी महान ग्रीक दार्शनिक गणितज्ञ पेथागोरस से भी अधिक महत्व दिया गया। प्रकृति विज्ञान ज्योतिष और अभिचारतन्त्र में उसके नाम पर अनेक पुस्तकें ग्रीक भाषा में प्रकाशित की गयीं। ज्यूस और ईसाई उसकी गणना अपने देवदूतों में करते थे। मध्यकाल में वह एक महान जादूगर के रुप में प्रसिद्ध हुआ। लगभग १८वीं शती के अन्तिम चरण में उसका वास्तविक चित्र विद्वानों के सम्मुख आया। उसके जीवन एवं कर्म क्षेत्र के बारे में प्राप्त जानकारी अन्तिम नहीं हैं।

जरथुस्त्र का सुधारः—

मूलरुप में उससे पूर्व प्रचलित समस्त धार्मिक विश्वासों का निषेध था। इस निषेध की सीमा में न केवल धार्मिक प्रथाएँ थीं वरन् देवता भी थे। केवल अहुरमजदा और अमेश स्पेन्तस ही इस निषेध से बच सके जो कि बाद में जरथुस्त्र के धर्म में सम्मिलित कर लिए गए। देव प्रतीकों का प्रयोग एवं शवाधि प्रथा दो अन्य प्रथाएं थीं जो जरथुस्त्र द्वारा आत्मसात कर ली गयीं। हेरोडोटस ने अपने समकालिक ईरान के धार्मिक जीवन का विवरण इस प्रकार दिया है—

'ये (ईरानी) पर्वत की चौटियों पर चढ़ जाते हैं और गगन के एक मात्र देव ज्यूस (द्यौस) के लिए यज्ञ करते हैं वे सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, अग्नि, जल और वायु के लिए भी यज्ञ हवन करते हैं।'

इस विवरण में ईरान के धर्म की वैदिक धर्म से आश्चर्य जनक समानता प्रतीत होती है। अधिकांश पारसीक उपलिखित ज्यूस को "द्यौस पितर" कहते हैं। हसामनी राजवंश के लेखों के अनुसार दारा का मुख्य देवता "अहुरमजदा" था जैसा कि जरथुस्त्रवादी भी मानते हैं। यह अहुरमज्द वश्न (सर्वज्ञ) और वशत्रह (सर्व शक्तिमान) था। पहले ऐसी आशंका प्रकट की जाती थी कि दारा का मज्दाबाद वह धर्मावस्था थी जिसमें किसी प्रबल सुधारक के नेतृत्व में जरथुस्त्र वादी धर्म उदित हो सकता था। यह भी शंका प्रकट की जाती थी कि हो सकता है कि दारा के समानान्तर जरथुस्त्र का धर्म वर्तमान रहा हो किन्तु सम्पूर्ण ईरान में वह मान्य न रहा हो। अब ये आशंकाएं निर्मूल सिद्ध हो चुकी हैं जिसका आधार भाषा विज्ञान है। दारा के अभिलेखों की भाषा से गाथा और अवेस्ता की भाषा आद्य है। छन्दीकरण, उच्चारण और प्रवाह इन तीनों दृष्टियों से जरथुस्त्र की भाषा वैदिक भाषा के निकट है। गाथा की भाषा पुरोहित की बोल चाल की भाषा थी तथा अवेस्ता उसका परिष्कृतरुप। भाषा विज्ञान ही वह आधार है जिससे जरथुस्त्र को दारा से पहले का माना जाता है इसलिए यह कहा जाता है कि दारा प्रथम (५२२-४८६ ई० पू०) का अहुरमज्दा "गाथा" के "मज्दाः अहु" (परमज्ञान=कैवल्य) का ही रुपान्तर है।

पश्चिम एशिया के धर्म में अहुरमज्दा का विशेष महत्व था और वह पारसीक धर्म का एक प्रमुख देवता था। इसके प्रमाण हमें असीरियन श्रोतों से भी मिलते हैं। अहुर

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

के साथ सात इंगीगी या सात शुभ देवों का उल्लेख है जिन्हें हम अमेश स्पेष्टस से मिला सकते हैं। इसकी तुलना वैदिक वरुण तथा उनके साथी आदित्यों से भी की जा सकती है। ऐसा प्रतीत होता है कि जरथुस्त्र ने अपनी धार्मिक व नैतिक शिक्षाओं में भारत और ईरान में प्रचलित ऋषि महर्षियों की व्यापक शिक्षाओं को आत्मसात कर लिया। यदि हम गाथा की तुलना वेदों से करें और प्राचीन ईरान के धार्मिक विश्वासों के परिप्रेक्ष्य में उनका अध्ययन करें तो जरथुस्त्र के धर्म को समझने में बहुत अधिक सरलता होगी। सम्मिश्रण की विशिष्ट प्रक्रिया के फलस्वरुप प्रौढ़ जरथुस्त्र धर्म में मिश्र (मित्र या सूर्य—प्रकाश का देवता) अनाहित (जल देवी या महान माँ, आद्याशक्ति) और होम (होम या यज्ञ) देवों को मुख्य स्थान दिया गया। जरथुस्त्र के धर्म में द्रुज (अवेस्तिक रूप डाजग) जिसका अर्थ असत्य होता है, के प्रति घृणा प्रदर्शित की गई है। जरथुस्त्र ने उन सभी देवों तथा यज्ञों को जिन पर कविस् अर्थात् जरथुस्त्र के पहले के ऐन्द्रजालिक धर्मशास्त्री, आचरण कर रहे थे, अपने धर्मतन्त्र से निषिद्ध कर दिया। अपने परिवेश के बहुदेववादी धार्मिक वातावरण में वह किसी अद्वैतवादी देव की खोज में था। उसने प्रचलित विश्वासों को निखार कर देवत्व प्रदान करने का प्रयत्न किया।

सिद्धान्त :

जरथुस्त्र के सिद्धान्तों का दर्शन हमें "यश्न" के तीसवे परिच्छेद में होता है जिसके अनुसार आदितत्व ने आदि बेला में अपने द्वैत स्वरूप को व्यक्त किया। यह द्वैत है मन वचन और कर्म में शुभ और अशुभ की कल्पना। शुभ का प्रतीक अहुरमज्द है और अशुभ का अहरिमान। प्रारम्भ से ही अहरिमान अहुरमज्द का विध्वंस करना चाहता है अहुरमज्द अहरिमान को अहुनवैर्य नामक प्रार्थना शास्त्र से आहत करता है किन्तु दोनों के युद्ध का अन्त कभी नहीं होता। एक ऐसा समय कभी आयेगा जब इन दोनों तत्वों में सन्धि स्थापित होगी किन्तु तब अहुरमज्द की विजय होगी। पवित्र प्राणी अहुरमज्द का तथा पतित जन अहिरमान का साथ देंगे। विश्व इन्हीं दो श्रेणियों में सदा विभाजित रहेगा। यही जरथुस्त्र के नैतिक आदर्श का मुख्य तत्व है। अपने कल्याण के चुनाव में व्यक्ति विधि (अस अथवा अश) का पालन करता है। इस प्रकार शुभदेव अहुरमज्द की द्रूज अंग्रमन्यु पर विजय का पथ प्रदर्शित करते हैं। द्रुज अंग्रमन्यु पाप का प्रतीक है। शुद्ध मस्तिष्क से प्रेरित हो व्यक्ति द्रुज (दुबुद्धि, पाप) के विपरीत खड़ा होता है। वह द्रुजदेव, द्रुज पुरोहित (कवि कर्पण) द्रुज आभिचारिक (यातुधान) तथा द्रुज आत्मा (परी) को भी नीचे दबा देता है वह ज्ञान (आरमैती) की भावना से विधि (अश) का पालन करते हुए आचरण करता है। इस प्रकार वह इहलोक तथा परलोक (वहिस्तमन) में आशीर्वाद (आशी अदा) प्राप्त करता है और अहुरमज्द की कृपा प्राप्त करता है। इस तरह जब अहुरमान, (अहरिमान या अहिरमान रूप भी मिलते हैं) पर अहुरमज्द की विजय हो जायगी, शुभ अशुभ का द्वैत मिटकर अद्वैत में परिवर्तित हो जायगा जो आचार्य शंकर के परमानन्द के समान होगा। किन्तु ऐसा होगा कब इसकी चर्चा पारसीक धर्म ग्रन्थों में नहीं है। सत्य असत्य का यह युद्ध शाश्वत है।

जरथुस्त्र ने सम्पूर्ण सृष्टिकाल को (३००० वर्ष प्रत्येक के) चार युगों में विभाजित किया। अवेस्ता की काल गणना के अनुसार ३००० वर्षों का प्रथम युग आत्मा के

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

अस्तित्व का युग है। इस युग में अहरिमान पुष्ट रहता है और अहुरमज्द (या आरमज्द) विश्व को अहरिमान से युद्ध के लिए आत्मिक रुप से तैयार करता है। इसी युद्ध में जब अहरिमान अपने शत्रु को खोज लेता है तो राक्षसों और दृष्ट आत्माओं की एक सेना खड़ी करता है। ३००० वर्षों के दूसरे युग में आरमज्द या अहुरमज्द विश्व का भौतिक रूप निर्मित करता है इसी समय अहरिमान और उसके साथी अहुरमज्द पर आक्रमण करते हैं। तीसरा युग प्रारम्भ होते ही दोनों प्रतिद्वन्दियों में मानव आत्मा पर विजय पाने के लिए भयंकर संघर्ष छिड़ जाता है। दोनों में यह युद्ध तब तक छिड़ा रहता है जब तक कि जरथुस्त्र का जन्म नहीं हुआ रहता। बाद में जरथुस्त्र और उसके तीनों पुत्रों के पैदा होते ही ३००० वर्षों का चतुर्थ और अन्तिम युग प्रारम्भ होता है। जरथुस्त्र तथा पवित्र आत्माओं की मदद से आरमज्द विजयी हो जाता है। इस युद्ध का मुख्य तत्व मानव होता है वह जिधर चाहे अपना चुनाव कर सकता है किन्तु देवदूत की मदद करने के लिए वह उसका ही पक्ष ग्रहण करता है।

पूजा पद्धति :—

जरथुस्त्र द्वारा प्रचलित धर्म की पूजा पद्धति हिन्दू पूजा पद्धति के अधिक निकट है इसे एक प्रकार से "अग्निपूजा" नाम दिया जा सकता है जरथुस्त्रवादी धर्म के मन्दिर में एक कलश रहता है जिस पर पवित्र अग्नि सदा जलती रहती है। इस अग्नि पर समय समय पर सुगन्धित अगुरु छिड़का जाता है दिन में पाँच बार पुरोहित (भोबेद) इस मन्दिर में प्रवेश करता है पुरोहित का मुख एक कपड़े से जिसे पोथीदान कहा जाता है ढंका रहता है। यह इसलिए किया जाता है कि उसकी श्वास की दुर्गन्ध उस स्थान की पवित्रता को नष्ट न कर सके। इसी प्रकार उसके हाथों में दस्ताने लगे रहते हैं। वह अग्नि में चन्दन डालता है। वह तीन बार दुजमथ (दुश्मति-दुवुद्धि) दुजहुक्त (दुष्ट उक्ति-दुर्वचन) तथा दुजवर्श्त (दुष्कर्म) के नाश के मन्त्रों का पाठ करता है जिसका तात्पर्य है कि दुर्विचार दुर्वचन तथा दुष्कार्य का त्याग हो इस धर्म को मानने वाले प्रत्येक परिवार के गृह में ऐसी पवित्र अग्नि अवश्य होती है। साथ ही प्रतिदिन अवेस्ता के कुछ पवित्र श्लोंको का पाठ अवश्य किया जाता है। प्रत्येक मास तथा दिवस के पृथक् देवता होते हैं। सबसे प्रमुख त्योहार नवरोज या नववर्ष का होता है जिस दिन सबसे विस्तृत भोज दिया जाता है। इसके अतिरिक्त ऋतुपरिवर्तन की सन्धि पर, पूर्णिमा तथा प्रतिपदा के दिन भी इस प्रकार के त्योहार मनाए जा सकते हैं। यज्ञ में प्रधान हविरोटी होती है। इसके अतिरिक्त होम (सोम) का भी यज्ञ किया जाता है। जन्म के समय ही बच्चे के होठ में होम (सोम) लगाया जाता है किन्तु बच्चा तब तक पूर्ण जरथुस्त्रवादी (पारसीक) नहीं हो सकता जब तक कि १५ वर्ष की अवस्था में उसे मेखला (कुसती) नहीं पहना दी जाती जिसे वह सदा पहनता है। यह एक प्रकार का संस्कार है जिसकी तुलना हम वैदिक उपनयन संस्कार से कर सकते हैं। इसी समय किशोर अपने गुरु (रतु) का भी चुनाव करता है इनकी विवाह प्रणाली लगभग आर्य पद्धति के समान है।

पारसीक धर्म का ऐतिहासिक विकास :—

जरथुस्त्र की मृत्यु के उपरान्त उसका धर्म दक्षिण पूर्व में अफगानिस्तान और पश्चिम में भीडिया तक फैला। जरथुस्त्र से पहले के दो देवों मित्र और अनाहित को अखामनी

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

काल में पूर्ण देवत्व प्राप्त हुआ और अहुरमज्द श्रेष्टतम देव माना जाने लगा। अग्रमेन्यु द्वारा इसके विरोध का सिद्धान्त इसी काल में पूर्णता को प्राप्त हुआ। अखामनी राज दरवार में अत्यधिक शक्तिशाली "मनीधर्म" के सभी सिद्धान्त जरथुस्त्र के सिद्धान्तों से मेल खाते हैं। लगता है कि दोनों के नाम अलग हैं किन्तु धर्म एक ही था यद्यपि कहीं भी न तो दारा के प्रस्तरलेखों में जरथुस्त्र की चर्चा आयी है न जरथुस्त्र धर्म के लेखों में कहीं दारा की चर्चा आयी है और न ही हेरोडोटस ने जरथुस्त्र की चर्चा की है।

इसके बाद पार्थियेन साम्राज्य (२४७ ई० पू० २२४ ईस्वी तक) में जरथुस्त्र के धार्मिक सिद्धान्तों का प्रभाव नहीं के बराबर था।

२२४ ई० पू० के बाद जब फारस की राजसत्ता फारस के ही देशी सासानी राजवंश के हाथों में आयी, जरथुस्त्र का धर्म राजधर्म घोषित कर दिया गया। इसे राजा दुरमान और इरमान ने स्वीकार किया। यह आरमीनिया कप्पाडोसिया और मध्य पूर्व के सम्पूर्ण भागों में फैल चुका था। इस धर्म के पुरोहितों को राज्य व्यवस्था में उच्च स्थान प्राप्त हुए। (न्याय) व्यवस्था इन्हीं के हाथो में थी। मीडिया के "रई" नामक मुख्य धर्मपीठ का "महाधर्मस्थविर" राजा के बाद शक्ति का द्वितीय केन्द्र बन बैठा। इसी काल में अवेस्ता को संगृहीत करके उसे अन्तिम रुप से सम्पादित किया गया। देशी भाषा पहलवी में उसका अनुवाद किया गया। "द्वैतवाद" या "नज्दावाद" को जिसका विकास अखामनी काल से हो रहा था, इसी समय पूर्ण विकास प्राप्त हुआ और उसे अन्तिम रुप से स्वीकार किया गया।

सप्तम शती ईस्वी के द्वितीय चरण में जब इस्लामी देवदूत मुहम्मद रसूल के धार्मिक अनुयायियों ने ईरान पर आक्रमण किया और तलवार के बल पर ईस्लाम का प्रचार शुरु किया यह धर्म ईरान में अपना अस्तित्व बनाए न रख सका। लगभग दो सौ वर्षों तक किसी तरह दोनों धर्मों में संघर्ष बराबरी का रहा किन्तु ८वीं से १०वीं शती ईस्वी के मध्य घोर धार्मिक अत्याचारों के काल में जरथुस्त्र के अनुयायियों ने ईरान छोड़कर भारत में शरण ली और भारत के पश्चिमी तट पर बस गए। आधुनिक बम्बई में अब ये केन्द्रित हो गये हैं, इन्हें पारसीक कहा जाता है। ये १८वीं शती में अंग्रेजों के साथ श्रेष्ठ व्यापारी सिद्ध हुए। १९वीं शती में बम्बई के पारसी कों ने ईरान के शेष जरथुस्त्र वादियों से जिन्हें "गबर" कहा जाता था, सम्पर्क स्थापित किया। आधुनिक भारत के "पारसीक" और ईरान के "गबर" ही अब जरथुस्त्र धर्म के मानने वाले हैं। पारसीकों को वैदिक हिन्दुओं से बहुत अलग नहीं किया जा सकता। इनके धार्मिक संस्कार एवं कई सामाजिक प्रथाएं हिन्दुओं जैसी हैं।

धार्मिक साहित्य :—

जरथुस्त्र के धार्मिक उपदेश मूलतया "अवेस्ता" नामक पुस्तक में संगृहीत हैं जो ईरान की प्राचीनतम भाषा जिसे "अवेस्तन" कहा जाता है, में लिखित है। इसकी भाषा कई दृष्टियों वे वैदिक भाषा के सन्निकट है। इसे १८वीं शती तक यूरोपीय विद्वान् "जेन्द-अवेस्ता" कहते थे जबकि पारसीक इसे "अवेस्ता जन्द" कहते हैं। इस धर्म पुस्तक की कोई एक पाण्डु लिपि नहीं प्राप्त हो सकी है। इसके निम्नलिखित भाग हैं :

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

१—यश्न में देवों की याज्ञिक स्तुति ७२ परिच्छेदों में की गई है। १–२७ परिच्छेद केवल भूमिका स्वरुप लिखे गए हैं। २८–५४ परिच्छेदों को "गाथा" कहा जाता है। ५५–७२ तक के परिच्छेदों को "अपरोयश्न" (उत्तर कालिक यश्न) कहा जाता है।

२ – विस्पर्द इसमें २२ परिच्छेद हैं।

३ – वैन्दिदाद में २२ परिच्छेदों में पारसीक पुरोहितों के जाप के लिए मन्त्र है जिनमें सृष्टि का भी विदरण है।

४ - यष्ट छन्दोवद्ध कविता में देवों की १० स्तुतियाँ हैं जिन्हें स्वर लय से उच्चारित किया जाता है।

५ —खौरहद अवेस्ता: (छोटी अवेस्ता) में पुरोहितों एवं गृहस्थों के लिए लघु आकार की देव स्तुतियों का संग्रह है।

परम्पराओं के अनसार सासानी काल में अवेस्ता "२१ नष्क" में विभाजित थी किन्तु अव अवेस्ता के इतने भाग नहीं प्राप्त होते।[१]

जरथुस्त्र के धर्म का दूसरा मुख्य रुप, जिसे हम व्यावहारिक या पौराणिक रुप भी कह सकते हैं, ९वीं शती के पहलवी पाठों में निवद्ध है जिसका लेखन इस्लाम का संकट उत्पन्न हो जाने के कारण किया गया था। इनमें से कुछ महत्वपूर्ण पुस्तकें ये हैं :—

डेकर्ट :—

(धर्म के कार्य) यह जरथुस्त्र घर्म का विश्व कोष है जो मूलतया नौ खण्डों में लिखा गया था इसके प्रथम दो खण्ड अव अप्राप्य हैं। इनमें आचार, नीति, विश्वास, धर्म, चिकित्सा, सृष्टि से सम्बन्धित विवरण है। अन्तिम तीन खण्डों में जरथुस्त्र के निजी जीवन से सम्बद्ध पक्ष लिखित हैं इसके अतिरिक्त "वन्द हिश्न" "स्कन्द गुननिक विकर" "अर्त विरफ नमक" "मदिगन" "हजरदस्तन" इत्यादि मुख्य पहलवी पुस्तकें हैं जिनमें इस धर्म की मुख्य धार्मिक कथाएं निवद्ध हैं। जरथुस्त्र द्वारा उपदिष्ट "पारसीक धर्म" के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्ष पर विद्वान् अभी भी गवेषणापूर्ण अध्ययन कर रहे हैं जिससे हर बार नये नये तथ्य प्रकाश में आते हैं और कोई न कोई पुरानी धारणा गलत सिद्ध होती है। कठिनाई तब बढ़ जाती है जव कि दो विरोधी तथ्य, जो सत्य जैसे लगते हैं, एक साथ प्राप्त होते हैं।

सन्दर्भ सूची

१—करक, दोसाभाई फ्रान्जी : हिस्ट्री ऑव् पारसीज, दो खण्ड, १८८४

२—जैक्शन, ए० वी० डब्ल्यू० : जोरोस्टर, द प्राफेट ऑव् ए०श्यन्ट ईरान, १८९९

३—लेहमन्न, ई० : जरथुस्त्र, दो खण्ड, १९०२,

४—पेशोतन सयन,रस्तनजी इदुल जी दस्तूर : जरथुस्त्र एण्ड जरथुस्त्र्यनिज़्म इन द अवेस्ता, १९०६।

५—वाटर हाउस, जे० डब्ल्यू० : जोरोस्ट्रनिज्म, १९३४

६—एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, चतुर्दश संस्करण, खण्ड २३, १९२९

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

भारतीय आधुनिक कला की भावी दिशा

श्री रामचन्द्र शुक्ल

रीडर, संगीत एवं ललित कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

भारत में आधुनिक कला का सही अर्थों में प्रचलन स्वतंत्रता प्राप्ति के वाद ही आरम्भ हुआ यद्यपि उससे पहले ही स्वर्गीय रवीन्द्र नाथ टैगोर, गगनेन्द्र नाथ टैगोर, यामिनी राय तथा अमृता शेरगिल की कला में पाश्चात्य आधुनिक कला की झलकियां दृष्टिगोचर हो चुकी थीं। लेकिन स्वतंत्रता से पहले आधुनिक भारतीय कला के नाम से बंगाल शैली को हो जाना जाता था, जब कि वास्तव में बंगाल शैली मूलतया परम्परावादी अथवा पुनरोत्थानवादी 'रिवाइवलिस्ट' किस्म की कला थी। आधुनिक कला वींसवीं सदी की परम्परा विरोधी नई कला है। परम्परागत कला का विरोध स्वतंत्रता से पहले इतना खुलकर कभी नहीं किया गया यद्यपि उससे पहले एक नहीं अनेक बार भारतीय कलाकारों ने पाश्चात्य कलाओं से प्रभाव ग्रहण किया। भारत में पाश्चात्य कला का अनुगमन उसी-समय आरम्भ हो गया था जब 'ईस्ट इन्डिया कम्पनी' ने इस देश में अपनी जड़ें जमाना आरम्भ कर दिया था। कम्पनी या फिरंगी शैली की भारतीय कला उसका प्रमाण है और बाद में तो यथार्थवादी 'रियलिस्ट' किस्म की पाश्चात्य शैली का लगभग सम्पूर्ण देश में प्रचार हुआ खासकर वम्बई, मद्रास, कलकत्ता आदि महानगरियों में। राजा रवि वर्मा की कला इसी पाश्चात्य प्रभाव का प्रतिफल थी। लेकिन राजा रवि वर्मा की कला को किसी माने में भी आधुनिक नहीं कहा जा सकता था। वास्तव में यथार्थवाद 'रियलिज्म' को तो यूरोप में भी आधुनिक नहीं माना वल्कि सम्पूर्ण यूरोपीय आधुनिक कला उस समय चल रही 'रियलिज़्म' शैली के विरोध में ही प्रगट हुई। परम्परा और यथार्थवाद के विरोध से ही आधुनिक कला का यूरोप में जन्म हुआ और ऐसा विरोध भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के वाद ही उदय हुआ।

भारत में भी आधुनिक कला का उदय परम्परा और यथार्थवाद के विरोध से ही माना जाना चाहिये यद्यपि आरम्भ में विरोध का स्वर प्रमुख न होकर पाश्चात्य आधुनिक कला के वाह्य रूप से प्रभावित होने का ही अधिक था। सवसे पहले युवा कलाकारों पर अमृता शेरगिल की कला प्रभाव पड़ा। अमृता शेरगिल पेरिस से उस समय कला सीख कर आई थी जब वहाँ 'इम्प्रेश्निस्टों' 'फाविस्टो' तथा 'एक्स-प्रेश्निस्टों' का प्रभाव यथेष्ट-रूप में प्रमुख था। वानगाग, गोगाँ, मातिस, रुओ तथा मेदिग्लियानी की कला यूरोप में सराही जाने लगी थी। अमृता शेरगिल की कला में भी इन्हीं के स्वर प्रमुख थे यद्यपि विषयवस्तु की दृष्टि से तथा भावना की दृष्टि से उसकी कला भारतीय.जनजीवन से ही प्रभावित थी। रंगों के प्रयोग तथा आकृतियों की वनावट पूरी तरह उपरोक्त आधुनिक यूरोपीय कलाकारों से प्रभावित थी। अमृता के चित्रों में भी गोगाँ, रुओ तथा मोदिग्लियानी के चित्रों की तरह पूरी तरह निराश और प्रताड़ित चेहरे झाँकते थे भले ही वह योरोपीय न

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

होकर भारतीय थे। रंगों का प्रतीकात्मक तथा भावनात्मक प्रयोग लगभग गोगाँ तथा मातिस की तरह का था। जो भी हो कुल मिलाकर अमृता शेरगिल की कला ने युवा भारतीय कलाकारों को आकृष्ट करना आरम्भ किया और आज के लगभग सभी आधुनिक कलाकारों जैसे वेन्द्रे, हुसेन, हेब्बर, चावड़ा आदि ने अमृता शेरगिल की कला से प्रेरणा लेकर चित्र बनाने आरम्भ किये और यही भारत में आधुनिक कला के प्रचलन की प्रारम्भिक स्थिति थी। यह गति चल ही रही थी कि भारतीय युवा कलाकारों को विदेशों में जाने का अवसर मिलने लगा। जहाँ जो जिस देश में गया, वहाँ चल रही आधुनिक कला का प्रभाव लेकर वापस लौटा। इसी बीच पश्चिमी आधुनिक कला पर प्रकाशित पुस्तकें और पत्र प्रत्रिकायें भी यथेष्ट रूप में भारत में आने लगीं और भारतीय युवा कलाकारों पर उसका प्रभाव पड़ने लगा। कुछ ही वर्षो में पाश्चात्य आधुनिक कला का इस देश में एक प्रभावशाली विस्फोट सा हो गया और आधुनिक पाश्चात्य कला-शैलियों के संस्करण भारत में भी दिखाई पड़ने लगे। पाश्चात्य आधुनिक कला की नवीनतम शैलियों का नवीनतम संस्करण प्रस्तुत करने में यहाँ के कलाकारों में होड़ सी-लग गई। पिछले २५ वर्षों की भा तीय कला इसी बात का प्रमाण स्वरूप विद्यमान है। आज स्थिति यह है कि पश्चिमी आधुनिक कला की शायद ही कोई शैली हो जिसका भारतीय संस्करण विद्यमान न हो। इम्प्रेश्निज्म, पोस्ट इम्प्रेश्निज्म, फाविज्म, फ्यूचरिज्म, एक्स-प्रेश्निज्म, सररियलिज्म, अैब्स्ट्रैक्ट आर्ट, कान्सट्रक्टिविज्म, आप आर्ट, पाप आर्ट साइकेडेलिक आर्ट, कंसेप्चुअल आर्ट अथवा मिनिमल आर्ट, कौन सी ऐसी पश्चिमी शैली है जिसका भारतीय संस्करण यहाँ उपस्थित नहीं। इस दृष्टि से निश्चित ही भारतीय कला आधुनिक है और इसमें प्रगति भी खूब हुई है। २५ वर्ष ऐसे छोटी अवधि में भारतीय कलाकारों ने वह मंजिल तय करली है जो पश्चिम ने लगभग १०० वर्षों में तय की। इस दृष्टि से भारतीय कला की प्रगति निश्चित ही महत्वपूर्ण है। इतना ही नहीं इस दृष्टि से हमारे कलाकारों ने महत्वपूर्ण कलाकृतियों की निर्माण किया है जो स्तर में पाश्चात्य आधुनिक कला से किसी माने में कम नहीं।

दुख तो इस बात का होता है पश्चिम वाले हमारी इस प्रगति को पूरी तरह नजर अन्दाज किये हुये हैं। पश्चिम में प्रकाशित होने वाली आधुनिक कला पर आज शायद एक भी ऐसी पुस्तक नहीं जिसमें हमारे भारतीय आधुनिक कलाकारों की कला की चर्चा हो अथवा हमारी कृतियाँ अन्य पाश्चात्य आधुनिक कलाकारों के साथ प्रकाशित की गई हों। शायद ही पश्चिम में आधुनिक कला की कोई गैलरी-या संग्रहालय हो जिसमें भारतीय आधुनिक कलाकारों की कृतियाँ भी उसी शान से टंगी हों जैसे पश्चिमी आधुनिक कलाकारों की। शायद ही कभी उस प्रकार का ऊँचा मूल्य भारतीय आधुनिक कला की कृतियों को प्राप्त हुआ हो जैसा पाश्चात्य प्रसिद्ध आधुनिक कलाकारों की कृतियों को दिया जाता है। शायद ही पश्चिमी देशों में भारतीय आधुनिक चित्रों की प्रदर्शनी को कभी भी वैसा महत्व दिया गया हो जैसा वे अपनी प्रदर्शनी को देते हैं। शायद ही किसी भारतीय आधुनिक कलाकार को विदेशों में वह प्रतिष्ठा प्राप्त हुई हो जैसा वे अपने कलाकारों को देते हैं। शायद ही कभी ऐसा अवसर आया हो जब विदेशों में वहाँ के कला प्रेमियों ने भारतीय

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

आधुनिक कला को देखने में वैसी रूचि दिखाई हो जैसा वह अपने यहाँ की कला को देखते समय करते हैं। हो सकता है वे राजनैतिक व्देष के कारण ऐसा करते हों या फिर अभी भी वे भारत को एक अविकसित गरीब देश समझ कर हमारी कला प्रगति को नजर-अन्दाज कर देते हों, या फिर कभी इसमें है कि भारतीय आधुनिक कला का प्रचार जिस ढंग से विदेशों में किया जाना चाहिये वैसा हम न कर पाते हों, अपनी गरीवी के कारण। कुछ भी हो सकता है पर इतना तो मानना पड़ेगा कि विदेशों में भारतीय आधुनिक कला को वह सम्मान नहीं प्राप्त है जैसा पश्चिमी आधुनिक कला को, कारण चाहे जो हो।

इसमें तो कोई शक नहीं है कि स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय आधुनिक कला ने नानारूप ग्रहण किये हैं। दिल्ली, वम्वई, कलकत्ता, मद्रास आदि महानगरियों के अतिरिक्त अनेक प्रमुख भारतीय नगरों में आधुनिक कलाकृतियों की प्रदर्शनियां होने लगी हैं। कला विद्यालयों में भी आधुनिक कला का प्रवेष हो चुका है। पत्र पत्रिकाओं में भी आधुनिक कला पर लेख और चित्र प्रकाशित होने लगे हैं। आधुनिक शैली के ही कलाकारों को अधिकांश रूप में राज्य की ओर से तथा प्राइवेट कला संस्थाओं तथा अकादमियों की ओर से पुरस्कृत किया जाने लगा है। भारत सरकार की ओर से कई आधुनिक शैली के कलाकारों को पद्म-श्री पद्म-भूषण आदि उपाधियाँ दी जा चुकी हैं। महानगरों में और कतिपय प्रादेशिक राजधानियों में खुली अकादमियाँ भी आधुनिक कलाकारों को प्रश्रय दे रही हैं और पुरस्कृत कर रही हैं। सरकारी गैर सरकारी भवनों की दीवारों पर आधुनिक शैली के म्यूरल वनवाये जाने लगे हैं। पैसे वाले सेठ, साहूकार, अफसर तथा अनेक संभ्रान्त लोग आधुनिक चित्रों को खरीद भी रहे हैं भले-ही उनकी संख्या कम हो। वस्त्रों की डिजाइनों, पुस्तकों की डिजाइनों तथा अन्य नित्य प्रति के कार्यो में उपयुक्त होने वाली सामग्रियों में भी आधुनिक डिजाइनों का प्रचलन देखने को मिलने लगा है। आधुनिक कला की प्रदर्शनियों में आने वाले तथा रूचि-लेने वाले दर्शकों की संख्या भी कुछ वढ़ी ही है किन्तु अधिकांश दर्शक आधुनिक कला को मात्र फैशन के ही रूप में स्वीकार करते पाये जाते हैं। वहुत कम ऐसे हैं जिन्हें वास्तव में आधुनिक कला की समझदारी प्राप्त हो। अक्सर सुना जाता है भाई मुझे तो इस कला का सींग पूंछ कुछ भी समझ में नहीं आता, हाँ आप-लोग समझायें तो शायद कुछ हमारे भी पल्ले पड़े।" साधारण जनता अथवा मध्य वर्गीय परिवार के लोगों की स्थिति तो और भी अलग है। उन्होंने तो फैशन के रूप में भी इसे अभी तक स्वीकार नहीं किया है। छोटे नगरों को तो जाने दीजिये वड़े नगरों में आयोजित प्रदर्शनियों में भी आम जनता की दिलचस्पी नहीं देखी जाती। कला-दीर्घाओं में अधिकतर स्वयं कलाकार, कला के छात्र अथवा कला समीक्षक ही घूमते नजर आते हैं और वह भी अधिकांशतः अन्य कलाकारों की कृतियों की आलोचना करते ही देखे जाते हैं। कुछ थोड़े से भाग्यशाली कलाकारों को छोड़कर शायद ही कोई कलाकार हो जो आधुनिक कलाकृति बनाकर अपनी आजीविका चला पाता हो। अधिकांश आधुनिक कलाकार वह है जो आजीविका के लिये कुछ अलग ही पेशा करते हैं। अधिकांश आधुनिक कलाकार ऐसे हैं जिनकी शायद ही कोई कलाकृति विक पाती हो। कलाकृति को वेचने के लिये वड़े-वड़े दाँव पेंच लगाने पड़ते हैं और जिनकी कलाकृतियाँ औरों से अधिक विक्

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

पाती हैं उन्ही को औरों से महत्वपूर्ण कलाकार समझा जाता है, उन्हीं का प्रचार भी पत्र पत्रिकाओं में अधिक हो पाता है। आधुनिक कलाकारों में ऐसे कलाकारों की ज्यादा संख्या हैं जो हर समय इसी बात का पता लगाने में लगे रहते हैं कि बाजार में किस आधुनिक शैली के चित्र बिकने की ज्यादा गुंजाइश है और तुरत वह उस शैली में चित्र बनाकर बेचने का प्रयास करते हैं। जैसे राजनीति के क्षेत्र में 'आया राम और गया राम' की प्रवृत्ति देखी गई है वैसे ही आधुनिक कलाकार भी वर्ष भर में अनेक पलटे खाते हैं, अनेक ढंग से कलाकृतियाँ निर्मित करके। ऐसा लगता है जैसे इन कलाकारों ने कला को मात्र एक व्यापार समझ लिया है और जानते ही नहीं कि कला का वास्तविक उद्देश्य क्या हैं। इतना ही नहीं जिस शैली में या जिस शैली की नकल करके वे चित्र बनाते हैं उसके बारे में भी उनको वास्तविक जानकारी नहीं रहती। अपनी शैली निकालना या अपने ढंग से अपनी भाषा तथा तकनीक मे अपने भावों की अभिव्यंजना करना तो दूर की बात है। यदि यह बात सही है तो वास्तविक है हमारे मन में प्रश्न उठना कि भारत में कला के क्षेत्र में यह भ्रमपूर्ण (कंफ्यूज्ड) स्थिति कबतक चलती रहेगी और क्या इसका कोई औचित्य भी है ? इस सबके कहने का मेरा यह तनिक भी तात्पर्य नहीं है कि आधुनिक कला के क्षेत्र में दायित्वपूर्ण कलाकार हैं ही नहीं पर उनकी संख्या पहले तो बहुत कम है और हैं भी तो उन्हे अभी महत्व प्राप्त ही नहीं हुआ है ! शायद यह ही वह कलाकार हैं जिनसे भावी आधुनिक भारतीय कला को नई दिशा और दृष्टि प्रदान होगी।

आधुनिक कला की उपरोक्त तस्वीर निश्चय हो बड़ी चिन्तनीय है किन्तु इस परिस्थिति में जो कुछ हुआ वह स्वाभाविक, अवश्यंभावी और कई अर्थों में आवश्यक था। इससे बचा नहीं जा सकता था। जो होना था वही हुआ है इससे घबराने की आवश्यकता नही है सूक्ष्म दृष्टि से इसका भी मूल्यांकन करने की आवश्यकता है।

सबसे महत्वपूर्ण बात यह हुई है कि भारतीय कलाकारों ने अपने इस अवधि में अपने को घिसीपिटी परम्परा अथवा रूढ़ि से मुक्त कर लिया है जो भावी प्रगति के लिये नितान्त आवश्यक था। कभी-कभी परम्परा प्रगति के रास्ते में बेड़ी बनकर उपस्थित होती हैं और यह प्रसन्नता की बात है कि भारतीय कलाकार ने उस बेड़ी को पूरी ताकत से काट दिया है।

परम्परा की बेड़ियों को काटने के बाद यह आवश्यक हो जाता है कि कलाकार यह जानने का प्रयास करे कि संसार भर में कला ने किन किन रूपों में प्रगति की है और इस क्षेत्र में कोन-कौन से नये तथ्य सामने आये हैं। भारतीय कलाकर ने पिछले २५ वर्षों में संसार भर की कला प्रगति का सर्वेक्षण कर डाला है और वह अब पूरी तरह अवगत हो चुका हैं कि संसार भर में कला की गतिविधि क्या है। वह पहले से बहुत अधिक सजग है और प्रबुद्ध हो गया है। उसकी जानकारी और अनुभव बढ़ा है।

इतना ही नहीं प्राप्त नये तथ्यों के आधार पर उसने अनेक प्रकार के प्रयोग भी कर डाले हैं और यह जानने की कोशिश की है कि उन तथ्यों का कितना महत्व है कला की प्रगति में। उसका दृष्टिकोण विकसित और विस्तृत हुआ है।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

यह सब होते हुये भी यदि हमारा कलाकार पश्चिम की आधुनिक शैलियों का अंधानुकरण ही करता रहा तो वह हमारा दुर्भाग्य होगा। अब यह सब बहुत हो चुका है। अब समय आ गया है कि भारतीय कलाकार आगे बढ़कर कला के क्षेत्र में अपने अनुभव, प्रयोग और शोध के बल पर स्वयं नये तथ्य सामने रक्खे और दिशा निर्देशन का काम करें। भारत की भावी आधुनिक कला न तो परम्परा की मुहताज होगी न पश्चिमी आधुनिक कला की। परम्परा चाहे पूर्व की हो चाहे पश्चिम की, नई हो या पुरानी उससे बंधकर चलने में कला का विकास हो ही नहीं सकता। आधुनिक कला की प्रगति का जिसने भी अध्ययन किया हैं वह इसी निस्कर्ष पर पहुँचेगा कि जनतांत्रिक विचारधारा का जैसे जैसे समाज में प्रचलन बढ़ा हैं व्यक्तिगत अभिव्यंजना को महत्व प्राप्त होता गया है। अभिव्यंजना की स्वतं ता आधुनिक कला का मूल मंत्र है। प्रत्येक कलाकार को अभिव्यंजना की स्वतंत्रता है और उससे यही अपेक्षा की जाती है कि बिना किसी परम्परा में बंधे, बिना किसी शैली विशेष का पिछलग्गू बने, स्वतंत्र चिन्तन, मनन, तथा भावना के आधार पर अपनी कला के द्वारा स्वतंत्र तथा व्यक्तिगत अभिव्यंजना प्रस्तुत करें। यह तभी हो सकता है जब हम पश्चिमी आधुनिक कला का अनुसरण करना बन्द करदें। भारत की भावी आधुनिक कला इसी आधार पर चलकर अपनी दिशा प्राप्त करने में समर्थ हो सकती है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि अगले दो दशक मे आधुनिक भारतीय कला नये आयाम प्राप्त करेगी। शायद इस अवधि में हमारे कलाकार ऐसा कुछ कर सकेंगे जो अंतर्राष्ट्रीय कला क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण योगदान होगा। अब प्रेरणा के लिये हमें पश्चिम का मुँह ताकने की आवश्यकता नहीं। यदि प्रेरणा लेनी ही है तो भारतीय संस्कृति, जीवन दर्शन और कला इसके लिए पर्याप्त है मगर यह कार्य भी बड़ी सतर्कता के साथ ही करना होगा और स्मरण रखना होगा कि हमें प्राचीन कला की परम्परा में पुनः बंधना नहीं है। हमें इसके लिये अपने आधुनिक जीवन, वातावरण, समाज, सभ्यता तथा समस्याओं से ही मूलरूप से प्रेरणा प्राप्त करनी होगी और उसकी गहराइयों में जाना होगा। मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि कला को 'भारतीय-करण प्रदान किया जाय।' जिस समय हमारा कलाकार पश्चिमी आधुनिक कला तथा परम्परा अथवा बेड़ियों से मुक्त हो जायगां उस समय उसकी कला अपने आप भारतीय होगी। यह काम भारतीय-करण का सतही जामा ओढ़ लेने से नहीं होगा जैसे इधर कुछ कलाकारों ने अपने आधुनिक किस्म के चित्रों में बिना समझे बूझे तांत्रिक प्रतीकों का चित्रण कर किया है। चित्रों में केवल नाग, त्रिशूल, गणेश आदि के प्रतीकों को जहाँ तहाँ आरोपित कर कला का भारतीय-करण करना नितान्त बे-मानी है। आधुनिक कला में यदि प्रतोकों का प्रयोग करना किसी कलाकार के लिये आवश्यक होगा तो उसे आधुनिक प्रतीक ही खोजने पड़ेंगे। ऐसा ही सतही प्रयोग अन्य कतिपय कलाकाँरों ने चित्रों के बीच-बीच में किसी भारतीय लिपि को अंकित कर किया है। फिर भी भारतीय आधुनिक कलाकारों की इस प्रवृत्ति से इस बात की सूचना तो मिलती ही है कि अब हमारे कलाकारों ने निश्चय ही ऐसा महसूस करना आरम्भ कर दिया है कि पाश्चात्य आधुनिक कला का अन्धानुकरण करने के बजाय हमें अपनी कला के विकास के लिये प्रेरणा अपने ही देश की संस्कृति, सभ्यता, जीवन तथा समाज से लेनी चाहिये।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

पाश्चात्य आधुनिक कला की प्राँरम्भिक अवस्था का अध्ययन करने पर ऐसे अनेक उदाहरण मिलते है जब पाश्चात्य कलाकारों ने अन्य देशों की कला और कलागत विचार धारा से प्रेरणा ली तथा प्रभाव ग्रहण किया। यूरोप में आधुनिक कला का प्रारम्भ 'इम्प्रेश्निज्म' से माना जाता है। लगभग सभी इम्प्रेश्निस्ट कलाकार मैने, मोने, पिसारो, वानगाग, गोंगा आदि जापानी कला से प्रभावित हुये थे और कला के पूर्वीय सिद्धान्तों से परिचित हुये थे। कितने ही पाश्चात्य आधुनिक कलाकारों ने शुरू में जापानी ढंग से रंग, रेखा, आकार तथा संयोजन के सिद्धान्तों को अपनाया। सम्पूर्ण इम्प्रेश्निस्ट कला जापानी कला से प्रेरित थी मगर आश्चर्य की वात है कि 'इम्प्रेश्निस्ट' चित्रों को देखकर कोई उन्हें जापानी कला नहीं कह सकता, न यही लगता है कि उन्होंने जापानी कला का अन्धानुकरण किया। जब कि अकसर अनेक आधुनिक भारतीय चित्रों को देखकर ऐसा ही महसूस होता होता है जैसे पाश्चात्य आधुनिक कला और भारतीय आधुनिक कला में कोई अन्तर है ही नहीं। यदि चित्रकारों के नाम न देखे जाँय तो पता ही नहीं लगेगा कि चित्र भारतीय है या यूरोपीय। ऐसा पाश्चात्य यूरोपीय कला को देखकर कभी नहीं लगता। इसका कारण यही है कि पाश्चात्य कलाकारों ने प्रभाव ग्रहण करते समय कलागत मूल सिद्धान्तों को समझने की कोशिश की और उसके आधार पर मौलिक रचनायें प्रस्तुत की। कला के आन्तरिक मूल्यों को ग्रहण करने की कोशिश की न कि कला के वाह्य स्वरुपों की। मैं तो यहाँ तक मानता हूँ की सम्पूर्ण पाश्चात्य आधुनिक कला तथा शैलियाँ पूर्वीय कला के मूल-भूत सिद्धान्तों से प्रभावित रही हैं चाहे वह 'इम्प्रेश्निस्ट' हो 'फाविस्ट', 'फ्यूचरिस्ट', इम्प्रेश्निस्ट' अथवा अैब्सट्रैकशनिस्ट'! इस समय मैं इसके विस्तार में नहीं जाना चाहता यह एक अलग ही विषय है। जिसपर अलग से विचार करना होगा। मेरा तो विश्वास है कि सम्पूर्ण आधुनिक पश्चिमी कला भारतीय वेदान्तिक दर्शन से ओत-प्रोत हैं भले ही उनकी आधुनिक कलाकृतियाँ देखने में कितनी ही अलग लगती हों। यही उनकी विशेपता भी है।

———

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

पर्ल एस० बक और भारत (आत्मकथा से)

अनु०—डा० रामस्वरूप शर्मा
'रीडर' अंग्रेजी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

भारत हमेशा मेरे जीवन की पृष्ठभूमि का अंग रहा है किन्तु उसके पहले कभी भी मैंने उसको समूचा तथा प्रत्यक्ष नहीं देखा था। फिर भी जो कहानियाँ मेरे बाल्यकाल में हमारे भारतीय घरेलू चिकित्सक तथा उसकी पत्नी ने मुझे सुनाई, वह मेरे उगते स्वप्नों में गुंथ गई थी और उस देश के बारे में जो भी मुझे प्राप्त हो सका सभी मैं पहले ही पढ़ चुकी थी। बौद्धदर्शन तथा महात्मा बुद्ध के जीवन-चरित्र के माध्यम से उस देश के बारे में मैं अपने पिता से जान चुकी थी। भारत का प्रतिकूल रूप भी मैंने देखा था, शंघाई स्थित ब्रितानी कन्सेशन पर पगड़ीधारी सिक्ख सिपाही में, जिसे भाग्यहीन चीनी रिक्शेवाले को पीटने में कोई संकोच नहीं होता था यदि उसने यातायात में अवरोध किया अथवा पगड़ीधारियों की दबंग आज्ञाओं का उल्लंघन किया। भारत एकरस नहीं था। और युवा भारतीयों से मैं इंग्लैण्ड के उपनिवेशी साम्राज्य के बारे में, उसकी कुछ बुराइयों और अच्छाइयों के बारे में, जान चुकी थी।

चीन और भारत एक दूसरे से इतने असमान है जितने कि दो देश हो सकते हैं। दोनों जातियों के जीवन-दर्शन भिन्न हैं और यह इस तथ्य के बावजूद कि सम्पूर्ण मानवजाति के प्रति एक सार्वभौमिक अभिवृत्ति में दोनों की शिरकत है। दोनों ही शान्तिप्रिय हैं, पर विभिन्न कारणों से, भारतीय इसलिये कि उनके धर्म उन्हें सिखाते हैं कि जीवन-मात्र पवित्र है और कदापि विनष्ट न किया जाय और चीनी इसलिये कि उनकी उत्कृष्ट सहज बुद्धि, वंशागत और जन्मजात, यह जताती है कि युद्ध करना मूर्खता है, तथा एक बुद्धिमान व्यक्ति अपनी बुद्धिमत्ता द्वारा अभिभावी होता है। इस प्रकार चीनियों ने अपने खून तक में अपने सभी आक्रामकों को स्वीकार कर लिया है जहाँ तक आक्रामकों ने स्वयं को करने दिया। उदाहरणार्थ यहूदियां ने शताब्दियों तक चीन में शरण ली। वे सर्वप्रथम भारत होकर और प्राचीन व्यापार-मार्गों के रास्ते एशिया माइनर से आये तथा काइफेंग-फू में अपना मुख्यालय बनाकर होनान के अन्त:प्रान्त में बस गये। तथापि चीन में एक अलग जाति के रूप में यहूदियों का कोई निशान शेष नहीं है। चीनियों ने उन्हें कभी भी प्रताड़ना नहीं दी। इसके बजाय विशुद्ध सहृदयता तथा सक्रिय वाणिज्य-विनिमय द्वारा उनको आत्मसात कर लिया और लाभान्वित हुये। प्राय: चीन में जब मुझे कोई असाधारण प्रतिभा का कलाकार मिलता या मेरे विद्यार्थियों में कोई ऐसा जिसका मस्तिष्क औरों से अधिक प्रखर होता, तो बहुत कुछ सम्भावना यह होती कि उसमें यहूदी खून है। यह सर्जनात्मक प्रवृत्ति है। मुझे याद है एक बार न्यूयार्क में एशिया मैगजीन के पास एक पोर्टफोलियो आया जिसमें बने रेखाचित्रों पर विभिन्न नामों के हस्ताक्षर थे। सम्पादक ने प्रकाशन के लिये उनको चुना जो उसकी समझ में सर्वोत्कृष्ट थे और बाद में उसे मालुम हुआ कि एक को छोड़कर बाकी सभी

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

रेखाचित्र एक ही कलाकार के थे, वह था एक युवा चीनी यहूदी। परन्तु चीन में बसे यहूदियों की कहानी मैं पहले ही अपने उपन्यास पियोनी में सुना चुकी हूँ। इंगलैण्ड में यह द बौण्डमेंड के नाम से है।

भारत में यहूदियों को आत्मसात नहीं किया गया। आत्मसात करना भारत का तरीका नहीं है। उसके बजाय उसनें जातियों को अलग-अलग हालांकि अपने सम्पूर्ण का एक भाग रहने दिया है। इस प्रकार पारसी लोगों की समृद्ध और प्रभावशाली जाति जो सदियों पहले फारस से आये थे अक्षुण्ण बनी है, उनका धर्म अब भी अग्निपूजा है और उनके कब्रिस्तान, बम्बई महानगर के समीप भव्य टावर्स आव साइलेंस और भारत के दक्षिण में है काले यहुदी जो इतनी अधिक पीढ़ियों से भारत की धूप में तप कर कृष्ण वर्ण हो गये हैं कि उनका मौलिक रंग छूट गया है।

रंग शब्द ही मुझे याद दिलाता है उस वर्ण-विविधता की जो भारतीय जीवन है, ऐसा ही नानाविध जैसा हमारा अपना अमरीकन जन-समाज। काश्मीर जहाँ बहुत पहले योरप से आये गोरे बर्बर आक्रामक भारत में पैठे, लोग प्रायः गौंर वर्ण हैं। कपिश केशी नीलाक्षी स्त्रियों को वहाँ सुन्दरी की संज्ञा है। हाल में मेरी एक युवती भारतीय सखी ने एक काश्मीरी पुरुष से विवाह किया है जिसके बाल काले होते हुये भी आँखों का रंग साफ हरा है। काश्मीरी की त्वचा का रंग मलाई सा प्यारा होता है तथा आकृति उतनी ही क्लासिक जितनी कि यूनानी। मगर दक्षिण में त्वचा का रंग चाहे कुछ हो, भले ही इतना काला जितना किसी अफ्रीकी का, भारत की सभी जातियों को काकेशियन नस्ल का ही समझना पड़ेगा।

फिर भारत का आश्चर्यजनक तरीका है दूसरों के जीवन में असम्भावित रूप से प्रकट होने का, जैसे उदाहरणार्थ, आजकल दक्षिण अफ्रीका के जीवन में भारतीय दक्षिण अफ्रीकी तथा काले और गोरों के बीच तीसरा समुदाय बन गये हैं। इसी तरह से हमारे भारतीय घरेलू चिकित्सक। और एक चीनी बन्दरगाह में एक अमरीकन परिवार की देख-भाल के लिये भारतीय चिकित्सक क्यों ? और भारत सम्बन्धी किंवदन्तियां ठहरती हैं क्योंकि भारतीय स्मरणीय लोग हैं, नाटकीय एवं भावप्रवण तथा नाटकीय जीवन लाभ करते हुये। वर्षों पहले एक आयरलैंड की सेविका जो हमारे परिवार के साथ न्यूयार्क तथा ग्रीन हिल्स फार्म के बीच परिभ्रामी जीवनकाल में रही उसने कई वर्ष सेवा करने के पश्चात् उस समय जब हम एक भारतीय अतिथि की प्रतीक्षा कर रहे थे यह जिकर किया कि वह स्वयं एक समय भारत में थी। मेरे आश्चर्योंद्गार पर उसने कहां 'हां' और यह कि उसका पिता अंग्रेजी सेना में था और परिवार के लोग उसके साथ रहने वहां गये थे। उस समय वह केवल तीन या चार वर्ष की थी औंर बहुत थोड़ा स्मरण कर पा रही थी। इस पर मैंने पूछा; "तुम्हारे पिता को भारत कैसा लगा ?" उसका ध्यान स्पष्टतया चादरों और तौलियों की ओंर होने के कारण उसने अनमने भाव से उत्तर दिया "अच्छा तो खूब लगा उनको, बीबी जी, सिरिफ हिन्दुओं को फूंकना छोड़ के" "हिन्दुओं को फूंकना ?" मैंने दुहराया स्तम्भित होकर हां, बीबी जी", उसने कहा अन्यमनस्कता से ही "वे उन्हें गाड़ी

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

भर भर कैदी वनाते थे और उनकी समझ में यह नहीं आता था कि इनका क्या करें। पर यह बड़ा घिनौना था। यही हिन्दुओं को फूंकना, वीवीं जी।"

मुझे विश्वास नहीं हुआ इस कहानी पर और कभी भी नहीं हैं और तदुपरान्त मेरी पूछताप ने इस कहानी की प्रामाणिकता को नकारा है लेकिन इससे यह जाहिर होता है कि किंवदन्ती किस प्रकार सचाई की भांति कठोर वन सकती है। अंग्रेजों ने जुल्म तो किये हीं जसा कि सभी उसनिवेशवादी मालिकों को करना पड़ेगा यदि उनको ऐसी शक्तिशाली जातियों पर अपना जोर वनाये रखनाँ हैं जैसे भारतीय। यों है एक अंग्रेज कैप्टेन की एक प्रसिद्ध उक्ति जिसने द्वितीय विश्व युद्ध में वमों से वार्सा शहर में की गयी तवाही को सुनकर तीव्र व्यथा में चीत्कार की कि इस यूरोपीय नगर को ऐसे समझा गया है मानो वह भारत के एक पठानों के ग्राम से आगे कुछ नहीं है। ऐसा प्रतीत हुआ कि जव भी ग्रामवासी अपने उपनिवेशी स्वामियों की हुक्म उदूली करें पठानों के गांवों में वम गिराये जा सकते थे हाँला कि, जैसा कि अँगरेज ने वचाव में गम्भीरता से कहा, तव तक नहीं जव तक कि निवासियों को समय से अपने घर छोड़ने की चेतावनी न दे दी जाय।

और फिर, युद्ध के वाद, एक तरुण अमरीकी भूतपूर्व सिपाही हम लोगों का माली वना और महीनों शतावर, गुलाव इत्यादि पर साथ साथ सुखद श्रम करने के वाद मुझे पता लगा कि वह भी भारत मे रह चुका है तथा उस अनुभव का उसने जमकर आनन्द लिया था: द्वितीय विश्वयुद्ध में उसने वैदेशिक सेवा के लिये अपने को अर्पित किया था औंर उसे एशिया भेजा गया था। उसका जहाज पहले अटलांटिक के पार अफ्रीका पहुंचा और वहां से अन्तरीप का घेरा देकर गया, जर्मन पनडुब्वियों तथा जापानी पनडुब्वियों की वजह से भी, क्योंकि तव तक जापानी लोग पहले ही एक आदमी वाली या दो वाली पनडुब्वी इस्तेमाल कर रहे थे जो हात्महत्या के उद्देश्य से गढ़ी गई थी। इतनी छोटी कि जहाज से फिक सकें, यह पनडुब्वियाँ अपने लक्ष्य मित्रराष्ट्रों के जहाज को खोजने नीचे चली जाती थी। जव वह मिल जाता तव पनडुब्वी और उसमें वैठा आदमी दोनों उसमें टकरा कर ध्वस्त हो जाते। आत्महत्या इसके लिये उपयुक्त शब्द है, क्योंकि यदि लक्ष्य न मिला तो यह लघु जलयान गैसोलिन की रसद चुकता कर डालता और उसमें वैठा मनुष्य हर हालत में मर जाता। और यह भी अपरिवर्तनीय जापानी चरित्र के एक पहलू को द्योतित करता है। युद्ध के प्रथम वर्ष के दौरान गुड होप अन्तरीप की परिक्रमा करके हमारे युवा अमरीकी जाते और फिर करांची पहुँचते। तो वहां मेरा माली उतरा जैसा कि उसने मुझे वताया और चार वर्षों तक वह लाहौर, वम्वई, कलकत्ता और नई दिल्ली में रहा। वह इतना समझदार था कि उसने इस मौके की कदर की और उसने भारतीयों की जानकारी इतनी अच्छी करली लि उसे वह अपने घरों पर सप्ताहान्त मेल मिलाप में आमन्त्रित करते थे।

"वह कैसे तुम्हारा अतिथि सत्कार करते थे?" मैंने पूछा। "वह हमें अमरीकी चलचित्र दिखाने ले जाते थे।" उसने जवाव दिया। इसमें उसे कोई अजीव वात नहीं लगी। अवश्य, उसने आगे कहा, कभी कभी उसे पतुरियों को दिखाने भी ले जाया जाता

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

था। मुझे विश्वास है कि जहाँ भी वह होता वह एक सीधा और अमरीकी रहता, पेन्सिल्वैनिया के एक किसान का लड़का, स्नेही और हर भारतीय को मित्र के रूप में स्वीकारता हुआ।

"इस समय जब शान्ति है मैं भारत लौट जाना चाहूंगा" उस दिन उसने कहा जब हम लोग कमेलिया हाउस में काम कर रहे थे। "मैं देखना चाहूंगा कि क्या हो रहा है। मैं वहां मजे से रह सकता हूं।"

आप देखते हैं कैसे मानव जीवन में पैठने का भारत के पास एक तरीका है। और सोचिये कैसे आजादी के इन थोड़े वर्षों में, केवल अपनी स्वतंत्रता कायम रख कर, और हां, श्रेष्ठ व्यक्तियों को पैदा करके, भारत ने संसार को प्रभावित कर लिया है। अंग्रेजों ने जो भलाइयां की अथवा छोड़ गये उनका भारतीयों ने सदुपयोग किया है जैसे पश्चिमी संसार का ज्ञान, भूमण्डल के दोनों ओर शिक्षित पुरुषों और स्त्रियों की शुद्ध तथा नफासत से उच्चारित अंग्रेजी जबान-साक्ष्य के लिये देखिये नेहरू को तथा उनके साथ शासन-तन्त्र सीख रहे अनेकों लोग, संयुक्त राष्ट्र संघ की साधारण सभा की प्रथम महिला अध्यक्ष एक भारतीय स्त्री, और कोरिया में बन्दियों के आदान-प्रदान का इन्चार्ज एक भारतीय सेनापति जिसने सभी का विश्वास जीत लिया है। यहाँ तक कि देश के भीतर और बाहर की धमकियों तथा आरोपों ने भी नये भारत का निश्चल आत्मविश्वास नहीं बदल पाया, और अदम्य आदर्शवाद पर आधारित यह आत्म विश्वास हमारे विश्व-जीवन में व्याप्त है।

अच्छा तो मैंने १९३४ में कलकत्ते पहुँच कर भारत में प्रवेश किया और सीधे एक भारतीय मित्र के घर गई। महाद्वीप के दूसरे छोर पर दूसरा महान नगर है बम्बई, पर कलकत्ता न उतना बना-ठना है और न उतना अंग्रेजियत वाला। मैं वहां शाम को पहुंची और साइडवाक सोने वालों के फैले पड़े शरीरों के कारण प्रायः अपारणीय थे—सोने वाले थे बेघर, स्वेच्छाचारी और घुमक्कड़। और मैं मानती हूं कि पवित्र गायों द्वारा की जा रही लूटखसोट को देख कर मुझे सदमा लगा, खासतौर से सब्जी बेचने वालों की दूकानों पर, हालांकि बंगालियों की चातुरी अक्सर देवरूप गायों को भी मात देने का उपाय निकाल लेती थी।

मैं भारत क्या देखने गई थी? ताज महल नहीं, हालांकि मैंने उसे देखा जरूर वह भी चांदनी में, फतहपुर सीकरी नहीं, हालांकि उसे भी मैंने देखा ही, और न तो साम्राज्य का ऐश्वर्य, हालांकि उसे भी मैंने जरूर देखा। मैं भारत गई थी दो प्रकार के लोगों को देखने और उनकी बात सुनने, शहरों में युवा मेधावी ओर गावों में किसान। इनसे मैं मिली शहरों में छोटे कमरों में और गावों में छोटे मकानों मे, और मैंने उनकी आजादी की योजनायें सुनी। पहले ही से बुद्धिजीवियों का विश्वास था कि एक और विश्वयुद्ध अपरिहार्य है। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद उनको कटु निराशा हुई थीं इस बात से कि उनकी समझ में इंगलैण्ड ने जो वादे किये थे वह पूरे नहीं किये गये। उनका कहना था कि भारत देश उसकी जनता को लौटा लेने का अंग्रेजों का असली अभिप्राय नहीं है। मैं इसमें विश्वास कर सकती थी क्योंकि मैं चीन से ताजा आई थी जहाँ जनता का संरक्षण-काल

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

समाप्तिहीन मालूम पड़ता था और प्रति वर्ष स्वशासन सुदूर। "जब आप लोग स्वतंत्रता के योग्य हो जाते हैं" विजाताओं ने सदा ही अपनी प्रजा से कहा है, इत्यादि। पर कौन यह निर्णय देगा कि वह क्षण कब आता है, फिर एक जाति अपने पर शासन करना कैसे सीखेगी बिना उसको किये हुये ? अस्तु भारत में बुद्धिजीवी बेचैन और कटुतायुक्त थे और मैं घण्टों बैठी रहती उनकी दमकती आँखें देखते हुये और सुनते हुये उनकी अन्तहीन भाषाप्रवाह, विशुद्ध' अंग्रेजी जिसके माध्यम से वह अपनी भावनाओं को उडेलते। उस समय योजना यह थी कि जैसे ही द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त हुआ तुरन्त भारत इंगलैण्ड के विरुद्ध विद्रोह कर देगा और इस उलझन द्वारा उसे भारत को स्वतंत्र करने के लिये विदश कर देगा। उन्होंने घोषित किया कि प्रथम विश्वयुद्ध की तरह इंगलैण्ड की आज्ञा से लड़ने के लिये वह नहीं दबेंगे।

"और फिर ?" मैंने पूछा।

"और फिर" तरुण भारत ने गर्व से कहा, "हम लोग स्वयं तय करेंगे कि क्या हमारी इच्छा इंगलैण्ड के पक्ष में लड़ने की है अथवा उसके विरुद्ध।"

समय आने पर जिस चीज का ख्याल उन्होंने नहीं किया था वह थी नात्सीवाद की पशुता और एशिया में जापान का आक्रमण। जब उन्होंने समझा कि उन्हे धुरी के देशों तथा अंगरेज में से एक को चुनना है, तो उन्होंने अंगरेज को चुना यह जानते हुये कि तमाम अन्यायों के बावजूद वह वर्वरता और सभ्यता में चुनाव कर रहे हैं। उन्होंने स्वतन्त्रता सम्बन्धी अपनी योजनाओं को स्थगित कर दिया। इस बीच युद्ध के अन्त तक गांधी जी अपना कार्य देश के भीतर करते रहे और उस समय तक इंगलैण्ड में सबसे अधिक बुद्धिमान लोगों ने नई दुनिया को समझते हुये भारत देश वहाँ की जनता को लौटा दिया उन अंगरेजों तथा और लोगों की खिलाफत के बावजूद जो एशिया को इतना पर्याप्त रूप से नहीं समझे थे कि यह जानते कि बुद्धिमता क्या करने में है। चर्चिल की रक्तपात की भविष्यवाणी तक जो अंशतः पूरी निकली अवश्यम्भावी घटना को रोक न सकी। भारत ने जहाँ तक हो सका प्रतीक्षा की थी और किसान तथा बुद्धिजीवी पुराने अजेय गठबन्धन में बँधे एक ही पक्ष मे थे। यह गाँधी जी की शक्ति थी जिसने उन्हें बहुत पहले ही यह जताया कि किसान तथा बुद्धिजीवी दोनों को अपने देश के लिये मिलकर कार्य करने के लिये राजी करना आवश्यक है, उनका प्रभाव दोनों पर समान रूप से मजबूत था और इसलिये उन्होंने बिना युद्ध किये अपना लक्ष्य प्राप्त किया। शायद हम अमरीकी अब तक वह महान पाठ पूरी तरह नहीं समझते जो इस प्रकार अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करने में भारत सिखा रहा है। उसकी अहिंसक क्रान्ति की शक्तिशाली विजय के सामने हमारा स्वतंत्रता संग्राम आकार तथा विचार की दृष्टि से सिकुड़कर छोटा लगता है। भारत ने मानव जाति को एक पाठ पढ़ाया है और यदि हम उसे न सीखे तो खतरा है। पाठ ? यह कि युद्ध और हनन क्षति के अलावा कुछ हासिल नहीं करते और यह कि उदात्त साध्य की प्राप्ति सुनिश्चित तभी होगी जब उसको पाने के साधन उसी के अनुरूप तथा उदात्त भी हैं।

तथापि, उपनिवेशवाद के विरुद्ध असली अभियोग का सबूत गावों में मिलना था। सड़न ऊपरी भाग में भी थी इस रूप में कि हजारों युवा बुद्धजीवियों को अँग्रेजी स्कूलों में

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

नौकरियों के लिए प्रशिक्षित किया गया था पर इन नौकरियों का सीमित सिविल सर्विस के अतिरिक्त कहीं अस्तित्व न था। कस्बे और शहर मानो उफन रहे थे ऐसे सभ्य और शिक्षित तरुण पुरुषों से जिन्हें नौकरी नहीं मिलती थी और जो साम्राज्य की अधिरचना के कारण नई जगहें निकाल भी नहीं सकते थे। मगर बुराई का असली सबूत, मैं फिर कहती हूँ, दुःखी गावों में था। मैंने सोचा था कि चीन में मैंने बहुत गरीबी देख ली, फिर भी जब मैंन भारतीय गाँवों को देखा तब मुझे अहसास हुआ कि तुलना में चीनी किसान धनी हैं। केवल रूसी किसान जिसे मैंने वर्षो पहले देखा था भारतीय किसान का मुकावला कर सकता था, हालाँकि वह रूसी एक सर्वथा भिन्न जीव था और कई वातों में निकृष्टतर। क्योंकि भारतीय किसान चीनी किसान के समान इस बात में था कि वह स्वाभावेन सभ्य था। हालांकि वह पढ़ लिख नहीं सकता था फिर भी उसके मन और आत्मा एक सुव्यवस्थित मानवीय पारिवारिक जीवन की परिपक्व होती संस्कृति तथा गंभीर दार्शनिक मजहबों द्वारा गढ़ी गई थी। और बच्चे, भारतीय गाँवों के छोटे-छोटे बच्चे, कैसे वह मेरे हृदय में हूल दे रहे थे, दुबले, तोंदीले और सब के सब विशाल, उदास काली आँखों वाले। मैंने अचरज के साथ सोचा कि क्या कोई अँग्रेज इनको देखने के बाद भी अपने को दोषी कबूल नहीं करेगा। अंग्रेजी आधिपत्य और शासन के तीन सौ वर्ष, और क्या ऐसे बच्चे रहने चाहिए जैसे ये? हाँ! और दसों लाख! और अन्तिम अभियोग निश्चित ही यह था कि भारत में जीवन-अवधि केवल सत्ताईस वर्ष थी। सत्ताईस वर्ष! तब आश्चर्य नहीं कि जीवन जल्दी बीतता, कि आदमी बहुत छोटी उम्र में विवाह करता ताकि बच्चे हो सकें, जितने सम्भव हो उतने हो सके उसकी मृत्यु के पहले। वहाँ की हुई सभी सुखदाई यात्राओं का स्मरण करते हुए इंगलैंड मुझे प्रिय लगता था पर भारत में मैंने इंगलैंड का वह रूप देखा जिसे मैं नहीं पहचानती थी। और मुझे बरबस यह सत्य जानना पड़ा कि यदि अंग्रेज जो कई बातों में धरती की सर्वोत्कृष्ट जाति थे, ऐसी जाति जिसने अपने पर शासन करने के मनुष्यों के अधिकार को प्राप्त करने का मार्ग हम सबके लिये प्रशस्त किया, यदि यह लोग भी उपनिवेशवाद से इतना भ्रष्ट हो सकते हैं, तो सचमुच हम में से किसी की भी हिम्मत साम्राज्य का शासक बनने की नहीं होगी।

नये और पुराने भारतीय मित्रों के साथ रहते मुझे ऐसा लगा कि भारत की सभी बीमारियाँ आसानी से ठीक की जा सकती थी यदि वहाँ ऐसी सरकार होती जिसका उद्देश्य होता सबसे पहले जनता का कल्याण करना न कि उसका शोषण करना। उदाहरण के लिए बम्बई और मद्रास के बीच का फलहीन और रेगिस्तान-सा सूखा भू-भाग पहले से ही शुष्क पड़ा था हालाँकि अभी फरवरी का ही महीना था और सूर्य में किसी भी बीज को अंकुरित करने के लिए पर्याप्त उष्मा थी यदि पानी उपलब्ध होता। और पानी क्यों नहीं था? उत्स्रुत कूप क्यों नहीं बनाये गये, या उथले कुयें ही क्यों नहीं खोदे गये, क्योंकि, मुझे बताया गया कि पानी का स्तर ऊँचा है? मगर दुर्बल और थकी-मादी जनता के पास इतनी शक्ति नहीं थी कि वर्षों के उपनिवेशवाद के बाद वह इस प्रकार का उपक्रमण करे। इससे आगे भी कुछ था। उपनिवेशी व्यवस्था का शायद सबसे बुरा परिणाम यह था कि पराधीन जनता को काम करने और इस तरह अपने-आप को मदद करने के खिलाफ

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

एक अपरिमित वहाना मिल गया था। "तुम मेरे लिए उत्तरदायी हो" प्रजा का शासक की ओर सदा यही चिढ़पूर्ण रवैया रहा है। "तुमने मुझे खिलानें, पहनाने तथा मुझे शासित करने का भार लिया हैं। यदि मैं मरता हूँ तो तुम्हारी गलती है।" अंग्रेज तो वहाँ बरावर था बुरा वनानें के लिए और निश्चय ही अंग्रेजों की बुराई करना हर वार उचित नहीं था। फिर भी साररूप में शायद उचित था, क्योंकि जव किसी जाति का हृदय हर जाता है तो उसके साथ उसकी आत्मा मर जाती है।

भारत में मैंने पाया कि जिसमें भी भारतीय रक्त था वह भारतीय था हालांकि चाहे उसका तीन चौथाई रक्त गोरों का हो, और इस नीति ने असन्तुष्ट लोगों की संख्या में वृद्धि कर दी थी। उपनिवेशिता के प्रारम्भिक वर्षों में अंग्रेज स्त्रियां अपने पुरुषों के साथ नहीं जाती थी, ओर अन्तिम वषों तक युवा पुरुष या तो विवाह नहीं करते थे या देर से करते थे। अपरिहार्यतः इन्सानों की एक वड़ी संख्या अस्तित्व में आई जो न अंगरेज न भारतीय और फिर भी सशंकित भाव से दोनों समुदायों में। वे प्रायः निरपवाद रूप से दोनों ओर से जिस कुल में जन्मते थे उससे श्रेष्ठतर होते। पुरुष प्रियदर्शन तथा स्त्रियां रूपवती होतीं, अक्सर दोनों वुद्धिमत्ता में श्रेष्ठ। आजकल विज्ञान वेत्ता हमें वताते हैं कि मिश्रित जाति, संकर आप चाहे तो कहें, अक्सर श्रेष्ठतर होते हैं, व्यक्तिशः तक, उसी प्रकार जैसे कलमी गुलाब और कलमी अनाज वनस्पति जगत में श्रेष्ठतर हैं। हमें वताया जाता है कि सबसे धनी संस्कृतियां, सबसे सजीव सभ्यतायें, संकर जातियों से आती है और निश्चय ही अमेरिकन व्यक्ति मजे में मिश्रित हैं। अपना काकेशियन रक्त तक उसने सुदूर उत्तर में स्वीडन और फिन्लैण्ड से लेकर सुदूर दक्षिण में इटली तक से खींचा हैं।

इन्दोनेशिया में मिश्रित रक्त वाले व्यक्ति से संवन्धित रवैये में मैंने विचित्र अन्तर पाया। वहां जिसमें भी एक वूद गोरा खून है उसे गोरा समझते हैं। इस समझदारीपूर्ण उपनिवेशी नीति ने मिश्रित खून वाले लोगों को सबसे पक्का डच बना दिया। इस यरह भारत का आधम-आधा हटा दिया गया। इन्दोनेशिया में इस प्रकार के व्यक्ति को यदि पूरी नहीं तो कम से कम सतही समानता मिल गई जिसने उसके अभिमान को बचा लिया, सचमुच, यदि विवेकी हालैण्ड वासी ने उपनिवेश वाद को जैसा वह भारत या इन्दोचीन में है उससे श्रेष्ठतर रूप में किससित किया तो यह उसने मुख्यतया किया अपनी अपेक्षतया प्रबुद्ध जातीय नीति द्वारा। सच है कि इन्दोनेशिया के बुद्धिजीवी भी उस समय ही स्वतंत्र होने के लिये संघर्ष कर रहे थे, पर आन्दोलन शान्तिप्रिय था, जनता के बीच इस समय तक प्रायः अनदिखा, जहां पर कि भारत में उत्तेजना भड़क उठने की दशा में लगती थी।

इस प्रकार के गम्भीर अध्ययन और प्रेक्षण के वीच-बीच मैं खूब आनन्द लेती थी विभिन्न प्राकृतिक दृश्यों में और प्रत्येक देश जहां मैं जाती थी उनके देहातों में इतनी दूर तक भ्रमण करने में जितना मैं जा सकती थी। मुझे असली जंगल का पहला अनुभव सुमात्रा में हुआ हालांकि इन्दोचीन में भी मैंने जंगल देखें थे, पर सुमात्रा में जंगल ऊपर आकाश से ही खतरनाक लगते हैं—सुरमई हरियाली पर रेंगती हुई मटमैली नदियां जैसे सुस्त साँप। और जब वायुयान नीचे आया कितनी रुग्णमधुर थी वह नम हवा कुछ जीवित सी लिये हुये और फिर भी बदवूदार। मैं जंगलों के लिये नहीं वनाई गई।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

मुड़कर देखने में मैं पाती हूं कि भारत की जनता के बहुत से प्रभाव जो मेरे ऊपर पड़े जब मैं उनके बीच रही और जो मेरे दिमांग में अब भी साफ है उनमें हैं महान पुरुषों और स्त्रियों के लिये उसकी श्रद्धा। भारत में नेतृत्व उन्हीं का बराबर चल सकता है जिनको अनुयायी लोग अच्छा समझते हैं—मतलब जो त्याग के लिये सक्षम हैं और इसलिये स्वार्थी नहीं। यह एक गुण उनकी दृष्टि में अन्य सभी को समाहित किये है। जो आदमी एक आदर्श के लिये अपने व्यक्तिगत लाभ को त्यागने में सक्षम है वह इसी तथ्य के आधार पर ईमानदार भी है और उच्च विचारों वाला भी और इसीलिये विश्वासपात्र भी। मुझे लगा कि वे लोग जो स्वयं को धनलोलुप तथा सदोष मानते थे, वह भी ऐसे लोगों को ढूढ़ते थे। गांधीजी के अनुयायियों में बहुतेरे दोषयुक्त पुरुष और स्त्री थे, और वह स्वयं कुछेक क्षुद्र प्रभुत्वों से मुक्त नहीं थे जैसा कि जो लोग उनके साथ रहते थे बराबर अच्छी प्रकार जानते थे। फिर भी वह अपने को गांधी जी के प्रति अर्पित किये थें क्योंकि उन्होंने व्यक्तिगत लाभ और हित का महान त्याग किया था।

गांधी जी को जो निष्ठा राष्ट्रीय और अन्त में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी दी गई वह सुज्ञात है पर मैंने यह पाया कि उसी प्रकार का सम्मान उन स्थानीय लोगों को दिया जाता था जो लोग भी अपनी सीमा के अनुसार नेता थे अपनी निःस्वार्थता के कारण। इस संदर्भ में मुझे याद है एक खास भारतीय गाँव जहाँ मुझे आमन्त्रित किया गया था एक परिवार के घर में जिसके सदस्यों ने कुछ आधुनिक शिक्षा पायी थी हालांकि अधिक नहीं और जिसके पास कुछ साधन थे हालांकि धनाढ्यता नहीं। मकान की दीवारें मिट्टी की थीं और छत छप्पर की तथापि भीतर कई कमरे थे फर्श सब जगह चिकनी और गोबर तथा पानी के रिवाजी घोल से लिपी। घर का सक्रिय मालिक परिवार का मुखिया नहीं बल्कि एक छोटा भाई था। यह खोज मैंने तब की जब मैं वहां पहुंची, क्योंकि हम लोगों के घर में घुसने के पहले मेरे मेजवान मुझे एक विचित्र प्रकार के पिंजड़े तक ले गये जो जमीन से काफी ऊपर चार खम्भों पर खड़ा था। तार के जाल से बने इस पिंजड़े के भीतर आश्चर्य चकित हो मैंने देखा एक वृद्ध पुरुष जो चित लेटा था तथा उसका सिर तकिये के सहारे था।

"मेरे सबसे बड़े भाई" मेरे मेजवान ने समझाया, "इनको लकवे का आघात हुआ था और हालांकि हम लोग उनसे घर में रहने की प्रार्थना करते हैं वह यहां बाहर रहना पसन्द करते हैं ताकि जब भी ग्रामीण लोग उनके पास आवें वह उनकी बात सुनने के लिये तय्यार रह सकें।"

मेरे मेजवान अच्छी अंग्रेजी बोलते थे, पर उनके बड़े भाई बिल्कुल नहीं और हम लोग केवल अभिवादनों का आदान-प्रदान कर सके और एक दूसरे पर मैत्रीपूर्ण दृष्टि डाल सके। जो मैंने देखा वह था चतुर, पतला, दुःख से तीखा चेहरा, जिसकी आँखें एक साथ समझदार और पैनी थी। शरीर नितान्त असहाय था, पर सावधानीपूर्वक साफ था और सूती कपड़े बर्फ की तरह सफेद। हमने कुछ बातें की और फिर ग्रामीणों की एक टोली आ पहुँची, मुझे देखने के लिये नहीं बल्कि बड़े भाई से वार्तालाप करने के लिये, और इसीलिये मेरे मेजवान मुझे घर के भीतर लिवा ले गये अपनी तरुण पत्नी तथा बच्चों से मिलवाने।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

अपने पूरे आवास के दौरान में उस पिंजड़े को ध्यान से देखती रही और विरले ही मैंने उसको देखा जब वह लोगों से घिरा न हो और कभी ऐसा नहीं हुआ जब जितनी देर तक दिन का प्रकाश रहता कम से कम एक आदमी जमीन पर पल्थी मारे न बैठा हो, उत्साह से बात करते हुये और फिर सुनते हुये। मेरे मेजवान ने कहा, "मेरे भाई हमेशा हमारे सयाने रहे हैं। अब वह हमारे सन्त हैं।"

मेंनें देखा कि मेरे मेजवान का भी ग्रामीम जीवन में एक अपना स्थान था, क्योंकि उस दिन जब हम लोग मध्याह्न भोजन कर रहे थे वह दो बार कमरे के जिस कोने में वह बेठे थे वहाँ से उठे और एक पुकार का जवाब देने बाहर गये जो स्पष्टतया किसी पड़ोसी ने लगाई थी। जब वह लौटे तो उन्होंने एक ही स्पष्टीकरण दिया।

"एक खतरनाक साँप को मारने के लिए मुझे बुलाया गया था।"

मध्याह्न भोजन सादा देहाती खाना था, मसूर की दाल, चावल, कड़ा उबला पालक, मसाला। खाना खाने के पहले एक वृद्ध सम्बन्धी एक पीतल के घड़े भर पानी तथा हाथ पोछने के लिए एक साफ खादी का तौलिया अन्दर लाये, उगलियों से खाना खाने का यह आवश्यक उपोद्घात है। मैंने अपने जीवन में हमेशा चीनी काँटो का इस्तेमाल किया था तथा उन्हें चाकू और काटे के मुकावले में पसन्द करती थी पर अपने दाहिने हाथ से खाने की अभ्यस्त हो जाने के वाद मैंने हाथ से खाना उतना ही पसन्द किया। आखिरकार कौन-सी चीज इतनी स्वच्छ है जितना कि धो लेने के बाद आदमी का दाहिना हाथ और शैशव से ही भारतीय बच्चों को सिखाया जाता है कि दाहिना हाथ भोजन करने जैसे स्वच्छ कार्यों के लिए है और बायाँ हाथ इससे निम्न काम कर सकता है।

दूसरी स्वच्छता यह थी कि हमारा भोज्य तश्तरियों के बजाय केले के ताजे हरे पत्तों में परोसा गया। चौड़े हरे पत्ते पर ढेरी लगाया अच्छी तरह पका चावल देखने की चीज है और भूख वढ़ाता है। किसी भी परिवार में जहां जाति प्रथा मानी जाती थी भोजन या तो ऐसे पत्तों में रक्खा जाता जथवा मिट्टी की नई थालियों में जो काम निकालने के बाद तोड़ दी जातीं। मेरे मेजवान ने कमरे के दूसरे कोने में खाना खाकर तथा हम लोगों की तरफ पीठ करके फर्श पर बैठकर अपनी जाति की माँगों को पूरा किया। इस समय तक मैंने इस प्रकार के अलगाव से उत्पन्न अपनी भावना पर काबू पाना सीख लिया था। यह केवल एक धार्मिक भावना के प्रति निजी श्रद्धा थी और अनातिथ्य नहीं।

धर्म भारतीय जीवन मे सदा उपस्थित रहता है, अपने उत्कृष्ट तथा निकृष्ट दोनों पहलुओं में, क्योंकि वहां, जैसे सभी जगह, धर्मान्धता पाप तक पहुँच जाती है। तथापि धार्मिक प्रेरणा का सादा स्वीकरण मुझे अच्छा लगा और जैसे अपना धर्म आत्मा को प्रेरित करे वैसे व्यवहार करने की पूर्ण स्वतंत्रता। इस प्रकार अपने पहले भारतीय परिवार में जो बौद्धिक और खुशहाल था जब मैं बैठक में बैठी अपनी सत्कारिणी से बातें कर रही थी एक भारतीय सज्जन बिना हम लोगों को बताये अन्दर आये और शालीनता के साथ कमरे के सुदूर छोर तक गये, उनके नंगे पैरों से फर्श पर कोई आवाज नहीं हुई। वहाँ पर वह घुटनों के बल बैठ गये, अपना शिर झुकाया, और इस मुद्रा में शायद चौथाई घंटे रहे। जब

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

मैंने जिज्ञासापूर्ण दृष्टि उन पर डाली तो मेरी सत्कारिणी ने इस लहजे में कहा मानों कोई विशेष बात न हो: "वे मेरे पति के छोटे भाई हैं। दिन के समय प्रार्थना की घड़ियों में यहां आते हैं क्योंकि इनका अपना घर जहां यह काम करते हैं उस स्थान से कुछ फासले पर है।"

जब प्रार्थना समाप्त हो गई भाई साहब फिर चले गये और फिर काफी देर बाद ही उनसे मेरी भेंट हुई और तब प्रार्थना के घण्टों से अतिरिक्त समय में। मेरा जीवन यात्राओं तथा अनेक लोगों से इतना अधिक संकुल रहा है कि मेरे लिये पूरा का पूरा एक पुस्तक के आवरण पृष्ठों के भीतर रख देना सम्भव नहीं, यहाँ तक और सचमुच, जितनी सारी बातें मैं कहनी चाहती हूं उनके लिये मेरी समस्त पुस्तकें पर्याप्त नहीं हुई। भारत छोड़ने के वर्षों बाद मैंने भारतीय पृष्ठभूमि लेकर **कम माइ बिलविड** लिखा। ताज्जुब है कि कुछेक को छोड़कर अमरीकी इस पुस्तक का वास्तविक अर्थ नहीं समझे पर भारतीय पाठक समझते हैं। कदाचित हम लोगों ने इतने पर्याप्त दीर्घकालीन जीवन अनुभव नहीं किये कि सर्वभौमिक रूप से यह जाने कि लक्ष्य चाहे कुछ भी हो उपलब्धि का मूल्य सम्पूर्ण में ही देय है। यह बात सिद्ध करने के लिये मैंने अपनी पुस्तक में तीन इसाई मिशनरियों को चुना, क्योंकि सभी लोग जिनसे मेरा कभी भी परिचय हुआ उनमें मिशनरी ही ऐसा है जो अपने तरीके से सर्वाधिक आत्मसमर्पित तथा सर्वाधिक एकचित्त है। उसका विश्वास होता है कि ईश्वर एकमेव है, मानव कुल का पिता, और सभी मनुष्य भाई-भाई हैं। कम से कम, ईसाई कहता है कि उसका ऐसा विश्वास है और वह उपदेश भी ऐसा ही देता है। तब अपने उत्सर्गों के बावजूद वह दुनियां को बदलने में असफल क्यों रहा? हाय, उसके बलिदान पर्याप्त नहीं रहे और आस्था का पूरा मूल्य चुकाने के लिये वह इच्छुक नहीं रहा। अपने ईमान का सम्पूर्ण अर्थ चरम तक स्वीकारने में अक्षम रहते वह मूल्य का केवल एक भाग चुकता करता है। वही नकार मैं यहां अपने देश में देखती हूं, बार-बार, और केवल ईसाइयों में ही नहीं। परन्तु भारत के लोग जानते हैं कि आदर्शवाद के सम्पूर्ण मूल्य का एक-एक पाई चुकताने का क्या मतलब होता है। वह समझते हैं, और उनके लिये मेरी पुस्तक एक उलझन नहीं है।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

"काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना में मालवीय जी की कल्पना"

ललित किशोर लाल श्रीवास्तव
शोध छात्र-दर्शन विभाग, का० हि० वि० वि०

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे ॥ गीता ४।८

"साधु पुरुषों का उद्धार करने, दूषित कर्म करने वालों का नाश करने तथा धर्म स्थापन करने के लिए, युग-युग में प्रकट होता हूँ।" यदि हम महामना मदन मोहन मालवीय को युग पुरुष एवं धर्मावतार कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। उनके रग-रग में भारतीय संस्कृति एवं हिन्दू धर्म तथा देश भक्ति की भावना व्याप्त थी। वे कभी नहीं चाहते थे कि उनके देश एवं धर्म को क्षति पहुँचे। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना में मालवीय जी के दो उद्देश्य स्पष्ट थे—देश प्रेम एवं हिन्दू धर्म की अक्षुण कीर्ति बनाये रखना। किंवहुना मालवीय जी की अमर कीर्ति की ज्ञानवापी उनके उद्देश्यों को साकार करने के लिए एक साधनमात्र थी। भारतीय संस्कृति और प्राचीन शिक्षा पद्धति के अनन्य प्रेमी और उद्धारक मालवीय जी अपने कैशोर काल में ही प्राचीन संस्कृति और देश के उद्धार के स्वप्न देखा करते थे। उन्हें अपने स्वप्नों पर विश्वास था और वे कहा करते थे "मेरे स्वप्न अवश्य ही पूरे होंगे" (My dreams must come to be true)। यह उनकी अन्तरात्मा की आवाज थी और अपनी दिव्य शक्ति और अदम्य साधना तथा अनवरत तपस्या से मालवीय जी ने अपने स्वप्नों को साकार रूप दे ही दिया।

किसी भी वस्तु का निर्माण वर्तमान परिस्थिति की अपेक्षाओं का परिणाम होता है। निर्माता परिस्थितियों के अनुकूल ही निर्माण करने को बाध्य है। मस्तिष्क में यह प्रश्न उठता है कि किस परिवेश में 'काशी हिन्दू विश्वविद्यालय' की स्थापना हुई? बात ऐसी है। भारत परतंत्र था। भारतीय संस्कृति एवं हिन्दुत्व खतरे में था। भारतीय परम्पराओं का हनन हो रहा था। जालिम अंग्रेजों के अत्याचार से डरकर कोई देशभक्ति के कार्य नहीं कर सकता था। वाणी पर प्रतिरोध था। फिर भी भारतमाता की लुटती लाज और गरिमा की रक्षा करना हर सपूत का कर्तव्य था। वर्षों से चली आ रही हिन्दू धर्म की अक्षुण कीर्ति को बनाये रखना हर हिन्दू का कर्तव्य था, धर्म था। कितने सपूत स्वतंत्रता संग्राम में उतर पड़े थे। 'वंदेमातरम्' का नारा गूँज उठा था। 'स्वदेशी आन्दोलन' की स्थापना' हो चुकी थी। देश में एक अजीब-सी हवा बहने लगी थी। राष्ट्रीयता की सुषुप्त भावना देशभक्ति के नारों, गानों एवं वक्तव्यों से जग पड़ी। सन् १९०५ भारतीयों की इस परिवर्तित मनः स्थिति का साक्षी है। इसी वर्ष के अन्त में गोपालकृष्ण गोखले ने एक बार बनारस की जनता को अपनी ओजस्वी वाणी से उद्‌बोधित करते हुए कहा था, "...देशवासियों को अपने देश भारत को सबसे अधिक प्रेम करना चाहिए और देश की राजनीति को एक आध्यात्मिक स्वरूप देना चाहिए।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

(अमृत बाजार पत्रिका—हिन्दी अनुवाद) उनकी इस ओजभरी वाणी से सभी प्रभावित हुए। ठीक उसी क्षण मालवीय जी ने गंगा तट पर 'काशी हिन्दू विश्वविद्यालय' की स्थापना का एक सही चित्र अपने मस्तिष्क में खींच लिया। सद्यः उन्होंने बनारस टाउनहाल के मैदान में राष्ट्रीय नेताओं की एक गोष्ठी बुलाई और उनके सामने विश्व-विद्यालय की स्थापना का अपना संकल्प प्रस्तुत किया। इस गोष्ठी में बाबू सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, गोपालकृष्ण गोखले, लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, श्री अरविंद, लाला लाजपतराय, श्री वी० वी० कृष्ण स्वामी अय्यर आदि गण्यमान व्यक्ति सम्मिलित हुए। सबों ने उनकी बात को ध्यान से सुना परन्तु किसी ने विशेष रूप से उत्साहित नहीं किया। उन्हें शायद मालवीय जी की वृहद योजना आकाश कुसुम के समान अनुपलभ्य प्रतीत हुई।

मालवीय जी ऐसे दृढ़ निश्चयी पुरुषों में थे जिनके हृदय में एक बार संकल्प का बीज जम जाने पर कभी कुंठित नही होता और बराबर विकास पाता रहता है। ठीक ही कहा है 'भगवान उन्हीं की मदद करता है जो अपनी मदद स्वयं करते हैं। सन् १९०५ में मालवीय जी के अन्दर एक नैसर्गिक शक्ति भर गई। ४५ वर्ष की अवस्था में भी वे खुश और नौजवान नजर आये। वे देश की आशा एवं विजय के प्रतीक बन बैठे। समस्या उठी, इस पवित्र विद्यामंदिर को शाही कंगूरों में परिवर्तित करने की। मालवीय जी के पास पर्याप्त धनराशि भी नहीं थी। रास्ता बस एक ही बच गया, और वह था भिक्षाटन से प्राप्त धनराशि से विश्वविद्यालय की स्थापना। मालवीय जी के साथ सभी देशवासी सहमत थे। फिर भी बड़े काम की सिद्धि में तो देर लगती ही है। मालवीय जी जिन-जिन लोगों से मिलते, अपनी महत्वाकांक्षा व्यक्त करते। वे विद्वानों, संतो, राजकुमारों एवं किसानों सबसे मिले और अपनी भावनाओं से उन्हें अवगत कराया। अपनी माता एवं अपने श्रेष्ठ गुरू पंडित आदित्य राम भट्टाचार्य से भी उन्हें आशीर्वाद मिला। (यही गुरू जी इन्हें एलाहाबाद कालेज में हिन्दू संगठन एवं हिन्दू धर्म के विचारों से बराबर अवगत कराते थे)। भारतीय राष्ट्रीयता की मुक्तकंठ से प्रशंसा करने वाले कवि-उपदेशक स्वामी रामतीर्थ भी मालवीय जी की कल्पना से बहुत प्रभावित हुए। लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने इन्हें अत्यधिक उत्साहित किया—You become the first crystal and others will join you in your noble task" (Amrit Bazar Patrika) 'तुम पथ प्रदर्शक बनो और दूसरे तुम्हारे इस महान कार्य में भाग लेंगे।' बस क्या था, उठी झोली और चल दिये मालवीय जी। दरभंगा नरेश तथा अन्य देशभक्त उनके साथ हो लिये। मालवीय जी जहाँ कहीं भी जाते लोग उनकी मुक्त कंठ से प्रशंसा करते और उनके प्रस्ताव को स्वीकार करते। लोग उनकी मदद करते। वे राजपुताना, मेवाड़, मारवाड़ आदि राजघरानों के द्वार पहुँचे और मनोंवांछित धनराशि लेकर लौटे। तत्कालीन वाइसराय लार्ड हार्डिन्स एवं इमपेरियल लेजिसलेटिव कौंसिल (Imperial Legislativ Council) के सदस्यों को भी इन्होंने अपने उद्देश्य से अवगत कराया और उनसे अभिवांछित सहायता भी प्राप्त की। फिर भी झोली नहीं भरी। चलते गये और माँगते गये। वास्तव में मालवीय जी महराज इस युग के सर्वोच्च भिक्षुक भी थे। वे जिस स्थल पर पाँव रखते, लोग उनकी पूजा के लिए दौड़ पड़ते।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

विधाता वाम नहीं था। भगवान ने उनकी सुनली। सभी राजकुमार और अन्य देशवासी इस पुण्य कार्य में तन-मन-धन से जुट गए। मालवीय जी ने करीब डेढ़ करोड़ की सम्पति एकत्रित कर ली। अपने परिश्रम की अप्रत्याशित सफलता को देखकर उन्होंने तत्कालीन वाइसराय से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना करने की अपील की। ४ फरवरी १९१६ की वसन्तपंचमी का शुभ अवसर भारतीय संस्कृति के इतिहास में एक स्मरणीय दिवस के रूप में सर्वदा याद किया जायेगा। वाइसराय, राज्यपाल, राजकुमार तथा अन्य गण्यमान व्यक्तियों के साथ मालवीय जी ने पुण्यसलिला गंगा के पावन तटपर वैदिक समारोह के साथ अपने सपनों को साकार रुप देने का प्रयत्न आरम्भ कर ही दिया। इस तरह विश्वविद्यालय की स्थापना का जो बीज न्यस्त हुआ वह सूर्य की प्रथम किरण पाते ही एक पौधे के रूप में परिवर्तित हो गया और आज तो वह एक ऐसा वृक्ष वन गया है, जिसकी छत्र छाया में सहस्त्रों विद्यार्थी विद्या अर्जन कर रहे हैं।

प्रश्न उठता है—मालवीय जी ने अपनी जन्मभूमि प्रयाग को छोड़कर काशी में ही क्यों हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की? प्रश्न स्वाभाविक ही है। पर महामना के महत्तम भावों से हमें परिचित होना चाहिए। ऐसे श्रेष्ट पुरुषों की दृष्टि में तो **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** का सिद्धान्त कार्य करता हैं। दूसरी वात प्राचीन परम्पराओं को जीवित रखने एवं शताब्दियों से विद्वानों द्वारा ज्ञान केन्द्र के रूप में स्वीकृत और समादृत काशी नगरी को एक बार फिर विद्याकेन्द्र बनाने की भावना से ही इन्होंने यहाँ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की। धर्मप्रेमी को धर्म की राजधानी काशी ही अच्छी लगी। इस विश्वविद्यालय की विस्तृत भूमि, दिन में सूर्य की विचित्र एवं सुखद किरणों का प्रसार, रात चाँद तारों की धवल ज्योत्सना का निर्वाध साम्राज्य और पवित्र गंगा का पार्श्व वास्तव में इसे विद्या का अतुलनीय केन्द्र वना देता है। पच्चीस सौ वर्ष पूर्व गौतमवुद्ध ने वनारस के ही पास सारनाथ में दया और प्रेम का सिद्धान्त प्रतिपादित किया था। हजार वर्ष वाद श्री शंकराचार्य ने भी बनारस की इसी पवित्र स्थली पर वेदान्त की शिक्षा दी थी। विश्वकवि तुलसीदास की अमर रचना "रामचरित मानस" भी यहीं निर्मित हुई। तो क्योंकर भारतीय संस्कृति का यह अनन्य पुजारी नैसर्गिक पुरुषों की नगरी में अपनी कल्पना को साकार रूप न देता।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना के मूल में मालवीय जी की लोकोत्तर भावनाएँ स्पष्ट हैं। मालवीयजी चाहते थे कि सर्वसाधारण को जगत का प्रकाश मिले। न उन्हें स्वर्ग की इच्छा थी न धनार्जन की। जैसा कि उनके आदर्श से पता चलता है—

नत्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नाऽपुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

"मुझे न तो राज्य की कामना है और न स्वर्ग की और न पुनर्जन्म से मुक्ति चाहता हूँ। दुःख से पीड़ित प्राणियों के कष्ट दूर करने में मैं सहायक हो सकूँ यही मेरी कामना है"। उनकी इच्छा थी कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का स्नातक जाकर लोगों में ज्ञान का प्रकाश फैलाये—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

कितना महान था, उनका संकल्प। यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय की स्थापना से मालवीय जी का यह भी उद्देश्य स्पष्ट होता है कि देशवासी इस राष्ट्रीय विश्वविद्यालय में पढ़कर गुलाम मनोवृति को दूर करें और कुछ रचनात्मक कार्य करें। विदेशी शिक्षा तो उन्हें (लिपिक) ही बनाना सिखाती थी। मालवीय जी की भावनाओं को मालवीय जी के शब्दों में ही कह देना उचित एवं न्याय संगत होगा। विद्या केन्द्र के मण्डप में नवनिर्मित विश्वनाथ के मंदिर की स्थापना के समय मालवीय जी महाराज ने स्वनिर्मित श्लोक ताम्रपत्र पर लिखवाकर मंदिर की नींव में रखवाया। ये श्लोक उनकी भावनाओं को स्पष्टतया प्रकाशित करते हैं। श्लोक इस प्रकार हैं :

(हिताय सर्वलोकानां निग्रहाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय प्रणम्य परमेश्वरम्)

प्रसादाद्विश्वनाथस्य काश्यां भागीरथीतटे
विश्वविद्यालयः श्रेष्ठो, हिन्दूनां मानवर्धनः
हिन्दू राज्याधिपतिभिर्धनिकै धार्मिकैस्तथा
मिलित्वा स्थापितः सद्भिर्विद्याधर्म विवृद्धये
यत्र वेदाः सोपांगा धर्मशास्त्र च पावनम्
इतिहासं पुराणं च मीमांसान्यायविस्तरः
सांख्ययोगौ च वेदान्त आयुर्वेदः सुखावहः
गान्धर्ववेदो मधुरो धनुर्वेदश्च नूतनः
आंग्ल दण्डविधानं च दायभागादि संयुतं
पाश्चात्या विविधा विद्यास्तथा लोकहिताः कलाः
पाठयन्ते विधिवत्प्रेम्णा, विज्ञानानि वहूनि च
सहायार्थं च छात्राणां दीयन्ते वृत्तयस्तथा
सर्वप्रान्तसमायाताश्छात्रा विद्याभिलाषिणः
वसन्ति सुखिनो यत्र पुरा गुरुकुले यथा
नित्यं निवेपिते यत्र, व्यायामः शक्तिवर्द्धनः
व्याख्यानैश्च कथामिश्च धर्मः यत्रोपदिश्यते
तस्मिन् विद्यालये स्फीते विद्यार्थिजनसंकुले
स्थाप्यो देवालयो दिव्यः लोकमंगलकाम्यया ॥

उपर्युक्त श्लोकों का तात्पर्य स्पष्ट है। 'यह विश्वविद्यालय हिन्दुओं के मान को बढ़ाने वाला है जिसे धनी' गरीब सभी ने मिलकर प्रेम से बनाया है। जहाँ पर वेद, पुराण, धर्मशास्त्रों एवं भारतीय दर्शनों का पठन-पाठन हो। यहाँ सभी प्रकार की विद्याएँ पढ़ायी जाँय जो लोकहित में सहायक हों। आयुर्वेद की शिक्षा भी दी जाय (इसीलिए मालवीय जी ने आयुर्वेदिक कालेज की स्थापना की)। पश्चिमी विद्याओं की भी शिक्षा देने की इच्छा मालवीय जी की थी—जैसे आंगल दण्ड विधान आदि। गरीब छात्रों को पठनार्थ सहायता दी जाय। विद्यार्थीगण गुरुकुल के समान छात्रावासों में रहें। व्याख्यानों एवं कथाओं के माध्यम से धर्म का उपदेश दिया जाय। (इसी विचार से मालवीय जी ने

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

गीतादि व्याख्यानों की व्यवस्था की थी)। मालवीयजी के विचारों से स्पष्ट है कि वे कितने मानववादी थे। लोकहित की भावना उनमें कूट-कूट कर भरी थी।

एक विचारणीय बात सामने आती है कि क्योंकर मालवीयजी ने अपने विद्यामंदिर का नाम काशी हिन्दू विश्वविद्यालय रखा? क्या 'हिन्दू' शब्द मात्र हिन्दू जाति से तात्पर्य रखता है? आदि-आदि।

मेरे विचार में मालवीय जी की दृष्टि में सनातन हिन्दू धर्म एक शाश्वत धर्म था। उनका कहना था कि यह ऐसा धर्म है जो सम्पूर्ण मानव जाति को मोक्ष प्रदान करा सकता है। ज्ञान, भक्ति और त्याग इसके तीन स्तम्भ हैं। सनातन धर्म ईश्वर की सर्व व्यापकता मात्र मानव में ही नहीं प्रतिपादित करता वरन् पशु-पक्षियों एवं पेड़-पौधों में भी करता है। जब सब लोग ऐसा करेंगे तो रामराज की ही स्थापना हो जाएगी : जैसा कि तुलसीदास ने कहा है :

खगमृग सहज वयरु विसराई। रहहिं परस्पर प्रीति वढ़ाई॥

गीता में भी इसी बात पर जोर दिया गया है :

सर्वभूतस्थमात्मं सर्वभूतानि चात्मनि।

अर्थात् सभी जीवों में अपने को स्थित समझो और सब जीवों को अपने में। सनातन हिन्दू धर्म की शिक्षा है :

मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे॥

"अगर मैं चाहता हूँ कि सारी दुनियाँ मेरी तरफ मित्र की निगाह से देखे तो मैं भी सारी दुनियाँ की तरफ मित्र की निगाह से देखूँगा। दुनियाँ को शत्रु या मित्र वनाना मेरे वस की बात है।"

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग् भवेत्॥

"सभी सुखी हों, सभी निरोग रहें, सभी भद्र अर्थात् सभ्य हों, किसी को दुःख न हो"। कितनी सुन्दर प्रार्थना है। यह प्रार्थना किसी विशेष जाति अथवा धर्म के लोगों के लिये नहीं परन्तु बहुजन हिताय-बहुजन सुखाय यह वेद की प्रार्थना है। "हिन्दू धर्म एक विशाल धर्म है जिसकी छात्र-छाया में अनेक परस्पर विरोधी विचार, आचार और उपासना के तरीके पाये जाते हैं। स्यादवादी, चर्वाक और कर्मवादी आदि सभी का समावेश इसमें हो जाता है। सगुण और निर्गुण ईश्वर दोनों की उपासना के लिए स्थान है"—(सर्व धर्म एकता—ओमप्रकाश त्रिखा।)

गीतामें भी भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है—'सब धर्मों की मर्यादा छोड़कर मेरी शरण में आ' (**सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणंव्रज**) इसी सनातन हिन्दू धर्म के पूजारी मालवीय जी थे। उनका तात्पर्य हिन्दू जाति से नहीं था वरन् सम्पूर्ण मानव से था। वास्तव मे वे एक उच्च कोटि के मानववादी थे।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

अन्त में मैं आज की बदली परिस्थितियों की तरफ भी पाठकों का ध्यान, आकर्षित करना चाहूँगा। महामना की यह अमरकीर्ति अब ध्वस्त होती जा रही है। विद्यार्थियों के हृदय में गुरूओं के प्रति कोई स्थान नहीं है। उपदेशों कों सुनकर वे अपने कानों को कष्ट नहीं देना चाहते। आये दिन मागों को लेकर हड़तालें हुआ करती हैं। विश्वविद्यालय के प्रांगण में खुलकर भाई, भतीजावाद चल रहा है। राजनैतिक दल लड़कों को अपने हाँथों का कठपुतला बनाकर अपना उद्देश्य साध रहे हैं। 'सरकार को कानी हिन्दू विश्व-यिद्यालय' के 'हिन्दू' शब्द में साम्प्रदायिकता की बू आ रही है।

आखिर ऐसा क्यों हो रहा है? मात्र विद्यार्थी या शिक्षक ही इसके लिए जिम्मेवार हैं। महामना की इस अक्षुण कीर्ति को बनाये रखना हमारा कर्तव्य है। हमें अपनी संस्कृति को नहीं भूल जाना चाहिए। 'उठो वीर सपूतों और हिन्दू धर्म तथा संस्कृति के पुजारियों! पवित्र काशी नगरी को फिर एकबार अपने उसी स्थान पर बिठाओ जिस पर यह सर्वदा से विराजती आ रही है। जब तक रग-रग में एक बूँद भी रक्त रहे, महामना की इस पवित्र धरोहर में कालिमा मत लगने दो। इसकी जड़ को उखाड़ने वाली शक्तियों को समूल नष्ट कर दो। तभी महामना को आत्मिक शांति मिलेगी।'

———

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

युवा अशांति

डॉ० महाराज नारायण मेहरोत्रा,
रीडर, भौमिकी विभाग, का० हि० वि० वि०

इसमें दो मत नहीं हैं कि भारत का युवा वर्ग पिछले कई वर्षों से अशांत है। भारत ही क्या विश्व के वहुत से देशों से युवा अशांति के समाचार सुनने को मिलते हैं। यहाँ तक कि संसार के उन देशों से भी, जो आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न हैं यदा-कदा युवा विद्रोह के समाचार मिले हैं। इस वहुचर्चित विषय पर अनेक लेख पत्र-पत्रिकाओं में छपे हैं। संगोष्ठियां आयोजित हुई हैं, बड़े-बड़े विद्वानो ने अपने विचार प्रस्तुत किये हैं पर इस समस्या का समाधान होना तो दूर रहा, समाधान की दिशा में भी हम कोई सफल कदम न उठा सके हैं।

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के विद्वान हेराल्ड टेलर के अनुसार युवा असंतोष का जन्म प्रजातंत्रीय परम्परा के विकास के साथ-साथ हुआ है। आपने ५७ देशों के युवा असंतोष का अध्ययन कर निष्कर्ष निकाला है कि इन सभी में तीन बातें सामान्य हैं (१) युवाओं में विश्वविद्यालयों के प्रति असंतोष-असंतोष इसलिये कि विश्वविद्यालय उन्हें जीवन की समस्याओं का सामना करने के लिये तैयार नहीं करते। (२) नीति निर्धारण में अपने को प्रभावित वनाने की युवा कामना। (३) आधुनिक सामाजिक ढाँचे को बदलने की इच्छा। हम टेलर की विचारधारा से सहमत हैं। आज २५ वर्ष के उपरांत भी इस विशाल गणतन्त्र में प्रजातंत्र के समुचित विकास के लिये आवश्यक पर्यावरण नहीं है। इसके अभाव में प्रजातन्त्र का दुरुपयोग हो रहा है। हमारे देश के क्या युवा और क्या प्रौढ़ सभी ने अपने आपको स्वच्छन्द समझ रखा है। स्वाधीनता-स्व के आधीन, वास्तविक अर्थ को समझने की चेष्टा ही नहीं की है। हम यह भूल जाते हैं कि If obedience without freedom is slavery. Freedom without obedience is anarchy. अब समय आ गया है कि हम प्रजातन्त्र से प्राप्त स्वच्छन्दता के लाभों का ही गुनगान न करें वरन् उस स्वछंदता के दुरुपयोग से होने वाली हानियों की ओर भी ध्यान दें। आजकल के लोगों की आवाज है "अधिक से अधिक लोगों का अधिक से अधिक हित।" पर क्या आपने इस सिद्धान्त पर विचार किया है। नग्न रूप से इंसका अर्थ है ५१ फीसदी लोगों के माने गये हित की खातिर ४९ फीसदी लोगों के हितों का बलिदान। यह सिद्धांन्त ही गलत है, पर इसका भली प्रकार से हमारे देश में पालन हो रहा है और इसके विपरीत युवा वर्ग में तो इसका एक और ही रूप देखने को मिलता है जहाँ ५ फीसदी छात्र ९५% छात्रों के हित का बलिदान करने में संकोच नहीं करते हैं। यह दोनों ही सिद्धांत निर्दय हैं और मानव समाज के लिए हानिकर हैं। यदि किसी सिद्धांत का पालन ही करना है तो वह है केवल एक सिद्धांत—"सब लोगों का अधिक से अधिक हित" यही एक सच्चा गौरवपूर्ण और मानवोचित सिद्धांत है। यही है गांधी, विनोबा का सर्वोदय, जिसका लक्ष्य है सबका उदय।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

युवा अशांति युवा असंतोष से जन्म लेती है। विश्लेषण करने पर हमें लगता है कि समस्याओं का मूल है—युवा वर्ग को एक अस्पष्ट, एक अंधकारमय भविष्य का दर्शन। आज का युवक अपना भविष्य अंधकारमय देखता है। पठन-पाठन के उपरान्त वह जब वास्तविक जीवन में प्रवेश करता है तब वहाँ उससे जो अपेक्षा की जाती है वह उसको पूरा करने में अपने को असमर्थ पाता है। वह देखता है कि स्कूलों, कालेजों, और विश्व-विद्यालयों की शिक्षा-दीक्षा उसके अधिक काम नहीं आती। वह निराश हो जाता है। ऐसे निराश युवकों को कोई भी नेता अपनी ओर आकर्षित करने में सफल होता है और इस प्रकार भोले-भाले, पर निराश युवक उसका अनुसरण करने लगते हैं।

किसी भी लक्ष्य प्राप्ति के लिये हमारे देश में एक सीधा रास्ता है उपद्रव करना। पिछले वर्षों के अनुभव से छात्रों ने भी जान लिया है कि यही एक भाषा है जिसे सरकार समझती है। सरकार ने अपनी ढिलाई से, प्रशासन ने अपनी कमजोरी से, उपद्रवों को बढ़ावा दिया है। उसने उपद्रवों के आगे सर झुकाया है तथा बहुत सी सही और गलत मांगें मंजूर की हैं।

उपद्रव क्यों और किसके विरोध में होता है? आदमी प्रहार किस पर करता है? किस संपदा को नष्ट करता है?—जिसे वह अपना नहीं समझता जिसे अपने मार्ग में रोड़ा समझता है, जिसे अपने हितों का विरोधी समझता है। इसका अर्थ हुआ कि मनुष्य अपने देश को ही, देश की संपदा को अपना नहीं समझता, नहीं तो अपनी बसें, अपनी रेलों, अपनी दूकानों को वह क्यों नष्ट करता, क्यों उनमें आग लगाता और क्यों उन्हें फूँकता।

इसका कारण है कि हमारे देश में लोकतन्त्र की स्थापना के बाद पिछले २५ वर्षों में जो प्रगति हुई, जो विकास हुआ, उसका फल एक सीमित वर्ग को प्राप्त हुआ—यह प्रसाद मिला—सेठों को, साहूकारों को, मंत्रियों को और नौकरशाही को, और उनको, जो गिरोह बन्द हैं, जिन्होंने बड़े-बड़े गठबन्धन किये हैं। भानुप्रताप सिंह ने ('आज' सायं समाचार, साप्ताहिक विशेषांक—१ अक्टूबर १९७२) 'भारत एक आर्थिक जंगल' में इस गठबन्धन के सारगर्भित उदाहरण प्रस्तुत किये हैं—जैसे बैंक और जीवन बीमा निगम के चतुर्थ श्रेणी कर्मचारियों को इंटरमीडियेट कालेज के प्रवक्ताओं से अधिक वेतन मिलता है। क्यों? क्योंकि वे अच्छे गिरोह बन्द हैं। मुफ्त चिकित्सा की सुविधा को लीजिये। न्याय की मांग है जो दरिद्र हैं, जो अपनी चिकित्सा के लिये स्वयं व्यय नहीं कर सकते, उनकी मुफ्त चिकित्सा होनी चाहिये। पर वास्तविकता क्या है, सरकारी कर्मचारी या राजनीतिज्ञ जितने ही ऊँचे पद पर हैं उनको चिकित्सा की उतनी ही अच्छी सुविधायें मुफ्त प्राप्त हैं। कारण यह है कि सुविधा पाने वाले लोग अच्छे गिरोह बन्द हैं। गिरोह बन्दी का एक पहलू और है। जब एक गिरोह दूसरे गिरोह की शक्ति का लोहा मान लेता है तो दो या दो से अधिक गिरोह मिलकर काम करने लगते हैं। इसी आधार पर राजनीतिज्ञों, भ्रष्ट-उद्योगपतियों, नौकरशाही और संगठित मजदूरों का एक वृहद् गिरोह गठबन्धन हुआ है और यह वृहद् गिरोह उनका, जो असंगठित है, सुसंगठित ढंग से शोषण करता है। इन गिरोह बन्द लोगों की संख्या १५% से अधिक नहीं है। इस प्रकार इस देश की ८५

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

प्रतिशत जनता का शोषण हो रहा है जिसमें किसान, मध्य वर्ग के उपभोक्ता, असंगठित मजदूर और छात्र आदि आते हैं।

युवावर्ग ने भी यह देखा और उसने भी गठबंधन आरम्भ किया, पर दुर्भाग्य से इस गठबंधन को राजनीतिज्ञों का आश्रय मिला। परिणाम स्वरूप यह गठबन्धन एक रूप और एक विचारधारा का न होकर विभिन्न वर्गों में विभाजित हो गया है। यदि यह गठबन्धन एक रहता और युवावर्ग की भलाई, छात्रों के कल्याण के लिये गिरोह बन्द होकर लड़ता भी, तो संतोष की बात होती। पर दुर्भाग्यवश ऐसा नहीं हुआ। पर क्या इसमें दोष छात्रों ही का है ?

It is dangerous to dissect a student in vacuum. If we want a true analysis, we must try to study the impact on him of the total environment. The student is continually bathed by the waters of the society, which surround him.

इस संक्षिप्त विश्लेषण के उपरान्त हमें युवा अशांति को दूर करने या कम करने के उपचारों का विचार करना होगा। इसके मूल में निहित है—शिक्षा पद्धति में परिवर्तन। आजकल की शिक्षा साक्षर बनती है पर शिक्षित नहीं बनाती। वह आदर्श मानव का निर्माण करने में पूर्णतः विफल रही है। इसके विपरीत "प्राचीन काल में शिक्षा नीति में जीवन की वास्तविकता बताने, जीवन में व्यावहारिकता प्राप्त करने, सुखी, निरोग, शत्रु विहीन जीवन बिताने कर्त्तव्य और धर्म पालन की क्षममा प्राप्त करने और आत्मा के क्रमिक विकास को ध्यान में रखकर पाठ्यक्रम तैयार किया जाता था। साथ ही इस नीति के सही अर्थों में कार्यान्वियन पर विशेष बल दिया जाता था ('जनवार्ता' २६ दिसम्बर १९७२) यही शिक्षा का लक्ष्य भी है—The great aim of education is not knowledge but action; आजकल की शिक्षा प्रणाली में हमें सुधार करना है। उसकी खराबियों को, कमियों को दूरकर उनमें अच्छी बातों का समावेश कराना है।

यह सुधार कौन करेगा ? सरकार नहीं कर सकती। छात्र अकेले नही कर सकते और शिक्षक भी अकेले नहीं कर सकते। कर सकते हैं निष्ठावान छात्र और अनुभवी शिक्षक और विचारक मिलकर। विद्वत मंडलियों को निष्ठापूर्वक विचार विनिमय कर शिक्षा नीति के आधारभूत सिद्धान्तों को स्थापित करना होगा। इसमें प्राथमिकता शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा तक एक सामंजस्य स्थापित करना होगा। विदेशी पद्धतियों का विस्तृत अध्ययन इस दृष्टि से आवश्यक है। कहा जाता है—American education has always been more interested in the fruits, German education more in the roots. पर हमें किसी भी विदेशी पद्धति का अनुकरण नहीं करना है। हमें एक स्वदेशी शिक्षा प्रणाली विकसित करनी होगी जो हमारे देश की परम्परा, संस्कृति और पर्यावरण के अनुकूल हो। यह एक ऐसी पद्धति होनी चाहिये जो विद्या की अर्थी को ढोने वाले नहीं वरन् विद्या का उपार्जन करने वाले विद्यार्थी को पैदा करेगी, जो राष्ट्र के लिये वरदान सिद्ध होंगे। यह एक ऐसी नीति होगी जिससे शिक्षा का स्तर ऊँचा होगा।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

आज की तरह नहीं की शिक्षा का स्तर दिनों दिन नीचे गिरता जा रहा है। यहाँ तक कि हमारे पड़ोसी नैपाल में भी हमारे स्नातकों का चयन प्राप्तांकों में १०% कटौती करने के बाद होता है। क्या यह दुःख और लज्जा की बात नहीं है ?

विद्वत मंडली को ही यह निर्णय करना होगा कि सेमेस्टर पद्धति हमारे देश के लिये उपर्युक्त है या नहीं। क्या कक्षाओं में उपस्थिति का अंकुश आवश्यक है या नहीं। क्या बिना किसी प्रकार के अंकुश के, भय के काम चल सकता है। प्रेमचन्द्र जी ने एक स्थान पर लिखा है "धर्म का मुख्य स्तम्भ भी भय है। भय की आशंका को दूर कर दीजिये। अनिष्ट की शंका को दूर कर दीजिये फिर तीर्थ-यात्रा, पूजा-पाठ स्नान-ध्यान, रोजा-नमाज किसी का भी निशान न रहेगा। मस्जिदें खाली नजर आयेंगी और मंदिर वीरान।" क्या बिना भय के हमारी कक्षायें तो खाली नजर नहीं आयेंगी। इन सब प्रश्नों का उत्तर अपेक्षित है।

यदि डिग्री प्रदान करने के लिये परीक्षा का अंकुश आवश्यक है तो परीक्षा पद्धति कसी होगी ? क्या Quinze type हाँ और ना में उत्तर देने वाले प्रश्नों के साथ में कुछ इस प्रकार के प्रश्न भी रहेंगे जिनसे विद्यार्थियों की अभिव्यंजना शक्ति का पता चलेगा। छात्रों के दैनिक कार्यों के मूल्यांकन को कितनी महत्ता प्रदान करनी होगी। परीक्षा केन्द्रों में विद्यार्थियों को क्या पुस्तकों की सुविधायें प्रदान की जायेंगी। यह सभी प्रश्न विचारणीय हैं।

.शिक्षा के माध्यम को लेकर भी युवा असंतोष बढ़ा है। हमें इस पर भी सोचना होगा। क्या विदेशी भाषा का असह्य बोझ हम अपने विद्यार्थियों पर निरंतर बनाये रखेंगे। गांधी जी ने भी इस संबंध में लिखा है—"पिछले ६० वर्षों से हमारी सारी शक्ति ज्ञानोपार्जन के बजाय अपरिचित शब्द और उनके उच्चारण सीखने में खर्च हो रही है। उन्होंने यहाँ तक लिखा है कि राजाराम मोहन राय ज्यादा बड़े सुधारक हुये होते और लोकमान्य तिलक ज्यादा बड़े विद्वान बने होते, अगर उन्हें अंग्रेजी में सोचने और अपने विचारों को दूसरों तक मुख्यतः अंग्रेजी में पहुंचाने की कठिनाई से आरंभ न करना पड़ता।" अंग्रेजी ज्ञान की अपरिहार्यता के होते हुए भी क्या हमें राज भाषाओं के माध्यम से शिक्षा नहीं देनी है।

एक बात इस संबंध में और, जो हमें वर्षों से खटक रही है। क्या हमें अपनी शिक्षा में नैतिक शिक्षा को कोई महत्व नहीं देना है। मैं इस विचार से पूर्णतः सहमत हूँ कि 'अगर हिन्दुस्तान की आध्यात्मिकता का दिवाला नहीं निकालना है तो उसे धार्मिक शिक्षा को भी महत्व देना होगा'। मेरे विचार में इसका सुफलदायी परिणाम निकालेया।

और अन्त में शिक्षा नीति के संबंध में एक बात और। क्या हमें अपनी शिक्षा पद्धति को रोजगार परक बनाना है या नहीं। गांधी जी की बुनियादी तालीम को यदि महत्ता प्रदान की गयी होती तो आज देश में बेरोजगारी का यह हाल देखने को नहीं मिलता। तकनीकी शिक्षा को देश के अनुरूप ढाला जाता तो हमारे इंजीनियर मारे-मारे नहीं फिरते। कृषि स्नातकों के दुःखद अनुभव हमें सुनने को न मिलते यदि वे देश की

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

जरूरतों के अनुसार चलने वाले और स्वावलम्बी खेतों पर तालीम लेते। हमारे विद्यार्थियों को श्रम गौरव का अनुभव करना होगा। क्या हमारे देश में शिक्षा को स्वावलम्बी बनाने की आवश्यकता नहीं है। गांधी जी ने लिखा है 'फीस माफी आदि की सुविधा धर्मबुद्धि रखने वाले विद्यार्थियों के मन पर आजीवन बोझ की तरह पड़ी रहती है। इसके विपरीत यदि कोई युवक परिश्रम कर अपनी पढ़ाई का खर्च निकालता है तो भविष्य में अपने उन दिनों को गर्व से याद करता है।

शिक्षा नीति में परिवर्तन के सुझाव के साथ—साथ, हमें दो शब्द, शिक्षकों, छात्रों और राजनीतिज्ञों से निवेदन करने हैं :

शिक्षकों पर राष्ट्र की बहुत बड़ी जिम्मेदारी है। एक स्कूल की दीवार पर लिखा था 'If the student has not learnt, the teacher has not taught.' हम शिक्षकों को अपने कर्त्तव्यों को समझना है। अब समय है नीर-क्षीर विवेक का। अब समय है हृदय मंथन करने का। और इससे वह स्वयं ही जान लेंगे कि वह किस प्रकार युवा असंतोष के निवारण में सहायक हो सकते हैं और राष्ट्र के निर्माण में योगदान दे सकते हैं। मेरा यह विश्वास है कि यदि किसी स्कूल, विद्यालय या विश्वविद्यालय के सभी अध्यापक सहयोग पूर्वक किसी भी स्थिति का सामना करने के लिये तत्पर हों एवं दत्तचित्त होकर अपनी संस्था के उत्थान में प्रवृत्त हों तो वहां युवा असंतोष युवा शांति में बदला जा सकता है।

सरकार से भी यह अपेक्षा की जाती हैं कि वह शिक्षकों की, विद्वानों की अवहेलना नहीं करेगी अपमान नहीं करेगी। 'दुर्भाग्य की बात है, आज साहित्य, संगीत, कला, विज्ञान सभी सत्ता के कृपाकांक्षी हैं। जिस कृति पर पुरस्कार मिल जावे वही सर्वश्रेष्ठ है और उसी की खरीद होती है। परिणामस्वरूप सारा साहित्य और सारी कला सिमट कर दिल्ली और प्रादेशिक राजधानियों में सीमित होती जा रही है। मूल्यांकन की इस दृष्टि को बदलना होगा। अभी हाल ही में साहित्यिक कृति 'वंश वृक्ष' पर आधारित कन्नड़ फिल्म को सर्वश्रेष्ट घोषित किया गया तथा उसके फिल्म निर्माता को सरकार की ओर से ५०,००० रु० का पुरस्कार और स्वर्णपदक दिया गया। पर 'वंश वृक्ष' के लेखक मैसूर कालेज के उस दर्शन प्राध्यापक प्रो० एस० एम० बीरप्पा को मात्र १५०० रु० का पुरस्कार देकर तिरस्कृत किया गया। प्रो० वीरप्पा ने यह पुरस्कार ठुकराकर साहित्यकारों के स्वाभिमान को बढ़ाया है, वस्तुतः उन्हें गौरव प्रदान किया है।

पिछले कुछ वर्षों से शिक्षा के राष्ट्रीयकरण के प्रश्न को नयी चेतना मिली है। विशेषकर इसके मूल में वेतनक्रमों की असमानता तथा प्रवन्ध समितियों द्वारा की जाने वाली धांधलेबाजियां हैं। इस पर भी कुछ लोगों का मत है कि शिक्षा का राष्ट्रीयकरण आत्मघाती होगा। वर्तमान परिस्थितियों में शिक्षा नीति सत्ताधरी वर्ग की नीतियों के अनुरूप बदलती रहेगी। एक दूसरा वर्ग है जो राष्ट्रीयकरण के पक्ष में है। उनके विचार में इससे शिक्षक को सुरक्षा प्राप्त होगी और वह निर्बाध राष्ट्र निर्माण के कार्य में अग्रसर होगा।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

इसका मध्यवर्ती रास्ता भी एक हो सकता है। वह है शिक्षाविदों, सामाजिक कार्यकर्त्ताओं के प्रतिनिधियों का आयोग गठित हो जो सोच विचार कर एक शिक्षा नीति निर्धारित करे, जिसका पालन आगे आने वाले पंद्रह बीस वर्षों तक किया जाये तदनन्तर उसका मूल्यांकन हो और उसमें आवश्यकतानुसार सुधार किया जाये। इन पंद्रह बीस वर्षों के अन्दर भले ही सरकार का स्वरूप बदल जाये पर शिक्षा नीति के पालन में कोई बाधा नहीं आनी चाहिये। और यह तभी सम्भव है जब कि सभी राजनीतिक पार्टियाँ शिक्षा की महत्ता को समझकर इस मूलभूत सिद्धान्त को स्वीकार करें।

छात्रों से मैं अनुरोध करुंगा कि वे देश के निर्माण में योग दें। वे एन० सी० सी० Scouting, N. S. C. में अधिकाधिक भाग लें और यदि मांग करनी ही है तो मांग करें अच्छे शिक्षकों की, अच्छी प्रयोगशालाओं की। वह राष्ट्रीय स्तर के महान कार्यों के लिये आन्दोलन करें न कि छोटी-छोटी बेबुनियाद चीजों के लिये, कड़े प्रश्न-पत्रों और फेल को पास कराने के लिये। फ्रांस के छात्रों ने शिक्षा प्रणाली बदलने के लिये, चीन के छात्रों ने सांस्कृतिक क्रांति के लिये योगदान दिया। युगोस्लाविया में विद्यार्थियों ने अपनी कक्षाओं के कमरों की दीवारें बनाई, मजदूरों की कमी होने पर खदानों कारखानों में काम किया। हमारे देश के छात्रों ने भी देश की आजादी की लड़ाई में अपना भाग बखूबी अदा किया। इन्हीं सबका अनुसरण आज हमारे छात्रों को करना है।

एक प्रश्न और है छात्र संघ की सदस्यता का। यह अनिवार्य क्यों हो, जो स्वेच्छा से चाहे इसका सदस्य बने जो न चाहे न बने। बिना इच्छा के यह बोझ अनचाहे छात्र पर क्यों डाला जाये। हम सभी भारतीय गणतन्त्र के सदस्य हैं यही एक सदस्यता अनिवार्य है। अन्य किसी भी संस्था की सदस्यता चाहे वह राजनैतिक दल हो, चाहे सांस्कृतिक, चाहे शैक्षणिक, की सदस्यता अनिवार्य नहीं की जा सकती। यह हमारे मूलभूत अधिकारों पर कुठाराघात है।

अन्त में निवेदन है राजनीतिज्ञों से कि वह शिक्षा संस्थाओं को अपनी कृपादृष्टि से दूर रखें। हमारी शिक्षा संस्थाओं की बहुत सी समस्यायें बिना फीस के सलाह देने वाले उन अवसरवादी नेताओं के कारण अधिक उलझी हैं जिनका शिक्षा और शिक्षा जगत से कोई संबंध नहीं है। यदि वे वक्तव्यबाजी से दूर रहें तो शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों का ही कल्याण करेंगे।

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

AESTHETIC MYSTICISM IN JOHN KEATS : A NOTE ON *ODE TO A NIGHTINGALE*

Dr. S. M. PANDEYA

Reader, Department of English

This paper assumes that certain poets have a mode of consciousness which they share with mystics. William James, Evelyn Underhill, and W. H. Auden have pointed out certain conditions and features of mystical experience which, I find, can be applied to Keats in Keatsian terms. I propose, first, to construct a Keatsian aesthetic analogue to mystical experience out of scattered remarks in his writings and, then, consider *Ode to a Nightingale* in the light of his aesthetic mysticism.

I

The first condition for even a chance entry into the mystical state is a passive and receptive mind, on which Keats has made explicit statements, one representative extract from which will suffice for our purpose : "But let us open our leaves like a flower, and be passive and receptive ; budding patiently under the eye of Apollo and taking hints from every noble insect that favours us with a visit—Sap will be given us for meat and dew for drink."[1] It is under such conditions as specified here that the Imagination, according to Keats, will work on the poet's mind. His *Ode to a Nightingale* is a good example of the very process of its workings. The Imagination, for Keats, is a supra-personal power which "seizes on the very operation of his groping, darting mind";[2] it is "certain ethereal Chemicals operating on the Mass of neutral intellect";[3] it is "an endless fountain of immortal drink,/Pouring into us from the heaven's

---

1 John Keats, "Letter to John Hamilton Reynolds, February 19, 1818," *The Protestant Mystics*, ed. Anne Fremantle (New York, 1965), p. 186.

2 John Middleton Murry, *Keats* (London, 1955), p. 303.

3 John Keats, *Poetry and Prose*, ed. Henry Ellershaw (Oxford, 1957), p. 164.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

brink." (*Endymion*);[1] it is the cause of "our most ethereal Musings upon Earth";[3] it is the "old Wine of Heaven";[2] it is "Sensation."[4] Apart from regarding the Imagination as a supra-personal creative energy, Keats attributes certain values to it and its poetic products. First, they are true: "What the Imagination seizes as Beauty must be Truth."[5] The Imagination is like "Adam's dream";[6] he awoke and found Eve by his side. The Imagination and its "empyreal reflexion" are "the same as human life and its spiritual repetition."[7] The works of the Imagination exist and abide. Secondly, they are very valuable "as friend/To soothe the cares and lift the thoughts of man."[8] (*Sleep and Poetry.*) Thirdly, they are "the product and cause of actual emotional and imaginative experience."[9] Keats has emphasized, time and again, that "the ethereal chemicals" of the Imagination operate best on the "neutral intellect," when the mind is free of rational preoccupations, "consecutive reasoning." The Imagination operates best on the "Infant, or the Thoughtless Chamber" of the mind, in which we remain as long as we do not think."[10] The imagination of a boy is healthy ("Preface" to *Endymion*).[11] It operates well even in "the Second Chamber..., the Chamber of Maiden Thought," and the effect is "one of sharpening one's vision into the heart and nature of Man—of convincing one's nerves that the world is full of Misery and Heartbreak, Pain, Sickness, and oppression"; but the Chamber of Maiden Thought "becomes gradually darkened."[12]

---

1 *Ibid.*, p. 43.
2 *Ibid.*, p. 166.
3 *Ibid.*
4 *Ibid.*, pp. 165, 166.
5 *Ibid.*, p. 164.
6 *Ibid.*, p. 165.
7 *Ibid.*
8 *Ibid.*, p. 38.
9 M. H. Abrams, *The Mirror and the Lamp* (New York, 1958), p. 314.
10 John Keats, *Poetry and Prose*, p. 173.
11 *Ibid.*, p. 42.
12 *Ibid.*, p. 173.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

Keats's foremost emphasis is on a state of passive receptivity, on "negative capability," which is conductive to poetic inspiration or being possessed by the Imagination. Like the mystic's experience, the poetic inspiration in Keats is a given experience granted to the poet when he is passive and receptive.[1] It is in this mood that Keats reads a page of "full poesy," "distilled prose," observes the morning, the visiting, noble insect, or listens to the song of the nightingale, their beauty "operating on a sense of Idleness."[2] Every germ of his spirit sucks "the sap from mould etherial"[3] and becomes alive for a union with that supra-personal power he calls the Imagination. We are to assume that it is in such a passive and receptive state that Keats hears the song of the nightingale : it is the same mental state in which "if a sparrow come before my Window, I take part in its existence and pick about the gravel."[4]

II

The nightingale plays a central role in making every germ of spirit in Keats awaken just as "a spear of summer grass" in *Song of Myself* and the thrush in *When Lilacs Last in the Dooryard Bloom'd* play a central role in inducing a mystical vision in Walt Whitman. The first effect of the nightingale's song upon the poet is that his heart begins to ache. The aching of the heart in Keats is associated with the awakening of the germs of spirit, the elements in the poet which are responsive to the supra-personal power : "I am certain of nothing but of the holiness of the Heart's affections and the truth of Imagination."[5] A numbing of the physical senses goes *pari passu* with the

---

[1] See William James, *Varieties of Religious Experience* (New York, 1961), p. 293-294 and W. H. Auden, "Introduction," *The Protestant Mystics*, p. 18 for a discussion of the passive and receptive state of the mystic. Also see Keats's letter to Reynolds referred to in note 1 for a discussion of the passive and receptive state analogous to that of the mystic.

[2] Keats's letter to Reynolds, *The Protestant Mystics*, p. 187.

[3] *Ibid.*

[4] *Poetry and Prose*, p. 166.

[5] *Ibid.*, p. 164.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

awakening of the mystical powers: "a drowsy numbness pains/My sense, as though of hemlock I had drunk,/Or emptied some dull opiate to the drains/One minute past and Lethe-wards had sunk." The effect of the nightingale's song upon the physical senses has been likened to the effects of hemlock, opiate, and the Lethe. The water of the Lethe has the power of making those who drink it forget what they did, saw, or heard before. But the poet has not yet attained to the mystical state; his drift is still Lethe-wards. At this initial stage of the poet's powers being awakened, the nightingale is only viewed as a particular bird, which "In a plot/Of beechen green, and shadows numberless/Singest of summer in full-throated ease." The particularity of the bird is also underlined by its mortality suggested by the vocative phrase "thou light-winged Dryad of the trees." Dryads, in Lempriere's *Classical Dictionary*, from which Keats largely derives his knowledge of Classical mythologies, are described as "genii, whose lives were terminated with the tree over which they were supposed to preside." The commonness and the particularity of the bird are further suggested by its singing "in full-throated ease" out of happiness —a very common view of the bird ,indeed, as in the opening lines of one of Milton's love poems: "O Nightingale, that on yon bloomy spray/Warbl'st at eve, when all the woods are still." Hearing the song of the nightingale, the poet finds his spiritual powers awakening and his physical senses going to sleep—a process towards the entry into the mystical state.

The second stanza marks an advance on the first in that it records the poet's wish to leave the world unseen and his passionate longing to be with the bird and "fade away into the forest dim." His soul is awakened. He achieves this by invoking the aid of alcohol, his favourite claret that "hath been cooled a long age in the deep delved earth," the claret "with beaded bubbles winking at the brim." The power of alcohol to induce a mystical vision has been well recognized:

> The sway of alcohol over mankind is unquestionably due to its power to stimulate the mystical faculties

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

> of human nature, usually crushed to earth by cold facts and dry criticism of the sober hour. Sobriety diminishes, discriminates, and says no; drunkenness expands, unites, and says yes. It is in fact the great exciter of the *Yes* function in man. It brings its votary from the chill periphery of things to the radiant core. It makes him for the moment one with truth.... Depth beyond depth of truth seem revealed....[1]

Keats himself writes that "the more ethereal Part of it mounts to the brain...and walks like Aladdin about his enchanted palace."[2] It is as though the self of the poet were purified by his craving for, and the vision of, the Bacchic delight of mythologies.

III

The self having been purified, the mystic has illumination, an experience traditionally described as the dark night of the soul. In the third stanza Keats presents an analogous experience; in the "Chamber of Maiden Thought" his vision is sharpened into the heart and nature of man, into "Misery and Heartbreak, Pain, Sickness, and oppression," the "weariness, the fever, and the fret," old age, palsy, death by tuberculosis, fading away of beauty and speedy termination of love. The human world has been envisioned as a vast hospital, where we only "hear each other groan." "Groan" sums up the whole gamut of human discourse on earth, where "but to think is to be full of sorrow/And leaden-eyed despairs." For a correct reading of the third stanza proper emphasis must be placed on the key-words "known" and "think"; for they are associated with a life Keats is impatient to rid himself of, and he always yearns—with a longing, a metaphysical thirst—for another, and superior, kind of life: "O for a life of Sensations rather than of Thought!"[3] Keats had worked out certain equations concerning thinking, thought, knowing, and knowledge; he

---

[1] William James, pp. 297-298.
[2] *Poetry and Prose*, pp. 179-180.
[3] *Ibid.*, p. 165.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

wrote: "'Knowledge is Sorrow';...'Sorrow is wisdom'—and further for aught we can know for certainty 'Wisdom is folly.'"[1] Obviously Keats associates human suffering with thinking: "to think is to be full of sorrow/And leaden-eyed despairs."

In this state of illumination the poet also gains insight into the heart and nature of the bird. He invokes alcohol to enable him to forget "what thou amongst the leaves hast never *known*." The nightingale of the third stanza is not the same particular bird as in the first; it is seen with the poet's freshly awakened powers. It is a nightingale that symbolizes and sums up all non-human life in Nature—a nightingale, which, though belonging to "those dying generations" (as W. B. Yeats was to put in his *Sailing to Byzantium*), *knows* no death, weariness, fever and fret, etc., for the thinking-principle, into which human beings are imperceptibly and inescapably impelled, is quite foreign to the bird and to the non-human nature which the bird now symbolizes. It dies, but it is *not* fretted by a knowledge of death. Here Keats ascribes to the nightingale what the thrush in another poem of his ascribes to itself:—

> O fret not after knowledge—I have none,
> And yet my song comes native with the warmth.
> O fret not after knowledge—I have none,
> And yet the Evening listens. He who saddens
> At the thought of idleness cannot be idle,
> And he's awake who thinks himself asleep.

The nightingale "amongst the leaves" has never *known* what Philomela knew amongst the humans. The utterance on the human scene serves the ritual function of denuding the self of all encrustations of the life of thought.

IV

The fourth stanza gives expression to an experience analogous to the mystic's Union with God. Having cleansed his Immortal Spirit, Blake's Milton declares: "I come in

[1] *Ibid.*, p. 172.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

Self-annihilation and the grandeur of Inspiration"; and Keats, having come out of the Dark Night of the Soul, with the dull brain still perplexing and retarding, finds himself possessed by the Imagination, described here as "the viewless wings of poesy," the supra-personal power. He is now in the world of the nightingale: "Already with thee!" From now on through stanza 7, the poet enjoys a life of Sensations, i.e. of Imagination. The context gives still further meaning to the bird: it is a denizen of the world of Imagination. The Union consists of a Trinity—of the poet, the bird and the Imagination. This achieved, the barriers of Time and Space fall away, and the poet is afoot with his vision. In one sweep of the Imagination the world of the Fairy Queen with "all her starry fays" and the trrestrial world of "verdurous glooms and winding mossy ways" are embraced. Stanza 5 is a riot of sensuous delight offered by the Imagination.

Stanza 6 bodies forth an experience equivalent to the mystic's ecstasy. J. A. Symonds, recollecting his experiences of the mystical ecstasy, writes: "I thought that I was near death."[1] And a Mohammedan mystic of Banaras was reported by the newspapers to have actually died in 1945 in a state of ecstatic transport, listening to the kauwali song "āshike imtiāz kyā jāne, farke nāzo niāz kyā jāne." Lovers have had a similar experience of the ecstasy of love, when transfigured by a man or woman; thus Othello: "If 'twere now to die, / 'Twere now to be most happy." (II, i, 189.) And Keats: "Now more than ever seems it rich to die." This experience of Keats's embraces his similar experiences of the past mythologies. Seen in his ecstatic vision, the nightingale is also dying out of sheer ecstasy: "Thou art pouring forth thy soul abroad in such an ecstasy." Milton's nightingale is simply a mate to the poet and to the lover: "Whether the Muse or Love call thee his mate,/Both them I serve, and of their train am I." Milton contrasts the nightingale with the owl, which is called by him the "rude bird of hate." Milton, obviously, borrows his ideas

[1] Quoted in *Varieties of Religious Experience*, pp. 300-301.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

from the Middle English poem of the 12th century "The Owl and the Nightingale," in which the owl stands for moral and religious poetry, and the nightingale for amorous lyric poetry. Keats's nightingale in this stanza, however, is, like Whitman's thrush as well as his own thrush, a tally of his soul. The ecstatically dying nightingale would sing and the poet would "to thy high requiem become a sod." But the nightingale will not die, for the poet will not die; he will simply become a sod, a turf, a "spear of summer grass" of Whitman, who, affirming his immortality, said that, ages hence, "look for me under your boot-soles"—in a blade of grass, of course.

In stanza 7 the poet and the nightingale, with one leap of the imagination, range all time and history, opening up vistas of immortality: "Thou wast not born for death, immortal Bird!" It is the same nightingale as transported to delight the emperor and the clown in the ancient days, Ruth in the Jewish days, and the Princess imprisoned in the enchanted castle in the Middle Ages. And again, it was none other than Keats himself—who hears the nightingale's song "this passing night"—that heard it in the persons of the emperor, the clown, Ruth, and the imprisoned princess. Stanza 7 records the climax of the poet's mystical vision, in which, as though by a metaphysical intuition, he "discovers, behind the complex outward appearances of things, the permanence of a unique essence."[1]

V

The last stage of a mystical experience is the emergence from the mystical state, a coming back to normal consciousness. The poet is tolled back to his normal, mortal, isolated self; the transcendent union has ended. The nightingale becomes the ordinary, mortal, and particular bird of the first stanza:

> ...thy plaintive anthem fades
> Past the near meadows, over the still stream,
> Up the hill-side; and now 'tis buried deep
> In the next valley-glades.

[1] Maro Praz, *The Romantic Agony* (Oxford, 1963), p. 228.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

The poem ends with the same normal view of reality with which it began; the curve of heightened consciousness now touches on the normal. After the heightened consciousness is gone, the poet is left wondering what is real and what is not:

Was it a vision, or a waking dream?
Fled is that music:—Do I wake or sleep?

The experience recorded in the poem is characterized by passivity, ineffability, noetic quality, and transiency as in any other mystical experience. The third and the fourth lines of the last stanza characterize poetry, as well as a mystical vision, as a transient dream, a temporary wish-fulfilment—a state which may grant us a glimpse of what we wish to be.

———

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

'UNDERTONES IN CHESTERTON'S OPTIMISM'

DR. S. BHATTACHARYA,

Department of English.

Our acute awareness of the dark, lonely and irrational aspects of life inclines us to regard the note of optimism or cheerfulness in literature as naive. The eclipse of G. K. Chesterton is perhaps due to his apparent optimism, his unconcealed exuberance and his Catholic religion. The journalistic flair of his writings and the over-worked paradox may also have been responsible.

Yet Chesterton in his day was a figure to reckon with. His vast outpourings ran into all the literary forms: poetry, drama, novel, short story, essay, criticism, biography, autobiography. There was even a history of England. He had illustrated other people's literary works. And he was an enormously popular writer. He grew up in the world of Swinburne, Hardy and Housman. His pugilistic polemics were effectively directed against Kipling, Shaw and Wells. Yet he maintained an emotional balance that made his antagonists respect him.[1] Such an author cannot be summarily dismissed.[2] And I submit that a study of Chesterton may help in understanding the central literary situation in the first quarter of the twentieth century.

Chesterton's optimism was not the unargued ostrich creed that Voltaire had exploded with his tremendous laugh in *Candide*. To Chesterton everything was not for the best

1 True to the spirit of his favourite figure paradox, Chesterton's greatest antagonist was also one of his best friends—Bernard Shaw. For Shaw's friendship and admiration for Chesterton see *Collected Letters of Bernard Shaw*, Vol. II, ed. Dan H. Lawrence (Max Reinhart, 1973).

2 Indications of the recent acknowledgement of Chesterton's value as social thinker and critic are to be found in W. W. Robson's *Modern English Literature* (O.U.P., 1970) and W. H. Auden's *Selection of Chesterton's Non-fictional Prose* (Faber and Faber).

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

in this best of all possible worlds. In fact his emergence into maturity is in a sense comparable to that of Wordsworth. There were in both an intense childhood, a tormented early youth and a manhood of restored faith that stayed for the rest of life. Of course the Wordsworthian process was much more complex and profound. In this paper I am chiefly concerned with the significance of Chesterton's middle phase—a period of intellectual and spiritual unrest that, as I shall attempt to illustrate, left its impress on his subsequent views and the rumblings of which can be heard through his professed cheerfulness later on.

The climate of thought in which Chesterton found himself in his growing years was heavy with pessimism and free-thinking. The disruption in the concept of human destiny caused by the Darwinian evolutionism was seeking to heal itself with Bergson's psychic past and the life force. But both Darwinianism and Bergsonism emphasised an impersonal universe where the human individual could only be propelled by forces beyond his control or choice; for Bergson too, while admitting free will, talks of the necessity of common effort on the part of the individual organisms in submission to the creative evolution. In literature and art, the aesthetic and impressionistic schools were shutting up within themselves, thus marking a withdrawal into desperate subjectivism. 'The pessimists of my boyhood', writes Chesterton, 'said with Swinburne:

I am weary of days and hours,
Blown buds of barren flowers,
Desires and dreams and powers
And everything but sleep.'

(*Autobiography*, Hutchinson, London, 1952, p. 331).

Swinburne's expression of cynical relief from 'the love of too much living' in *The Garden of Proserpine* is of course an extreme example of the scepticism in the air. The impressionists were not so direct. But they too implied the unreality of the human situation, as Chesterton analyses it with his characteristic humour:

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

.... there was a spiritual significance in Impressionism, in connection with this age of scepticism...... it illustrated scepticism in the sense of subjectivism. Its principle was that if all that could be seen of a cow was a white line and a purple shadow, we should only render the line and the shadow; in a sense we should only believe in the line and the shadow rather than in the cow......... It naturally lends itself to the metaphysical suggestion that things only exist as we perceive them or that things do not exist at all. The philosophy of Impressionsism is necessarily close to the philosophy of Illusion. And this atmosphere also tended to contribute, however indirectly, to a certain mood of unreality and sterile isolation that settled at this time upon me; and I think upon many others.

(*Ibid, pp.491-2*).

In this passage Chesterton touches certain fundamental questions of epistemology but avoids answering them. He wants to hasten to his conclusion and its implications. He admits to a growing sense of unreality, sterility and isolation but brushes aside the necessity, at this stage, of a square confrontation with these. It must however be granted that Chesterton's avoidance was neither deliberate nor dishonest. He was fully conscious of the challenge that the late Victorian scene offered. In the essay *On Books for Pessimists* he explicitly acknowledges the poignancy of the challenge:

A real fight was faught, a real controversy was engaged, in that Victorian era which some imagine to have been so stolid and unanimous. It was not, on the surface, a religious controversy. It prided itself, so to speak, on being an entirely irreligious controversy. Whitman was quite as much a freethinker as Hardy. He had the same disdain of invoking any immaterial facts to assist him. The question was quite simply, 'Is life worth living?'

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

> Even if Life is only what is involved in the word Biology. Putting aside immortality, is Life worth living ? Puttig aside heaven, is earth worth living in ?

Chesterton asked himself these questions and thought he had found an answer to them. In the fourth chapter of his *Autobiography* which he fantastically entitles 'How to be a Lunatic', he narrates what he calls the odd story of his optimism :

> When I had been for some time in these, the darkest depths of the contemporary pessimism, I had a strong inward impulse to revolt, to dislodge this incubus or throw off this nightmare. But as I was thinking the thing out by myself, with little help from philosophy and no real help from religion, I invented a rudimentary and makeshift mystical theory of my own. It was substantially this : that even mere existence, reduced to its most primary limits, was extraordinary enough to be exciting. Anything was magnificent as compared with nothing......... The mere fact that one could waive one's arms and legs about (or those dubious external objects in the landscape which were called one's arms and legs,) showed that it had not the mere paralysis of a nightmare. (*Ibid.* pp. 93-94).

In spite of his making fun of agnosticism, the passage has sincerity and candour as all Chesterton's writings have. The thing to notice is the awareness of the 'dark depths'—the abysmal irrationality of the human position that is indicated by the repeated image of nightmare. Chesterton's absorption in alienation caused by the nihilism of the times is embodied in one of his early novels *The Man Who was Thursday*. Chesterton warns us against treating this novel as merely a thing out of topsyturvydom and directs our attention to the sub-title—*A Nightmare*. The novel, he admits, is flimsy as a work of art but it has the allegorical value of depicting his own spiritual

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

struggle which was also the crisis of the age. There is in the story an ogre called Sunday whom some people took to be 'a blasphemous version of the Creator.' Chesterton explains that he meant him to be rather a process in the solution of pessimism:

> '......... the point is that the whole story is a nightmare of things......... as they seemed to the young half-pessimist of the '90s; and the ogre who appears brutal but is also cryptically benevolent is not so much God, in the sense of religion or irreligion, but rather Nature as it appears to the pantheist, whose pantheism is struggling out of pessimism. So far as the story had any sense in it, it was meant to begin with the picture of the world at its worst and to work towards the suggestion that the picture was not so black as it was already painted. I explained that the whole thing was thrown out in the nihilism of the '90s.........
>
> But I speak of it here because, though it came at the beginning of the story, it was destined to take on another meaning before the end of it......... First, I was trying vaguely to found a new optimism, not on the maximum, but the minimum of good. I did not so much mind the pessimist who complained that there was so little good. But I was furious with the pessimist who asked what was the good of good. And second, even in the earliest days and even for the worst reasons, I already knew too much to pretend to get rid of evil. I introduced at the end one figure who really does, with a full understanding, deny and defy the good. (*Autobiography*, pp. 102-3).

Obviously this is a rewritten account of the converted Chesterton. Yet Chesterton's character who denies and defies the good with full understanding is one who strains the limit of intelligence to find the meaning of life. Chesterton regained his optimism by a suppression of this side of his self, which nevertheless showed from time to time in his later writings.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

The Diabolist is a curious piece half way between a short story and an essay. It is given in the form of a reminiscence by the author of an event that happened to him when he was at an art school. It was just a quiet talk he had with another man. 'But',says Chesterton, 'that quiet conversation was by far the most terrible thing that has ever happened to me in my life'. The particular awfulness, according to him, lay in the last sentence spoken and this, he avers, he could not forget even if he would. The man with whom he had the conversation was a gentleman by class who had condescended into the Bohemian company of a section of art students. Chesterton and he debated orthodoxy and atheism, good and evil. This was done against a significant background Chesterton takes care to fix with the skill of an illustrator :

> 'Along the front of the big building of which our school was a part ran a huge slope of stone steps...... On a black wintry evening he and I were wandering on these cold heights which seemed as dreary as a pyramid under the stars. The one thing visible below us in the blackness was a burning and blowing fire; for some gardener (I suppose) was burning something in the grounds, and from time to time the red sparks went whirling past us like a swarm of scarlet insects in the dark. Above us also it was gloom; but if one stared long enough at the upper darkness, one saw vertical stripes of grey in the black and then became conscious of the colossal facade of the Doric building, phantasmal, yet filling the sky, as if Heaven were still filled with the gigantic ghost of paganism'.

This lurid fire and gloom locale serves as an externalization of the mystery of evil and contributes to the heightening of effect. The other man who had 'a horrible fairness of the intellect' conceded to Chesterton 'the humility of a simple joy' that is, the values of purity and innocence, but at the same time was convinced that he should find in evil a life of its own. And

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

he declared laconically 'what, you call evil I call good'. Yet this only made Chestrton despair of his friend's soul. What filled him with horror was a remark of this man made to another a few minutes later. When urged by this third man to indulge in some unnamed vice the Diabolist said, "I tell you I have done everything else. If I do that I shan't know the difference between right and wrong." The effect on Chesterton was crushing. He rushed out from the place and as he passed the fire he did not know whether it was hell or the furious love of God. 'But', he concludes, 'I have never known, or even dared to think what was that place at which he stopped and refrained'.

My purpose in reproducing this account at some length is to underscore Chesterton's deeper consciousness of the limitless possibility of evil in the human mind. He quailed, as here, when he found himself on the verge of these plumbless depths but try as he must he could not escape from a consciousness of its existence. It is not without significance that words like 'dark', 'sombre', 'diabolic', 'Satanic', 'phantasmal' etc are frequent in his writings. It is equally significant that references to or comparisons with Macbeth's castle are found quite a number of times in his essays and stories, especially in the Father Brown stories which are professedly engaged in a moral and spiritual examination of the problem of crime and evil.

The only part of Chesterton's writings that can claim continued life of a sort today is the Father Brown Stories. This is no doubt due to their being detective fiction, the most popular reading all the world over. There is also a volume of the *World's Classics* containing eighteen of these stories. For the purpose of the present paper, however, the interest derives from the special direction Chesterton gave to mystery-stories, namely the moral bias, and the history of Chesterton's religious conversion at its back. Just after his marriage he had gone to give a popular lecture at a small industrial town in West Riding. There he chanced to meet 'a small man with a smooth face and a demure but elvish expression'. This was Father O'

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

Connor, the Catholic priest who was later to admit Chesterton into Catholicism. Chesterton was at once struck by the little priest's free human ways and more than struck by his intimate knowledge of the underground world of crime. And so Father O' Connor was transformed into Father Brown, the priest-detective who solves all sorts of criminal mysteries but is concerned only with the spiritual disease involed in the crime. Chesteton's fascination for such a character and such an attitude springs directly from his realization of the full consciousness of evil in the Catholic faith. In the last chapter of his *Autobiography* he writes :

> '.........it was a curious experience to find that this quiet and pleasant celibate had plumbed those abysses far deeper than I......
>
> It brought me in a manner face to face once more with those morbid but vivid problems of the soul...... and gave me a growing sense that I had not found any real spiritual solution of them... They still troubled me a good deal; but I might have sunk more and more into some sort of compromise or surrender of mere weariness, but for this sudden glimpse of the pit at my feet. I was surprised at my own surprise. That the Catholic church knew more about good than I did was easy to believe. That she knew more about evil than I did seemed incredible'.
>
> (*Autobiography*, pp. 326, 328).

From this account one can see why Chesterton decided that the common man could be led to a better grasp of the issue of human destiny through an understanding of crime cum evil and by relating to it the fundamentals of morality. He had defended the penny dreadfuls as an expression of the inherent popular urge towards the basic moral values. Now he chose the most popular of literary mediums—detective fiction-to fight the growing loneliness of man which he found was due primarily to a blank desertion of moral awareness.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

Of the large number of stories contained in the five volumes of the Father Brown series, most, it is true, are interesting only in their ingenuity and in the later ones the didactic purpose is too intrusive not to be tiring. But in the best of them, *The Secret Garden*, or *The Hammer of God* for example, the effect produced is far grater than the paraphrasable purpose. The head of the Paris police who murders his guest and the priest who kills his brother are both honest men, very strict in principles and of considerable intelligence. But both had developed unawares a vacuum in their selves that let the rush of evil break into them and sweep them away. The police chief who is a fanatic atheist under his powerful intellect and dry cool efficiency decapitates the millionaire whom he had invited to his own house because the latter was going to give his millions to a poor Catholic church. The ascetic priest, in *The Hammer of God*, while looking down from the height of a Gothic church on his dissolute brother felt he could crush the immoral worm by letting drop a hammer on his head. It is the pride of a cause that betrays these two good men into a spiritual isolation where the fellowship of life is snapped. When Father Brown makes it clear to Wilfred Bohun, the priest, that he knew his crime, Bohun frantically asks, 'How do you know all this ? Are you the devil ?' And Father Brown answers :

> I am a man .... and therefore have all devils in my heart. I know what you did—at least, I can guess the great part of it. When you left your brother you were racked with no unrighteous rage to the extent even that you snatched up the small hammer, half inclined to kill him with the foulness on his mouth. Recoiling, you thrust it under your buttoned coat instead, and rushed into the church. You pray wildly in many places, under the angel window, upon the platform above, and on a higher platform still, from which you could see the colonel's Eastern hat like the back of a green beetle crawling about. Then something snapped

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

in your soul, and you let God's thunderbolt fall. '(*Father Brown*, World's Classics, 1955, p. 132).

These words put in the mouth of Father Brown imply the human complexity of evil and the working of the instruments of darkness on the isolated ego to confuse the sense of good. The problem posed is of universal human significance.

Chesterton's polemical writings are outside the immediate scope of the present paper. It may however be observed that his crusades against atheism, materialism, industrialism, capitalism, socialism and philanthropy are all centrally gathered up in one quest—the search for means to repatriate the homeless modern man. In his own way, Chesterton like Galsworthy had a sensitive perception into the impact of industrialism on the human situation resulting in the sapping of the essential emotions and urges. Only his reaction took the habitual discursive rather than the creative form. His mediaevalism also proceeds from this side of his creed, though he praised only the best of mediaevalism, its morning and not its monsterous last twilight. In the 'Introduction to a New Edition' of the *Short History of England* Chesterton triumphantly observes :

> I have lived to see Bernard Shaw the Modernist complete the case for Chesterton the Mediaevalist. When I defended its glory he has defended even its decay. For he has defended it on the fundamental ground ; .... the fact that the mediaeval men's vision of Christendom was something much larger than our empires and races and vested interests.' '(*A Short History of England*, Chatto and Windus, 1951, p. viii).

Commenting on the departure in modern times from this mediaeval vision of one humanity, Chesterton further writes :

> With that change the world improved in many things, but not in the one thing needful ; the one thing that can make them all one. It did not become more

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

> universal; it became much less universal; for it only picked up and polished the fragments of a shattered universe. (*Ibid*, p. ix).

Eleswhere in many of his essays and articles Chesterton has emphasised the fragmentation and automation caused by the onset of industrialism in man's life. A convincing example is in the essay *The Little Birds Who Won't Sing* where he points out the devitalized, impersonal jobs forced upon us by industrial bureaucracy. The severance of this kind of work from the springs of life is most evident in our inability to sing while doing these jobs. Chesterton poses the problem to himself:

> '.........the sight of men working in the English fields reminded me again that there are still songs for harvest and for many agricultural routines. And I suddenly wondered why, if this were so, it sould be quite unknown for any modern trade to have a ritual poetry. How did people come to chant rude poems while pulling certain ropes or gathering certain fruit, and why did nobody do anything of the kind while producing any of the modern things? Why is a modern newspaper never printed by people singing in a chorus? Why do shopmen seldom, if ever, sing?' (*Essays*, Collins, pp. 124-5).

After some more specific examples of the songlessness of modern industrial workers like auditors, bank-clerks and solicitors, Chesterton detects that this emotional withering is not a material but a spiritual symptom—'that there is something spiritually suffocationg about our life; not about our laws merely but about our life., While musing this he chances to pass a building of some religous sort which is shaken with collective singing. And he eagerly concludes that 'with us the superhuman is the only place where you can find the human. Human nature is hunted, and has fled into sanctuary.' (*Ibid*. pp. 127-8). That this analysis is not quite superficial may be seen in the very modern Hare-Krishṇa cult.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

Chesterton is a puzzle in many ways. He was an unashamed romantic who thought the romantic attitude a help on both petty and big occasions of life. He was a conservative democrat opposed both to Capitalism and Socialism. He took religion very seriously. He also believed that the more serious a thing was the better joke it could make. But in his quest for Truth and Reality, 'facing the reality about oneself' as he calls it, he came the full circle of pessimism and optimism. His optimism was not exclusive but eclectic, though a little unresolved. 'I began' he says towards the end of his *Autobiography*, ' by being what the pessimists called an optimist; I have ended by being what the optimists would very probably call a pessimist. And I have never in fact been either'. (p. 328).

Chesterton could not, as Shakespeare did in *Hamlet*, produce 'a perfect tabernacle for the questioning modern brain' but he went a few steps on the road to it.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

THE CONCEPT OF TECHNIQUE IN FORMAL CRITICISM : AN ESSAY IN THE THEORY OF TRANSCENDENCE

A. P. AVASTHI

Research Scholar, Dept. of English, Banaras Hindu University

I

The general conception of technique is rooted in the formal view of art. In rendering a work of literary art, technique is a method of procedure with reference to practical or formal details. Urban T. Holmes defines method (in the sense of technique) as the "planned procedure followed by a literary artist in the composition of his work."[1] Holmes further remarks that too detailed a method makes for rigidity and dampens inspiration, but "even the 'madness' of genius profits by this control." Aristotle, who combines the formal with the mimetic view of art (*Aristotle's Poetics*, tr. S. H. Butcher, iv: 1-6), claims that art satisfies two needs in man : an instinct for imitation and an instinct for internal harmony. The mimetic instinct finds delight in perceiving correspondences between literature and external reality, while the instinct for formal harmony derives pleasure from perceiving correspondences among all the different elements of a literary work. The reality imitated by art becomes transformed in the course of the artistic process ; and, thus, imitation, even for Aristotle, actually means an idealized representation of human life. The modern conception of technique lays emphasis on the transformative and interpretive devices of art. Technique is thus viewed as the mediator between life and the literary work.

The most influential conception of technique in the formal analysis of fiction has been developed by Mark Schorer.[2] Before

1 "Method", *Dictionary of World Literature*, ed. Joseph T. Shipley (Paterson, N. J., 1960), p. 271.

2 "Technique as Discovery," *Hudson Review*, I, 1 (Spring 1948). My references are to this essay reprinted in *Approaches to the Novel*, ed. Robert Scholes (San Francisco, 1961), pp. 249-268.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

the publication of his essay "Technique as Discovery" (1948), it was customary to think of "techniques" as specific fictional devices for rendering experience: such as the point of view, dramatization, narrative devices, stream-of-consciousness method, and so on. Schorer expanded the notion of technique beyond the mere mechanics of the craft and made it synonymous with the fictional form itself. He looks upon technique as the overall organizing form in which all the elements of fiction become assimilated. He equates technique with form and beauty on the one hand, and content with subject matter and truth on the other. Art for him is not content, but "achieved content," and "the difference between content, or experience, and achieved content, or art, is technique."[1] Such a view of technique has been influenced by the various organic theories of art, developing from Coleridge, Emerson, and Melville and coming down to T. S. Eliot and Herbert Read, to name only two in our own time. Herbert Read goes to the extent of asserting that form *is* the content. The general assumption underlying the various theories of organic form is that it is the author's "artistic responsibility" that shapes the final meaning in the work of art. The phrase "organic form" particulary describes the modern novel which revolts against the convention of the tight plot. Emerson defines form in terms of organism: "For it is not meters, but a meter-making argument that makes a poem,—a thought so passionate and alive that like the spirit of a plant or an animal it has an architecture of its own and adorns nature with a new thing. The thought and the form are equal in the order of time, but in the order of genesis the thought is prior to the form."[2] Henry James re-states this seminal idea of Emerson's, applying it to the novel: "A novel is a living thing, all one and continuous, like any other organism, and in proportion as it lives will it be found, I think, that in each of the parts there is something of the each of the other

[1] Schorer, p. 249.

[2] *Selections from Relph Waldo Emerson*, ed. Stephen E. Whicher (Boston, 1960), p. 225.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

parts."[1] Mark Schorer's conception of technique is, obviously, indebted to this conception of organic form of the nineteenth century.

Schorer remarks that when we speak of technique, we speak of nearly everything :

> For technique is the means by which the writer's experience, which is his subject matter, compels him to attend to it ; technique is the only means he has of discovering, exploring, developing his subject, of conveying its meaning and finally of evaluating it. And surely it follows that the writer capable of the most exacting technical scrutiny of his subject matter will produce works with the most satisfying content, works with thickness and resonance, works which reverberate, works with maximum meaning.[2]

This passage focuses attention on what technique accomplishes in transforming raw experiences of the author into art. First, technique helps the writer to discover, explore, and develop his subject out of the raw impressions of life. Secondly, it is technique, and technique alone, that conveys the meaning of experience. Thirdly, technique assesses and evaluates the experiences presented in fiction. The second part of the passage draws the conclusion that the more exacting an author is in his technical scruitiny of experience, the more satisfying will be the content of his work, the more full of richness will be the density of its texture ("the air of reality," "the solidity of specification", in James's words), and the more will it have reverberations and meaning. Technique, as Schorer conceives it, is "a means towards the positive definition of theme."[3] As for the resources of language, he looks upon them, too, as a part of the technique of fiction, for they create "a certain texture and tone which in themselves state and define themes and

---

[1] "The Art of Fiction," in *Approaches to the Novel*, pp. 301-302.

[2] Schorer, pp. 249-250.

[3] *Ibid.*, p. 250.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

meanings." A conscious manipulation of language forces it "into all those larger meanings which our ordinary speech almost never intends." Technique in fiction is "the means of exploring and defining the values in an area of experience which [i.e. the values] for the first time *then*, are being given."[1] Theoretically, Schorer assumes technique in fiction to consist of "all those obvious forms of it which are usually taken to be the whole of it, and many others." He equates technique with T. S. Eliot's notion of convention—"any selection, structure, or distortion, any form or rhythm imposed upon the world of action ; by means of which—it should be added—our apprehension of the world of action is enriched or renewed."[2] In this sense, remarks Schorer, everything is technique "which is not the lump of experience itself."

Schorer's conception of technique as the formative effect on the content of a fictional work has been confirmed by Elizabeth Bowen's observation that the writer comes to understand his characters only "in the course of the actual writing of the novel."[3] Like Schorer, she emphasizes the primacy of purely literary elements in a fictional work. She is, however, more specific than Schorer in naming and discussing the elements in a literary work which are not "the lump of experience" itsef. Schorer considers technique in relation to the theme, meaning, and value in the novel ; Elizabeth Bowen, likewise, considers plot, characterization, scene, dialogue, angle of vision, and the interaction between these elements in relation to the poetic truth the novel states.

II

In an enlarged conception of technique plot, characters, theme, dialogue, point of view, tone and style, symbolism, irony, fantasy, humour, the stream of consciousness, and such fringe devices as exotic names, simile and metaphor can be both

---

[1] *Ibid.*

[2] *Ibid.*, p. 251.

[3] Elizabeth Bowen, "Notes on Writing a Novel, " *Perspectives on Fiction* eds. J. L. Calderwood and H. E. Toliver (New York, 1968), pp. 217-230.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

"functional" in their relevance to the theme or poetic truth and "ornamental" in inviting the reader to admire their beauty for its own sake. This fact compels us to assume the principle of polysemous meaning in literature. If the poetic truth or theme is assumed to be the aim of all other fictional elements and devices we have just named, it follows that they must be relevant to it in a work of literary art; but the principle of polysemous meaning assumes that they can also transcend their function in relation to the criterion of relevance and may suggest meanings beyond the particular theme.

The principle of polysemous meaning, thus considered, will permit us to look upon *The Merchant of Venice* as both the comedy of the Gentile Merchant and the tragedy of the Jew of Venice. The complexity of experience "discovered" and richness of meaning embodied in this play can best be approached with a polysemous conception of literature, an enlarged view of technique, a critical theory of transcendence of meaning as suggested above. It is the richness (as E.M. Forster names it) or the thickness and resonance, the reverberations, the maximum meaning (as Schorer names it) in a work of literary art that becomes a casualty if a narrower conception of technique —such as tight plotting —is applied to it. Judged in the light of a strict relevance of characters and other elements of the play to its plot, Shylock would appear to be a villain, and nothing but a villain. The comic plot of this play may be said to consist in the structuring of the incidents in such a way that the readers or spectators have sympathy with the adventures of Bassanio, their expectation of a happy conclusion of his plans is aroused, and, after a painful suspense, the expectation is gratified. If this is taken to be the plot of the play (as the non-Jewish Elizabethan audience most probably took), then Shylock is only relevant to it as a villain. The excellence of Shakespeare's characterization of Shylock, however, lies in this character's ability to transcend the requirements of this Gentile-oriented view of the plot, while fulfilling them at the same time. In his creative exuberance, Shakespeare exhausted the potentialities

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

of Shylock's character; and it is no wonder that when a leading actor plays the role of Shylock, we view him as the tragic hero of the play. The comedy of the merchant of Venice appears, then, to be cheap and tawdry, and we look upon this Shakespearean play as nothing short of the tradgdy of the Jew of Venice. Bassanio, Antanio, and their associates, then, appear to be money hunting villains: Portia is courted by Bassanio and Jessica by Lorenzo for the money they can bring to their lovers. The Gentiles have no excuse for their ill-treatment of the Jew and his race; theirs is the Original Sin, of betraying a fellow human. Shylock's sin is only an induced evil, the motive of revenge against the depraved persecutors of his race. He, the tragic hero, has his fatal flaw in his diabolizing, but justifiable, motive of revenge. The reader who is free from the Christian or Jewish prejudices can see both the comedy and the tragedy of the play.

The critical theory of transcendence we have evolved thus far, through an enlarged view of technique and polysemous conception of literature, can be diagrammatized for a visual presentation in the following illustrative, though simplified and hence defective, figure:

Diction Thought Character Plot

The Criterion of Relevance: Theme (Poetic Truth)

Plot Character Thought Diction

For neatness of presentation, only the chief literary elements have been selected: plot, character, thought, and diction. The two-way traffic between the plot and the criterion of relevance signifies that the plot is conceived with a view to the poetic truth which it states. Similarly with character, thought, and diction, which are severally, as well as combinedly, conceived with a view to the criterion of relevance. But the converging directions of plot, character, thought, and diction also cut across the criterion of relevance; after they have met

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

at the point of stating the theme, they transcend the requirements of the criterion to reveal some of their aspects not required by it. For lack of a more suitable word, I have called the transcending aspects of these elements "ornamental". But they need not be always considered ornamental in the ordinary sense. For example, the transcending aspect of the character of Shylock, far from being merely ornamental in the ordinary sense, is capable of setting up a new criterion of relevance by obliterating completely whatever existed in its place before. For who can decide what is the ornamental and what is the functional aspect of Shylock ? If a literary work were perfectly done, it would, as Hemingway says, mean many things. It is only such aspects of diction as alliteration that are ornamental; but even alliteration can be functional by contributing to the discontinuity of the writing. And occasionally, sound effects and rhythm produce imitative harmony, but only occasionally. In any work of literary art, we can perceive aspects of diction that are not relevant to "thought," aspects of "thought" that are not strictly relevant to characterization, aspects of character that are not strictly relevant to plot, and aspects of plot that are not strictly relevant to the poetic truth or theme which the work seeks to express. But these aspects have significances and beauties of their own; I have called these "ornamental."

The two-directional traffic in the bottom-line of the diagramme represents the interaction between the two fictional elements it points to. The defect of this simplified diagramme is that it gives an impression of being too analytical; the fact is that each of the elements is involved in each of the other elements in its functional aspects in any fictional work. Also, because of the limitations of diagrammatic presentation, "plot" at the bottom and "plot" on the top may give the wrong impression of suggesting a movement, while nothing of the sort is intended. Actually, it is simply meant to indicate the two aspects of the same plot: a functional aspect and another transcending the function. The

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

theory of transcendence—which looks closely at these two aspects of all internal elements—helps discover, in formal analysis, the polysemous structure of a literary work and safeguards against eccentricities and errors of interpretation and explication.

III

In Shakespeare, the raw materials, the "lump of experience," come from history or other written records; but it is his technique, as defined in this paper, that discovers for him themes and meanings in the raw material he uses. In other writers, the raw material may only come from their own observations of life around them, from the myriads of impressions received by their minds. But these observations and impressions are transmuted into art by technique, as in Shakespeare. The critical concept of transcensions may not apply, at the thematic level, to all writers as it does to several works of Shakespeare. But it does apply to writers who are particularly preoccupied with the very ambiguities of life and reality in the universe. It applies, for example, to the fiction of Herman Melville. I should like to end this discussion with a few suggestive hints about "transcendence" of meaning in Melville's shorter fiction.

In *Bartleby*, the lawyer seems to be a tolerant, protective father-figure in relation to Turkey, Nippers, Ginger Nut, and Bartleby himself, if we trust the narrator's point of view. It is only a close scrutiny which reveals that the narrational point of view is not reliable. Then we begin to see the lawyer in a new light of irony; he is really an innately depraved man, who, as a boss, tries to play a god with God Himself (i.e., with Bartleby, who is the "least of the bretheren" of Christ), and he is resresponsible for the latter's extinction. As a boss, the lawyer is the agent of the Devil; he works for the establishment, for John Jacob Astor. In *The Encantads*, transcendence can be seen on the level of the theme. Hunilla is a suffering Christ who *lives* with a cross, suffers but keeps her faith and hope

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

intact. But the theme of suffering and enduring with a cross is cut across by another theme, of sane despair, embedded in the reliable narrator's point of view. In *Benito Cereno*, transcendence can be clearly seen on the level of the plot. Trusting the point of view of Amasa Delano, we see the tyranny, cruelty, and evil of the negroes in their treatment of the white. But the deposition of Cereno makes it clear that the negroes' is merely an induced evil; the Original Sin lies with the white. The entire social system of the white is tarred with the sin of inequity and injustice. The concept of transcendence helps us to see the "tables-turned" structure of the plot. In *Billy Budd*, Captain Vere, like the lawyer in *Bartleby*, seems to be a father-figure who does not hesitate to sacrifice his son for the preservation of society. But if we pay attention to the authorial point of view and the thought embedded in it, we see Vere as an innately depraved man who sacrifices his own illegitimate son, Billy Budd, in order to gain his ambitious advancement in the hierarchy of the establishment for which he works.

Melville, like Shakespeare, obtained most of his material from written records of sea voyages; but he also obtained his material from his own observations and experiences. He transmuted this material into art by discovering "transcending" themes and meanings through his technique.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

ATTITUDE TOWARDS MEDICAL PROFESSION BY THE DOCTORS

AKHILESHWAR LAL SRIVASTAVA
Lecturer, Department of Sociology, B.H.U.

Medical profession along with engineering, management and law are termed as established professions in contemporary society.[1] Of these professions, medical profession is considered to be the most important and vital for the sustenance of society. It contributes not only to the improvement of the health and alleviation of the sufferings of the individual but has far-reaching consequences for the structuring and persistence of the social system as a whole.

In India, medical practice has existed since antiquity. But its emergence as a modern profession is of recent origin. Since the advent of British regime in India, the western medical system came here. Its early proponents were christian missionaries who brought western medicines based on a new system of treatment to India.[2] This system grew with the ever-increasing contact of India with the western countries. In contemporary India, modern medical system, as propounded in the west, is the most common system in practice. It has developed both in the form of private practice by the qualified and recognised physicians on the one hand and by the institution of hospitals on the other. There has been phenomenal rise in the number of doctors and medical facilities has extended to a very large extent in India. The doctors in India have fairly established themselves as a professional group, qualified and

---

[1] Gross, E. 'Change in Technological and Scientific Developments and its impact upon the occupational structure' published article in 'The Engineers and the Social System' Ed. by Perrucci, R. and Gerstl, Joel, E., New York—John Wiley and Sons Inc. 1969, p. 41.

[2] Corwin, E. H. Lewinski 'Hospitals and Sanatoria' Encyclopaedia of the Social Sciences, Vol. VII, p. 467.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

recognised by the government and are expected to perform the professional roles in tune with medical norms and values on the one hand and the statutory requirements prescribed by the government on the other.[1] In between these two the personal motive, aspiration of the doctors and the prevailing socio-cultural norms, values and taboos come to play significant role to determine the conduct, behaviour and gross performance of the doctors.[2]

The present paper investigates the professional status and role performance of the doctors as it has emerged in Indian situation. It desires to know how the doctors perceive the medical norms and values ? In what manner they maintain their professional relationship with the patients ? Broadly the focuss of the doctors pertaining their professional behaviour and status in Indian setting.

Methodology :

The universe of the present study consists of the doctors of Hospital situated in the U.P. In the hospital at the time of the survey there were 250 doctors, 18 medical officers and 13 doctors belonging to Ayurvedic medicine.

Out of this universe, following the startified quota sampling method 100 respondents have been chosen. This includes 10 professors, 25 readers, 20 lecturers, 20 clinical registrar, 15 medical officers and 10 house surgeons.

Objectives of the Study :

The study aims at the following :

(a) To know about the doctor's perception of the emerging pattern of the medical profession in India.

(b) To know about the nature of inter-personal relationship between doctors and patients.

---

[1] Henderson, L. J. 'On the Social System' Chicago, The University of Chicago Press, 1970, pp. 202-11.

[2] *Ibid.*

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

(c) To know about the professional competancy and efficiency of the doctors.

(d) To know about the doctrs' professional dealing with the patients.

(e) To find out the correlation existing between the length of service of the doctors and their perception of the medical profession in India.

Instrument of Data Collection :

A structured interview schedule was used to collect data for present study.

Analysis and Interpretation of Data :

The respondents have been asked to inform about the professional conduct, status and inter-personal relationship of the doctors with the patients in general. They have to provide these information not in the context of particular situation but have to evaluate in the total situation of the role performance and professional conduct of the doctors in India as a whole.

Professional conduct of Doctor in India :

In modern Indian society the medical facilities are rapidly expanding and the number of doctors is increasing at a very great rapid pace. The rapid expansion in its wake has brought certain serious descripancies and malfunctioning in the operation of medical profession in India. The demands of the medical profession and the spirit of dedication to the cause of human welfare are often at logger head with the self interest and personal gains of the doctors. A conflict between the two may have serious implications for the functioning of the medical profession in India. The respondents of the present study have been asked to inform about their views regarding the emerging pattern of professional conduct among the doctors in India.

Table 1 points out certain very significant facts about the professional behaviour of the doctors. Though the most

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

of the respondents (45 per cent) are of the opinion that medical profession in India comprises of a group of people who contribute towards the health of the members of the society, yet there is a small but very significant percentage of the respondents (12 per cent) who are of the opinion that it constitutes as a group of people who are mad for money rather than interested in professional ethics, such as service of humanity and advancement of scientific knowledge. There are 9 percent respondents who are more critical of the profession and suggest that it constitutes as a group of people, who by virtue of their skill

TABLE 1

Professional conduct of the doctor in India in relation to the length of service of the respondents.

Length of service of respondents	Total	*a*	*b*	*c*	*d*	*e*
Below 5 yrs.	40 (100.0)	8 (20.0)	23 (57.5)	4 (10.0)	3 (7.5)	2 (5.0)
6 to 10 yrs.	35 (100.0)	10 (28.6)	15 (42.9)	3 (8.6)	5 (14.2)	2 (5.7)
10 yrs. and above	25 (100.0)	5 (20.0)	7 (28.0)	4 (16.0)	4 (16.0)	5 (20.0)
Total	100 (100.0)	23 (23.0)	45 (45.0)	11 (11.0)	12 (12.0)	9 (9.0)

a—It stands a cohesive group of professionals organized for the welfare of the soceity in general.

b—It comprises of group of people who contribute towards the health of the members of society.

c—It is only the group of people who have greatest occupational security.

d—It constitutes a group of people who are mad of money than interested in professional ethics such as service of humanity and advancement of scientific knowledge.

e—It constitutes a group of people who by virtue of their skill and indispensability exploit the society.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

and indispensability exploit the society. The findings are further reinforced when we view the distribution of data according to the length of the service of the respondents. Those who have spent a longer period in this profession and are supposed to know the profession more closely have in greater proportion and more vehemently criticised the medical profession. Those who are younger seem to be somewhat altruistic and have idolised the medical profession.

Thus the doctors themselves are of the opinion that the medical profession in India has not emerged on expected pattern which may be in tune with the scientific rationality, total dedication, impersonality and strict adherence to medical norms and values. In a small but in a significant part of this profession some trend is developing which is dysfunctional to the medical system.

Interpersonal Relationship between the Doctors and the patients :

The arch stone of the medical profession is the doctor patient relationship. The patient is related with the doctor in fiduciary relationship. The patients repose a confidence in the professional ability and behaviour of the doctor and surrender themselves to the doctor under the influence of such confidence. This confidence is aroused by the behaviour pattern and the role performance of the doctor. The doctors' behaviour towards the patient is, thus the very crux of the treatment and rejuvenation of the patient. The measurement of this behaviour of the doctor towards patient is also the measurement of successful functioning of the medical profession. As such the respondents of the present study have been asked to inform about the nature of doctor's behaviour with the patients. Table 2 points out very significant result. Only 35 per cent respondents are of the opinion that doctors are highly sympathetic towards patients. But a majority of the respondents (65 per cent) think otherwise. To them the doctors in India are neither sympathetic nor unsympathetic but business like. Irrespective of the length of the service of the respondents,

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

majority of the respondents have considered the doctors' behaviour as business like.

TABLE 2

Interpersonal relationship between the doctors and the patients in relation the length of service of the respondents.

Length of service of the respondents	Total	Highly sympathetic	sympathetic nor unsympathetic but business .ike
Below 5 years	40 (100.0)	15 (37.5)	25 (62.5)
6 to 10 years	35 (100.0)	11 (31.4)	24 (68.4)
10 yrs. and above	25 (100.0)	9 (36.0)	16 (64.0)
Total	100 (100.0)	35 (35.0)	65 (65.0)

Though impersonality is the core of any bureaucratic organization but the hospital organization is slightly different where the personal interest, sympathy, mutual understanding and confidence between the doctors and patients are very necessary for the betterment of patients health and to some extent for the successful performance of the professional roles of the doctors. Thus the business like attitude of the doctors towards the patient is not only contrary to the expectation of the patients but is also against the basic ethics of the profession. Thus, to some extent such behaviour pattern which is noticeable among the doctors, will reflect unhealthy growth in the medical profeesion.

Professional Efficiency of the Doctor :

The efficiency in performing the professional role is the hall mark of the successful career of the doctors. The training of the doctors at the statutary requirements are primarily intended to make the doctors a perfectionists in the art of

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

healing. But the ideal and the real differ greatly. There are many doctors, who inspite of being possessed with required qualification and training, are either unefficient or do not have professional committment. To enquire into this the respondents have been asked to inform about the professional efficiency of the doctors in India.

Table 3 reviews that majority of the respondents (61 per cent) feel that the doctors in India are professionally competent. But there is a significant percentage of the respondents (29 per cent) who are of the opinion that the doctors in India lack professional committment. Those respondents (40 per cent) who are in this profession for alonger length of period are comparatively more critical about the doctors' professional competency than the younger doctors (27.5 per cent). It may be further pointed out that there is 10 per cent respondents who think that the doctors in India are professionally incompetent and inefficient. Thus it may be concluded that irrespective of the fact that there is a large number of those who are inefficient, incompetent and possess no professional committment, is nevertheless significant.

TABLE 3

Professional efficiency of the doctor in relation to length of service of the respondents.

Length of service of the respondents	Total	Doctors are inefficient	Do not have professional committment	Professionally competent
Below 5 yrs.	40 (100.0)	4 (10.0)	11 (27.5)	25 (62.5)
6 to 10 yrs.	35 (100.0)	4 (11.5)	8 (22.9)	23 (65.7)
10 yrs. and above	25 (100.0)	2 (8.0)	10 (40.0)	13 (52.0)
Total	100 (100.0)	10 (10.0)	29 (29.0)	61 (61.0)

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

Fair Dealing with the Patients :

The dealing of the doctor with the patient is supposed to be fair without considerations of the higher status and influence of the patients or without any ulterior motive or personal gain. The doctors consider the patients' case with utmost care and sympathy. But in actual practice, there may be doctors, who do not give equal attention to all the patients and are often induced by personal gains or influence of the patient. As table 4 points out there are 74 per cent respondents who think that the doctors in India pay better attention to those patients who possess higher status and are influencial. This is true with all the three experience groups of the respondents. Comparatively higher percentage of these respondents (84 per cent) who have been in this profession for a longer length of period, feel that the doctors are amenable to extra professional influence and higher status of the patient, than those respondents who have been in this profession for a shorter length of period. In the sample there are only 19 per cent respondents who are of the opinion that doctors in India give equal attention to all the patients irrespective of their status.

TABLE 4

Fair dealing with the patients in relation to the length of service of the respondents.

Length of service of the respondents	Total	Give equal attention to all the patients irrespective of their status	Provide attention to higher status and influence patients	Looks those patients who can provide money
Below 5 yrs.	40 (100.0)	8 (20.0)	30 (75.0)	2 (5.0)
6 to 10 yrs.	35 (100.0)	8 (22.0)	23 (65.7)	4 (11.4)
10 yrs and above	25 (100.0)	3 (12.0)	21 (84.0)	1 (4.0)
Total	100 (100.0)	19 (19.0)	74 (74.0)	7 (7.0)

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

Conclusion :

The foregoing analysis reveals that the doctors themselves are very critical of the functioning of medical profession in India. Both with regards to the adherence to medical norms and values and also with regard to their interaction with the patients, the doctors in India have failed to rise to the expected pattern of behaviour. In India the doctors are gradually tilting towards extra professional loyalities and their behaviour towards the patients is guided by personal gain, socio and economic factors rather than by the strict medical standard. Though the doctors in India are a cohesive group of medical practitioners, yet they do not adhere to demands of the medical profession. It seems as if a tendency is slowly creeping, which is taking them away from the impersonal profession and leading them to a field where business, profiteering, self interest and self aggrandizement are of paramount importance.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

"A CORRELATION BETWEEN SCIENCE AND HUMANITY"

GAURI SHANKAR UPADHYAY
Department of Sociology, B.H.U.

The Modern Society faces three most important questions:

Is science a menace to human society ? Is Science helpful in bringing about social solidarity ? Is there any correlation between science and humanity ?

Science means systematic and formulated knowledge. But on the broader sense of the term, science means a method which can be applied to study with the use of sense data more accurately any subject or human problem with a view to solving human problems and bringing welfare and progress to humaity. Science, therefore, is a constructive force which tremendously affects the being and thinking of man.

Humanity is a concept that refers to ideologies which govern human activities and lend solidarity to human Society which, according to Durkheim, a great sociologist, is a sign of social health. Thus scientifically, humanity may be defined as an aid to human welfare or human progress.

Science and Humanity are the two wings of the "Human-Progress-Project". They are the interdependent factors of human advancement. Thus one factor becomes meaningless in the absence of the other. Progress and decay of one, therefore is the progress and decay of the other. They have every thing common between them. In the absence of science, humanity would become severely handicapped, devoid of the power to become helpful for human welfare. Thus science is a means to humanity. On the basis of cogent logic it is now shown that there is a correlation between Science and Humanity and the result of this correlation is human progress. Consequently, science and humanity are the international phenomena and the whole world can be turned into a single society in terms of science and humanity.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

"The Evolution of Science and Huminity"

It is very difficult to say which of the two evolved first but it seems that both are "Suigeneries." Sociologists agree that society is 'Suigeneries, Since society is Sui-generies' it is clear thus that Science and Humanity both are 'Sui-generis', But logically it seems that science, humanity and society are the product of 'human's inventive mind'. In the lack of this inventive mind and biological potentiality, animal could not form a society such as modern human society. Man differs from animal not only due to this inventive mind and behaviour but also due to his great human qualities. The "Human necessity" is the mother of invention. Science and Humanity both evolved together from the necessities of the primitive human beings, and for the achievement of highest degree of progress of Science and humanity, they formed the 'Human-Society'. Because without society we can not imagine the word 'we' and without the sense of 'we' science and humanity do not come into existence, what is beyond the universe. We can not say but we are fighting with shoulder to shoulder to reveal the truith of the secret which is beyond the universe, that truith surely may be fruitful for the welfare of human beings, the word 'we' contains the elements of Humanity, the word 'I' can do nothing but the word 'we' can do every thing in the universe, thus the word 'we' is universal and not the word 'I'.

Society does not Automatically come into existence. But human beings unite in the form of society because each has something to give which the other needs. Man has not only material desires and needs he also has 'super material desires'. Directly or indirectly he fulfills his both the desires by means of science. Man's 'Super matrial desires' give him knowledge of universalism and humanity. In Parsons' view, who is a great sociologist, this kind of Man's desires or needs may be called 'diffused' or universal desires. This desire of human beings also force them to unite into one tie-like 'World-brotherhood'. Thus man's 'super material desires form the sense of humanity. A man of science and Hunimity does not work only

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

for his own facilities but the facilities of the entire society with a greater amount of energy.

A man of science and Humanity can realy be called a devotee of Satyam, Shivam, Sundaram, Satyam means 'truth', Shivam mens welfare' and sundaram means' beautiful'. Hence truith may be connected with science and 'welfare' may be connected with Humanity. It means that science and Humanity both together can make only thing beatiful.

"The Means of Humanity"

The means of Humanity is science. Without science humanity will never be a 'perfect active humanity'. In absence of science man will always remain in contradiction and dilemma. He will behelpless. It is also evident that eulture, living standard and under standing of each other, inprimitive society were different from today's society. This was due to the absence of scientific knowledge. It is the science which has united the whole world into one tie-like' United Nation'. One important question arises here, that if we can not go from one place to another, if we can not send message from one part of the world to the other, if we can not know in which corner of the world, Man lives, how we can give something to them interm of Humanity. Suppose there are men in any part of the world and they are in a critical situation requiring our humantarian help. How will you help them in humanatarian way ? we can not help them. Here our humanity demands the tools of science.

A Man Made his own house, family and human relation with each other, what! what! he did not do..................... but in the last, he will have to go in the Jaw of Mysterious death, created by nature. Nature takes pleasure to seperate a baby from his own Mother, and a lover from his beloved but here humanity has only tears in its eyes. In this situation, for the sake of humanity we will have to peep into the door of science, which is the measure tools of humanity.

Science has given unlimited means for the fulfilment of our needs and desires. It has given means of producing more

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

food, communication between any two points, many a time—saving and labour saving devices, better methods of entertainment and Journey like, radio, telivision, Aeroplane etc. which have brought definitely a revolution in the society.

Science has also given us War weapons like atom-bomb and Hydrogen bomb, which can destroy the modern structure of the world, if they are used, and men may be forced to come back again to the stone age. Let, Almighty give us consciousness, the discoveries of these war-weapons are not bad but the way in which we use them is the root cause of the evil. These discoveries are the sign of our mental ability. By the help of these discoveries, we understand the secret power of energy and they may be used in purposive work of the Society.

The greatest wealth of the man is his 'knowledge' and 'Consciousness'. By his 'knowledge' he can win over the nature and by his consciousness he can use the natural resources for his betterment. The nature, the Atom-bomb and the Hydrogen bomb are not living being that they will have their own goal-like the tools of our body. But it is our duty to use our tools of body to achieve our goals. We can use the tools of our body both for bad and good deeds. It depends only on our consciousness, the stones are also in the way of a man but a conscious man does never put his feet on the stone. In the same way use of atomic weapons of war against the human beings is the lackness of human consciousness'. It is not the fault of science.

The following remarks, expressed in connection with the nuclear armament race Albert Einstein, L. Pauling, Max Born, H. Yukawa and other in the year 1955, by Bertrand Russel may be quoted here.

"Here then is the problem we present to you, stark and dreadful and inescapable, shall we put an end to the human race ; or shall mankind renounce wors ? .... we appeal, as human beings to human beings ; Remember your

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

humanity and forget the rest. If you can do so, the way lies open to paradise ; if you can not there lies before you the risk of universal death."

From the above it is clear that Humanity is the way of 'Human paradise' and due to this humanity, a human animal became the human being. But one important question arises here that if there will not be existence of human beings on the earth where will humanity lie. ? Humanity will exist among the human beings. Logically, it may be said that without existence of human beings there will be no existence of humanity ; thus the existence of human beings is the superior one. And for the sake of existence of human beings we must apply our consciousness of mind. Science and Technology are not for violent (or wild) societies. The man of violent societies, is not a human being because man is human being due to his humanity which he adopts by the process of socialization.

"The Source of Science and Humanity"

The source of science and Humanity is the 'great self' which directs our intellect. For this we may see the following lines given in 'Upanishad'.

> "Beyond senses there are the objects, beyond the objects there is the mind, beyond the mind there is the intellect, the 'great self' is beyond the intellect."

Scientifically, it is clear that the invention of Science and humanity is the product of our mental intellect, but real source of science and humanity is the 'great self' which directs our mental intellect in a particular direction to achieve the final goal, so that a healthy human welfare might be attained. 'Human's mental intellect' may search both the means of progress and decay of Human welfare. But the 'great self' will never allow it to use them in the decay of human welfare.

In this regard a line given in 'Dhammapada' may be quoted here :—

> "A well directed mind will do us great service".

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

In the end, I conclude that our earth is a point with respect to this vast universe and man is a point with respect to this great earth. Thus logically, in the physical sense, with respect to this vast universe man is that point which may be only imagined. But due to his knowledge and consciousness man is related to the universe.He has importance on the universe due to his 'great self' which directs his intellect. Thus we shold remember our 'great self' which teaches us the path of science and Huminity.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

LEARNING THE LANGUAGE

DR. J. S. AGRAWAL, M.A. PH.D.
Sanskrit Mahavidyalaya, B.H.U.

A language operates with two kinds of material viz. sound and meaning, or, we can say, expression and content. Along with these two major components, vocabulary also plays an important part, though it is the least stable. It comes and goes. In learning a second language, vocabulary can be followed with comparative ease, but the structure of expression and content are the harder parts of a language.

The most basic elements in the expression system are phonemes, which are defined as 'minimum features of the expression' and morphemes which are composed of one or more phonemes. Simple and short words like *hat*, *you*, *go* , *on*, etc. are morphemes : others consist of two or more morphemes. All these need minute and detailed descriptions and often are not palatable except to the linguist, but the vocabulary part is of common interest, which is dealt with here.

As the present English vocabulary consists of words from Anglo-Saxon, Latin, French, German, Greek and other languages, a brief history of the language will make the subject not only interesting but vivid also.

The earliest inhabitants of England were the Britons who were forced west-ward and northward in the wake of the invasion of England by the Angles, the Saxons and the Jutes in 449 A.D. These invaders occupied the whole of England, lived with the Britons and influenced their language. Later on, the Danes invaded the country and were absorbed there, but the language was predominantly Anglo-Saxon, though many words of those days like *give*, *hit*, *sky*, *they*, *take*, *want*, etc. were from the Danish.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

Another invasion was by the Normans, in or about 900 A.D. When William, the Conqueror, subdued Anglo-Saxon England in 1066, the language of the court and the elite became Norman-French, but the Church used Latin and the common man, the old Anglo-Saxon, and thus England was 'tri-lingual' in those days. In the sphere of cultural matters, government and administration, French words were freely adopted such as *council, crown, minister, parliament* or *military* words like *armour, banner, seige navy,* or title words like *baron, countess, duke, prince,* etc. Legal terms like *court, crime, defendent, jury, justice, plaintiff,* and others are purely French "English terms were used for the animals in the field : *Cow, calf, ox, sheep, boar, swine ;* French for the animals on the table ; *beef, veal, mutton, bacon, pork*". Similarly other elegant terms like *dinner, supper,* (*breakfast* is English) *cards, dice, painter, tailor* are all Norman- French in origin.

By the middle of the 14th century, a sense of national unity was brought by the wars with France, a separation with the Church of Rome and the rise of the Middle classes, with the result that English became the language of the Courts and the Church both.

The modern period starts with the setting up of printing press and the European Renaissance about 1500 A.D. The Elizabethan Age brought in the flexibility of language and more vocabulary. The neo-classical writers of English stressed simplicity and correctness, but in the Romantic period a free and liberal attitude towards language was adopted. In modern English, vocabulary has increased by borrowings from India and America and through scientific coinages, chiefly from Greek and Latin roots. The old Anglo-Saxon was full of inflections, but now we have only a few and the tendency is towards more direct and shorter sentences.

How to get an easy access to the language is an everyday problem with our native students and a majority of failures in various examinations is found mainly in English, specially in northern and central India. If, however a greater attention

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

is paid to the structure of the language and the peculiarities thereof, the students, specially of the senior classes, may be found interested and making efforts in grasping the language.

With this end in view, it may be useful if the student gives himself to follwing the morphology of the language, specially the suffixes, prefixes and even the infixes. Besides some uncommon affixes like-*y* to form adjectives as in *bloody crafty*, *dirty*, *bushy* or *-esque* as in *grotesqne*, *picturesque* or *-ure* to from nouns as in *closure*, *pressure*, *exposure*, there are many popular suffixes which are very commonly found, e.g. *-er*, *-or*, *-ar* to form agent-nouns as in *painter*, *player*, *sailor*, *actor*, *scholar*, *registrar*, or forming substantives as in *error*, *horror*, *musculas*, *popular* or for inhabitants as in *Londoner*, *foreigner*, *outsider*, etc.

-en-is used both as a suffix and as a prefix to make verbs from adjectives as in *shorten*. *brighten*, *enrich*, *enlarge*, *endear*. We find very commonly suffixes like *an*, *-ian*, *-ine*, *-arian* used for making adjectives from nouns as in *European*, *politician*, *Alpine*, *genuine*, *vegetarian*, *humanitarian*, etc. Similarly suffixes like *-ance*, *-ence* (as in *entrance*, *refernce*), *-ical*, *-able* (as in *critical manageable*), *-age* (as in *bondage*, *usage*, *orphanage*), *ate* (as in *facilitate*, *electorate*) *-fy* (as in *certify*, *purify*) and others can be noticed in constant use.

Here are some series of words which are quite common in our daily use :

(*a*) Promote, demote, remote, connote.
(*b*) Produce, deduce, reduce, conduce, seduce.
(c) Deserve, reserve, preserve, conserve.
(*d*) Defer, refer, profer, confer.
(*e*) Desist, resist, consist, persist.
(*f*) Deceive, receive, conceive, perceive.
(*g*) Proceed, precede, recede, concede, secede.

the change in meaning brought by the prefixes like *de-*, *re-*, *pro-*, *pre-*, *se-*, *con-*, in combining with roots or stems like *-mote*, *-duce*, *-serve*, *-fer*, *-sist* etc. These prefixes have a definite meaning and detecting them in combination with other words, we can easily reach at the meanings and changes brought by them.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

Just as the attention of the students is drawn to such affixes and other inflectional changes while learning synthetical languages like Sanskrit, Arabic and others, similarly he should be instructed to note such peculiarities of English also from the very beginning..

Then, permit me to say that our reading is defective. We read by words instead of by letters and scarcely note the arrangement of letters in a word. Our minds have not been trained to focus on letters. If we start analysing the words and know something about prefixes and suffixes and roots and stems, we are sure to increase our awareness about them. First, we are not much inclined to consult a dictionary off and on, and secondly, we do not care to see the etymology of a word. A little attention to this aspect of the language will not only make the word our own, but will also develop a sense of automatically following similar other words.

Further, the grammar of a language and the peculiarities thereof should not be objects of scare : With a little attention we can often notice a system and anology in the formation of words. For example, academic, scientific and formal terms form their plurals under foreign forms e.g. *analyses, crises, diagnoses, hypotheses, theses, oases* are plurals of *analysis, crisis* etc. whose penultimate 'i' is changed to 'e', or *addenda, data, curricula, momenta, memoranda* from *addendum, datum* etc. whose -um is changed to 'a', or *radii, loci, syllabi* from *radious, locus* etc. whose *-us* is changed to 'i'. Similarly there are cases when penultimate 'c' of a noun changes to '*s*' when used as a verb as in advise, *devise, practise, prophesy* etc. or '*e*' is added in the end of a noun and the *-th* sound is pronounced hard like 'द' of Hindi (instead of 'थ'), as in *clothe, breathe, bathe* etc. Such and similar other cases should strike our notice in our routine study.

Following are a few lists of words which have the same sound either in the beginning or at the end and all of which

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

carry similar sense, presumably because they are derived from or based on some common roots :—

(A) Words with common initial sounds :—

(*a*) serf, servant, serve, service, servile (Serv-showing 'dependence')

(*b*) voice, vocal, vocabulary, vocation, vocative, voceferate (Voc- 'sound')

(*c*) glare, glass, glaze, glamour, gleam, glow, glimmer, glimpse, glance, glory, gloss (gl- showing light or lustre)

(*d*) Flash, flare, flame, flicker, flush, (fl- 'light')

(*e*) Sniff, snuff, snore, snort, snot (sn- 'Breathing noise')

(*f*) Slide, slip, slop, slime, slush, slobber (sl- 'smooth and wet')

(B) Words with common final sound :—

(*a*) Bash, clash, crash, dash, flash, smash, splash (-sh 'Violent movement)

(*b*) Bare, flare, glare, stare, (-are 'light or noise')

(*c*) Pounce, bounce, trounce (-ounce 'sudden movement')

(*d*) Flimmer, glimmer, simmer, shrimmer (-immer 'dim light')

(*e*) clump, dump, jump, rump, thump, slump (-ump 'clumsy')

In each series the words have such roots as have a vague significance, yet their close connection does make us think about the chain.

It can, therefore, be concluded that, if the attention of the students of English is drawn to the structure of the language along with the phonemic and morphemic peculiaritics and the students take interest on these lines from the early stage of their study, they will certainly be cured of the present poverty of vocabulary, will improve their spellings and will be able to write correct English, and the general fear of its being a 'foreign' language will also vanish. ... .

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

RISE OF THE PORTUGUESE POWER IN INDIA

DR. J. CHAUBE

Department of History

The Viceroyalty of Afonso de Albuquerque

The new viceroy Albuquerque recast the policy of his predecessor.[1] He believed that the Portuguese could not achieve trade supremacy unless they possessed some territory in India from which they could draw reserves and reinforcements in emergency.[2] The new governor wanted to give his nation the command of all trades between the East and the West,[3] for which it was necesary to have strong fortresses at Aden, Diu, Ormuz, and Goa,[4] and factories with small forts at Cochin, Cannanore and Kilwa (Quilon).[5]

Capture of Goa

The situation of Goa was very important from the strategic and commercial points of view. From the very beginning it attracted Albuquerque's attention.[6] On the eve of its conquest, the condition of this city was favourable to the Portuguese. The non-Muslim population suffered under the tyrannical rule of the Adil Shahi governor.

Some Hindu chiefs sought Albuquerque's help to overthrow the Muslim yoke.[7] Ismail Adil Shah who had recently succeeded to the throne of Bijapur, was so much pre-occupied with his own problems largely created by his neighbours that

---

[1] Danvers. I. P. XXIX.
[2] PRG. p. 29.
[3] Whiteway. p. 170.
[4] *Ibid.*, p. 172.
[5] Danvers. I, p. XXX.
[6] Whiteway, p. 170.
[7] PRG,. p. 29.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

he could not give adequate attention to Goa.[1] Albuquerque took the fullest advantage of the internal trouble of the city and the preoccupation of Ismail Adil Shah.[2] On March 4, 1510 he made a surprise attack on Goa with a force of one thousand Portuguese and two hundred Malabaris.[3] The Adil Shahi governor was not prepared and therefore, surrendered the keys of the fortress.[4] The viceroy made Goa the principal seat of the Portuguese government and set to work for its proper defence.[5]

His Relations with Sultan Mahmud Shah of Gujarat

Almeida's victory over Amir Hussain had changed Sultan Mahmud's hostile attitude towards the Portuguese. He had directed Malik Ayaz to make peace with them.[6] But owing to Almeida's departure from India, no peace treaty was concluded. The capture of Goa and the massacre of the Muslims effected a great change in the attitude of the native rulers towards the Portuguese.[7]

Mahmud Shah Begarh of Gujarat not only released the Portuguese prisoners but sent an envoy to conclude a peace treaty with Albuquerque and offered a site for a fortress at Diu.[8] According to the Commentaries, the Sultan expressed his willingness to meet the viceroy at any port and requested him to send a Gujarati ship captured by the Portuguese.[9] The friendly approach of the ruler of Gujarat highly impressed Albuquerque who not only appreciated the terms of proposed

---

1 Whiteway, pp. 133-4.
2 *Ibid.*, p. 138.
3 Danvers. I., p. 189.
4 *Ibid.*, p. 189.
5 *Ibid.*, p. 212.
6 CHI, Vol. III, p. 316.
7 Commentaries. III. tr. Birch. Introduction p. VI. Ballard p. 115.
8 Danvers. I., p. 212.
9 Commentaries II. tr. Birch. pp. 210-11; There is a long letter in the commentaries II, pp. 212-14; Its summary is given by Commissariat HG, I, pp. 241-51. The persian chroniclers are silent on it.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

alliance but offered to serve him with the Portuguese fleet and soldiers.[1] In the meantime he concluded a treaty with the Zamorin of Calicut.[2] Having made his position secure in that quarter, he wrote a letter to Mahmud Shah expressing his desire for an alliance and requested him to release the Portuguese prisoners.[3] The treaty could not be concluded on account of Mahmud's death in 1511 A.D.

Muzaffar Shah II and the Portuguese

After his accession to the throne of Gujarat, Muzaffar Shah II desired to make peace with the Portuguese for which his father had carried on negotiations. He sent an envoy to meet the viceroy for a treaty of peace.[4]

Albuquerque delayed matters for several reasons—

(1) He was desirous of a personal interview with the Sultan.

(2) Gracio de Noronha had not yet joined him.

(3) The viceroy had many things to attend to at Cochin and Calicut.[5]

However, he assured the Gujarati envoy that he would meet the Sultan at Cambay on his way to the strait.[6]

After his meeting with the envoy, the viceroy directed his men to take him around the arsenals which were stocked with artillery, saddles, horsegears, weapons, ammunitions and other war materials.[7] He held a review of crossbowmen and musketeers whose number was very large because the Portuguese government had made it compulsory for every married or single man to carry a crossbow or musket for the defence of

---

[1] Commentaries. II. tr. Birch, p. 215.

[2] Whiteway, pp. 283-4; commentaries III. tr. Birch; Introduction pp. VI-VII; Danvers I., pp. 213-16.

[3] A long letter is given in the commentaries II. tr. Birch., pp. 215-17.

[4] CHI Vol. III, p. 316.

[5] Commentaries III. tr. Birch, pp. 244-5.

[6] CHI Vol. III pp. 215-17.

[7] Danvers. I., p. 252.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

the city of Goa.[1] Probably the viceroy still feared that Ismail Adil Shah might attempt to recover this commercial city. The Gujarati ambassador was also taken around the Benestarim fortress on whose ramparts a large number of guns were placed.[2] According to Danvers, Albuquerque wanted to convince him of the Portuguese preparedness for war.[3] Indirectly he also wanted to tell Muzaffar Shah not to place much reliance on the defence of Diu and that the king of Portugal was powerful enough to take any place.[4] This shows that he intended to intimidate the Sultan.

After the ceremonial show of his power, Albuquerque gave leave to the Gujarati envoy with handsome presents for Muzaffar Shah. He also asked Tristao da Ga to accompany the ambassador, and instructed him to put the following demands before the Sultan. (i) Permission to erect a fortress at Diu for the safety of the Portuguese subjects and property. (ii) The merchants of Cambay should send their goods to Goa and not to any other ports in India, and (iii) the Sultan should not receive Turks.[5] Having sent them back to Gujarat, Albuquerque wrote a letter to the king of Purtagal expressing satisfaction over the policy of intimidation. He also added that he had broken the league of Indian rulers and secured a promise from the Gujarat king for a site to build a fortress at Diu.[6]

Meeting of Malik Ayaz and Albuquerque

Malik Ayaz took no lesson from Amir Hussain's disgraceful defeat and the capture of Goa. He was greatly opposed to the Portuguese settlement in Diu. He erected a fort at Diu and a bastion in the middle of the sea and called it Sangal Kotha. He drew chains from the bastion to the shore in order

[1] Commentaries III. Tr. Birch. p. 246.
[2] HG. I. (commissariat), p. 294.
[3] Danvers. I., p. 256.
[4] Commentaries III. tr. Birch. p. 246.
[5] HG VOL I (Commissariat), p. 293.
[6] Danvers, I. p. 255.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

to prevent the Portuguese ships from coming to the shore, during his rule no Portuguese ship dared touch the shore.[1]

On Aug., 4, 1513 Albuquerque sailed for Diu with his entire fleet and arrived there on Aug. 16.[2] Whiteway[3] says that Albuquerque's intention was to make a surprise attack on Diu but his two captains lost contact with the main fleet. He gave up the idea of an attack and invited Malik Ayaz to his own ship. As Malik was suspicious, he refused to meet him there. At least he called on him[4] and offered many presents.[5] Albuquerque discussed with him matters of mutual relations and remained there for six days. Having left behind a ship with large quantities of merchandise he sailed for Goa.[6] He did not make any proposal for erecting a fortress at Diu. His mission was a failure because he could neither make a surprise attack on Diu nor obtain permission to build a fort there.

Return of the Portuguese Emissary

Albuquerque arrived at Chaul. Tristao de Ga, whom he had sent to meet Sultan Muzaffar, had already arrived there two days earlier.[7] He reported that Muzaffar Shah had received him well but refused permission to build a fortress at Diu.[8] The Sultan agreed not to allow the Turks to enter his territory.[9] Tristao further informed that Malik Ayaz played an important role in the refusal.[10]

---

[1] Full letter is given in the commentaries III. tr. Birch, pp. 258-63 ; Danvers. I. pp. 260-62. In the JRASE June 1874 p. 730 the importance of Diu is mentioned in detail. The commentaries II. tr. Birch. p. 211, gives a detailed account.

[2] HG. (Bayley), p. 233.

[3] Whiteway, p. 157.

[4] *Ibid.*, p. 157.

[5] Danvers. I. p. 276.

[6] HG. I. (Commissariat), p. 294.

[7] Danvers. I. p. 276.

[8] *Ibid.* p. 276.

[9] HG. I. (Commissariat), p. 295.

[10] Danvers. I., pp. 276-7.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

Makik Gopi,[1] the Gujarati ambassador, also called on the viceroy and delivered a letter of the Sultan. He requested Albuquerque to allow a Gujarati trading company to visit Malacca and to restore the Gujarati ship which had been captured by the Portuguese.[2] The viceroy ordered the ship to be refitted at Cochin and restored it to the sultan.[3]

He expressed his willingness for peace with Muzaffar Shah and made it clear that if he had done any harm to him, it was because of his aid given to the enemies of the Portuguese.[4]

During his stay at Chanl, Albuquerque received an information from Fernao Evangelho whom he had left behind at Diu.[5] The latter informed him that the Qadi of Cairo had sent a ship with rich presents for the ruler of Gujarat and Bijapur and encouraged them by his blessings to make war on the Portuguese.[6] Albuquerque was very much perturbed to learn that Malik Ayaz had gone to the court.[7] Knowing fully his attitude, he became pessimistic regarding the permission for a fortress at Diu.[8] He looked Malik Ayaz as the main obstacle in the way and, therefore, he decided to neutralise his influence by persuasive efforts.

The Portuguese Delegation to Ahmadabad

Albuquerque now wanted to send Diago Fernandez de Beja and James Teixeira[9] to Ahmadabad for further talks with Muzaffar Shah.[10] He sent in advance Pero Queimado and

---

1 In the Portuguese account the name of this man is mentioned as Melic Gopi (Danvers. I. P. 276) but the correct name seems to be Malik Gopi.

2 H. G. VOL I (Commissariat) p. 296.

3 Danvers. I. p. 277.

4 H. G. VOL. I (Commissariat) p. 296.

5 Commentaries. IV tr. Birch. p. 75.

6 H. G. VOL. I (Commisariat) p. 296.

7 Commentaries IV. tr. Birch. p. 94.

8 Danvers. I., p. 293.

9 The Commentaries IV, tr. Birch, p. 94, correctly mention James Teixeira Danvers I p. 293, Diago Teixeria.

10 Commentaries IV. tr. Birch p. 94.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

Ganapati, a Hindu, who had knowledge of the court language, to request the Sultan to arrange for safety of the delegation.[1]

Diago Fernandez de Beja and James Teixeira sailed from Goa and reached Surat on March 15, 1514.[2] Since the advance party had not yet returned from Ahmadabad, they requested the local officer to allow them to disembark.[3] Dastoor Khan[4] had already received a message from the Sultan to accord a cordial welcome to the Portuguese delegation.[5] He sent permission to disembark and provided other facilities. Highly impressed by such a cordial reception, Diago Fernandez de Beja and James Teixeira proceeded to see Dastoor Khan who was confined to sick-bed.[6] On their arrival at his residence Dastoor Khan offered some presents of dresses.[7] Which they accepted.[8] The members of the Portuguese delegation paid a courtesy visit to the house of Malik Gopi's brother.[9]

In the meantime Queimado arrived from Ahmadabad and informed Fernandez and James Teixeira that Malik Gopi had lost Sultan Muzaffar's favour and was no longer at the court.[10] The news was extremely disappointing because the viceroy had given them instructions to consult Malik Gopi at every stage of negotiations.[11] They wanted to return

[1] The name is variously written as Ganapatim (Danvers I. p. 293). In Correas Len das III. p. 263—Garda Chatim Castan Leda Book III, p. 127 mentions Anagpalu and on p. 131 as Gampu vide commentaries IV, p. 94 tr. Commiseariat (HG I p. 301) Rightly mentions as Ganpati.

[2] Danvers I. p. 293 HG VOL I (Commissariat) p. 301.

[3] Ibid p. 293.

[4] Ibid p. 294.

[5] The name is mentioned in the commentaries IV. tr. Birch, p. 94 as Desturcao, Castanheda III p. 131 also mestors Desturcao, Correa Lendas II p. 369 as Deruscao. Commissariat (HG VOL. I p. 301) gives the correct name as Dastoor Khan.

[6] H. G. Vol. I p. 301.

[7] Commentaries IV. tr. Birch, p. 95.

[8] Ibid p. 95.

[9] Danvers I p. 294.

[10] Commentaries IV. tr. Birch pp. 95-6.

[11] Malik Gopi was assisting the Portuguese in various ways. The other members of his family were equally sympathetic towards the Portugues.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

to Goa but changed their decision at the instance of Dastoor Khan.[1]

The Portuguese Delegation At Champaner

Accompanied by the Gujarati officer,[2] the members of the Portuguese delegation proceeded from Surat. On April 4, 1514 they arrived at Champaner. Malik Gopi received and entertained the members of the delegation in a most befitting manner.[3] The Portuguese party stayed in a garden close to the city.[4] Malik Gopi met the Portuguese leader in person and informed that Malik Ayaz had advised Muzaffar Shah not to allow the Portuguese to erect a fortress at Diu[5] and on his advice Muzaffar Shah Shah fortified Diu only to defend[6] it against the Portuguese. Bayley testifies to the strong fortification of Diu.[7]

Negotiations

Diago Fernandez and James Teixeira reached Ahmadabad and informed Khudawand Khan,[8] the vazir of the Gujarat Kingdom, of the Gujarat Kingdom, of their arrival. The latter invited them to a banquet at his residence.—After some preliminary talk the Portuguese leaders presented some articles to the Vazir.[9]

Muzaffar Shah granted them an interview in the palace. palace. Diago Fernandez and James Teixeira offered the

---

[1] H. G. Vol. I (Commissariat, p. 302.

[2] Danvers I, p. 29 mentions the name of this officer as A. Meecadin.

[3] Danvers I, p. 294.

[4] H. G. VOL (Commissariat) p. 302.

[5] Commentaries IV tr. Birch p. 98.

[6] H. G. VOL. I (Commissariat) p. 303.

[7] H. G. (Bayley) p. 233.

[8] The name has been variously written. Danvers (I. p. 295) writes Sadam Khan, the chief alguazil. In commentaries IV tr. Birch p. 101-Sadam Khan is mentioned. Commissariat (HG I. p. 303) calls his Khudawand Khan which seems coorrect.

[9] H. G. VOL, I (Commissariat) p. 303.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

presents which they had brought from the viceroy.[1] They requested Sultan Muzaffar to grant a site for erection of a fortress at Diu and pointed out that such a concession would increase the revenue of the kingdom and bring the Portuguese in close contact with him.[2] Muzaffar Shah had not forgotten the barbarous and inhuman massacre of the innocent Muslims of Goa by the Portuguese. Malik Ayaz had warned him that any concession to the Portuguese would mean inviting trouble for Gujarat Kingdom. Muzaffar Shah remained silent during the talk. The negotiation adjourned without conclusive results.

The next day Khudawand Khan called on the Portuguese leaders and resumed the talk. He offered a site for a fortress at Bhakkar[3] and expressed the hope for friendly relations between the Sultan and the King of Portugal.[4] Fernandez declined the offer and pressed his demand for a site at Diu. He pointed out that acceptance of the offer would mean exposing the Portuguese subjects and property to great danger. They had a sad experience of such treatment at Calicut, Kilwa (Quilon) and Malacca.[5] The Portuguese leader argued that while the Sultan would lose nothing by granting a site at Diu, such concession would increase the revenues of the Gujarat kingdom.[6] Khudawand Khan adjourned the negotiation for consultation with the sultan.

After an interval of three days the vazir again came to the conference table to resume the talk with the Portuguese delegation. He offered a site at any of the following places: Broach, Surat, Mahim, Daman, and Bhakkar and expressed the Sultan's willingness to have friendly relations with the Portuguese.[7] He was reluctant to grant a site at Diu because the place

1 Commentaries IV. tr. Birch, p. 100.
2 Danvers I pp. 294-5.
3 Bhakkar is situated between NL. 27ş45' and EL 68ş50' The island of Bhakkar is in Sind.
4 Commentaries IV. tr. Birch p. 101.
5 H. G. VOL. I (Commissariat) p. 304.
6 Danvers I, p. 295.
7 Commentaries IV. tr. Birch, p. 102.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

was so near the capital that the Portuguese might create trouble. Malik Ayaz, who was aware of their intrigues, had already warned the Sultan and the vazir. Khudawand Khan suggested to the members of th Portuguese delegation to put this proposal before the viceroy and communicate to him his decision. He also made it clear that decline would mean bad intentions on the part of the viceroy.[1] Diago Fernandez refused to accept a site for fortress at any other place.[2]

As a shrewd diplomat Khudawand Khan tried to test their intentions. He pointed out that in case Sultan Muzaffar's alliance with the Portuguese, the latter would hinder the Gujarati ships going to Aden and the Red Sea.[3] Diago Fernandez instead of giving a convincing reply, said undiplomatically that since the king of Portugal was at war with the rulers of those places, it would not be reasonable for him to have contact with them.[4] He suggested an alternative that the Gujarati ships should go to Malacca, Pegu and other places directly governed by the king of Portugal.[5] The vazir was a tough and unyielding negotiator. He did not like to break off relations with the Muslim countries of Arabia and the Middle East. Instead of giving a blunt refusal to their request for a site at Diu, he forwarded the matter to Malik Ayaz for consideration.[6]

It was an indirect and polite refusl because the intentions of Malik Ayaz were known to every body, including the Portuguese leaders.

Diago Fernandez, in great exasperation, asked the vazir to give no further trouble to the king in this matter and demanded a letter for the viceroy.[7] The negotiation was finally suspended.

---

[1] H. G. VOL. I (Commissariat) p. 305.

[2] Danvers I, p. 295.

[3] Commentaries, IV. tr. Birch, p. 102.

[4] H. G. VOL. I (Commissariat) p. 305.

[5] Ibid, pp. 305-6.

[6] Commentaries (IV tr. Birch, p. 103.

[7] Ibid, p. 103.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

Return of the Portuguese Delegation

Before the departure of the Portuguese delegation, Teixeira met Muzaffar Shah to take his formal leave. He also met Khudawand Khan who offered robes of honour, daggers, swords as presents to him and the other members.[1] The vazir gave a letter for the viceroy and arranged an escort to accompany the Portuguese party.[2] Fernandez de Beja and James Teizeira set out from Ahmadabad and reached Goa on Sept. 15,1514.[3] They reported to Albuquerque that Sultan Muzaffar was unwilling to grant a site at Diu. In their opinion, Malik Ayaz was mainly responsible for the failure of their mission. They told the viceroy that the Malik managed to sabotage the negotiation with the help of Bibi Rani,[4] the chief queen of Muzaffar Shah.[5]

Despite the failure of his efforts, Albuquerque, in a letter to King Manoel, expressed the hope for securing permission to erect fortress at Diu.[6]

Albuquerque was not destined to accomplish his object. On December, 16, 1515 he died at the age of seventy three years.[7]

The Policy of Albucuerque's Two Successors

What Albuquerque could not accomplish what his successors tried to achieve.[8] Diago Lopes de Sequeira was appointed as the Portuguese Viceroy September, 1518—and King Manoel had given him special instructions to erect a fortress at Die. On his way to India, the new viceroy visited Diu.[9] According

[1] H. G. VOL. I (Commissariat) p. 306.

[2] Danvers I. p. 295.

[3] Ibid p. 295.

[4] In the commentaries IV tr. Birch p. 106, the name of the Chief queen is mentioned as Bibirrane. But the correct name is Bibi Rani.

[5] H. G. VOL. I (Commissariat) p. 307.

[6] Commentaries IV tr. Birch p. 106; Danvers I, p. 307.

[7] Danvers I, p. 328.

[8] The short rule of Lopo Soares de Albergaria is not important in the relations between the Portuguese and Sultan Muzaffar. He stayed in India from Sept. 1515 to 1518. Danvers I, pp. 328-34.

[9] Whiteway pp. 191-2.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

to Commissariat, his aim was to surprise the town.[1] But Malik Ayaz showed such a front that he dared not carry out his plan[2] and sailed away for Goa. Malik Ayaz employed Sidi Ali[3] to follow the Portuguese governor and send secret information about the Portuguese activities.

Attack on Diu

On receiving information about large scale preparations for an attack on Diu, Malik Ayaz spared no pains to fortify the island....[4] Diago Lopes de Sequeira was unaware of these defensive measures. On Feb. 9, 1521 he appeared before Diu with fortyeight vessels, carrying 3000 Portuguese, 800 Malabaris and Cannares.[5] The island was so well fortified and well-defended that the Portuguese council of war refused to fight.[6] The Portuguese goveror, having displayed the fleet to several places, himself proceeded for Ormuz. He left Diago de Fernandez to have tlks with Muzaffar Shah on the matter. Soon after the departure of the Portuguese Viceroy, Agha Muhammad attacked the Portuguese ships and inflicted a crushing defeat on Fernandez in a naval engagement. The latter was forced to join the governor at Ormuz on May 25,[7] On August, 20, 1521 Fernanedez appeared again to blockade Diu. The Gujarati flotilla under Agha Muhammad attacked the Portuguese ships with heavy guns and foiled their attempt to capture Diu by force. The Portuguese Commander escaped with great difficulty to inform the Governor.[8]

---

[1] H. G. I (Commissariat), p. 297.

[2] Whiteway p. 192.

[3] Albuquerque speaks of him in his letter to king Mannoel. The Portuguese delegation was accompanied by four Gujaraties and Sidi Ali (cidi ali) was none of them. He knew the Portuguese language and sent secret information to Malik Ayaz. Danvers, I, p. 307.

[4] Vide Whiteway p. 192.

[5] Danvers I, p. 348 ; Whiteway p. 192 mentions 200. Portuguese and 1800 natives.

[6] Danvers I, p. 348.

[7] Whiteway p. 192 ; Danvers I p. 351,

[8] Ibid. p. 193,

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

Attempt to Erect A Fortress at Muzaffarabad

Despite successive attempts Diago Lopes de Sequeira failed to occupy Diu. He now chose Muzaffarabzd.[1] (Jafarabad) twenty miles from Diu and foolishly discussed the plan openly. Some Gujarati spies secretly informed Malik Ayaz of his intentions.[2] The latter made all preparations to foil the Portuguese attempt. Sequeira sailed for Muzaffarabad with a large number of ships. There wire some Muslim captives in Antonio Correa's[3] ship loaded with explosive ammunitions. They preferred death to slavery and set fire to the ship.[4] The magazine exploded and the vessel was blown up and drowned with all its accupants.[5] This mishap forced the governor to give up his plan.[6]

He returned to Chaul where Fernao Camello had already arrived with Burhan Nizam permission to build a fortress.[7] The ruler of Ahmadnagar had made this offer conditional in order to import horses.[8] When the Portuguese commenced construction of the fort at Chaul, Malik Ayaz resolved to obstruct the work[9] and sent Agha Muhammad to frustrate the governor's design.[10] The Gujrati flotilla caused panic among the Portuguese and damaged a large number of enemy ships.[11] Feranandez de Beja lost his life in one of the naval skirmishes[12] Seque-

---

1 Jafarabad, the chief town in the south of Kathiawar, is a floursing sea port situated about—

It derives the name from Sultan Muzaffar of Gujarat who built the fortification. Hence the town was called Muzaffarabad and by contraction came to be known as Jafarabad BG. VII p. 452.

2 Whiteway p. 194; Danvers is silent about this.

3 Whiteway p. 194 mentions the name of Aires Correa.

4 HG. I (Commissariat) p. 298.

5 Danvers I, p. 352.

6 Whiteway p. 194.

7 BG. XIII p. 449.

8 Ibid. p. 449.

9 Danvers, I, p. 352.

10 HG. I (Commissariat) p. 295.

11 Danvers I. p. 352.

12 Whiteway, p. 195.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

eira handed over over charge to his successor, Menzes on Jan. 22, 1922.[1] Agha Muhammad now withdrew his flotilla.[2]

Malik Ayaz died in 1522. His death closed and important chapter in the relations of the sultans of Gujarat and the Portuguese. During his life time he neigther allowed the Portuguese to erect a fortress at Diu nor to concluded a treatly in this connection. He rightly envisaged the dangers from their side and convinced Sultan Muzaffar that any concession to the Portuguese would be detrimental to the interests of Gujarat.

---

[1] Danvers I, p. 353.
[2] Whiteway, p. 200.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

GOVERNMENT POLICY DURING MALABAR DISTURBANCES

Km. ARUNA SINHA,
Research Student History Deptt.

Sully writes : 'The revolutions that come to pass in great states are not the result of chance nor of popular caprice... As for the populace it is never from a passion that it rebels but from impatience of suffering.'[1]

In the case of the Malabar disturbances it was more of a passion than real impatience of a long suffering, that had played its part. The Moplahs, by reputation were fanatics, subject to astray outbreaks of fury that knew no bounds. There is no denying the fact that in the Khilafat movement of 1921 Maulvis and Muslim religious leaders took great part. They gave a definite religious tinge to the movement. It had long been clear that Muslims could best be persuaded to take part in Indian politics if it were presented to them in the form of a religious injunction. But certainly, using religion for political gains could have wrought havoc if the power of religion was mishandled. Herein, lies the secret of the tragedy popularly known as the Moplah Rebellion that burst out on August 20th 1921 in the Presidency of Madras. Spreading of false propoganda and news by Khilafat emissaries in the name of religion, its constant emphasis on the word 'Swaraj' with an entire absense of clear thinking among the ignorant and economically backward masses, proved disasterous. Khilafat in the rural areas bore a strange meaning to them. They took it to mean 'against' or 'opposed' to Government.

Hence, in a desperate state of religious frenzy with an ardour of an oppressed class rising against its enemies, the Moplahs broke upon Government offices, treasuries, records, temples and private houses as well. For a time, there was

[1] Revolution or Evolution, Alfred Nundy, pp. 35.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

something like a reign of terror. The Chief Secretary to the Madras Govt. reported:

> "Situation from point of view of civil administration is that local machinary of Government had broken down".[1]

The present outbreak was unprecedented in its wide extent, systematic preperation and organization. It could rightly be classified as an open rebellion, carefully planned and firmly carried out.

C. S. Subramaniam raised a significant question in the Legislative Assembly in this connection. It is evident by what had happened, that there was a certain amount of pre-concert as evidenced in the acts perpetrated. What then these Local Officers are meant for? In other words, what is the justification of Government's long inaction.

On Official accounts it becomes clear that there was a distinct apprehension among Govt. circles regarding dangerous consequences that may result from the violent oratory and seditious propoganda. Madras Publicity Bureaux remarked: "What this means among the fanatical Moplahs can easily be foreseen."[2] Reading, the Governor-General, communicated to Montagu (the Secretary of State) on April 27th that Gandhi can no more rely on intelligensia to join them and so, has turned to ignorant people by spreading of false rumours reflecting adversely on Government. No propoganda of our's can counteract it. It's religious aspect is somewhat detrimental to Government propoganda. All this goes to show that posibilities of a storm had never been absent in their minds.

We wonder then, why did Government not take precautionary measures in advance?

Jawaharlall Nehru, in his autobiography says that in the year 1921 there was a new aggressive spirit abroad, self-reliance and a fearlessness. The great crop of British rule in India-prestige was visibly wilting.

[1] File no. 241/1921, Home Pilitical, N.A.I.

[2] Ibid.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

> "the Government hesitated for long before it would take action against the big leaders. It did not know what the consequences might be......... There was evergrowing opposition and spirit of defiance.........and yet because of its peaceful methods it offered no handle, no grip, no opportunity for forcible suppression."[1]

In the light of this, it should not be difficult to understand the policy that Govt. of India had been pursuing.

> "The Government realise that it is to enlightened public opinion they must chiefly trust for a dissipation of danger that now envelops India, as it is on that same public opinion that India's political future must depend."[2]

That this is no chance phrase but a part of their settled policy is clear from the way non-co-operation movement was left to die of sheer inanition. Government slowly foresaw the dangers implicit in it, but, deferred action for want of public support. William Vincent, the Home Member, too acknowledged this in the Assembly. Lord Reading wrote to Montagu:

> "the policy of merely enforcing the law is of course negative, and although essential......... is not in itself a remedy."[3]

Accordingly, all Local Govts. were instructed not to take any action till they actually broke the law. But Willingdon, the then Governor of Madras, was critical of the omission of Gandhi's arrest. Said he, the policy of leaving leaders along and dealing only with rank and file when one can, is perfectly useless. 'The Statesman' of Sept. 2nd 1921 blamed Govt. of India for turning down Willngdon's proposal for the arrest of Ali brothers after Gandhi-Reading interview had taken place. But the Viceroy's idea was that if each Government is allowed to reach its own conclusion without assistance of the supreme authority, with a survey of whole of India and not merely Provincial Govt.,

[1] Autobiography, J. L. Nehru, pp. 70.
[2] Debates House of Lords, October 25th, 1921.
[3] Reading Papers, telegram dt. 18th Dec. 1921.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

there will be obvious disadvantages and no co-ordinated policy. The experiences of Punjab were enough to bring Government to its senses and Lord Reading said that otherwise the position of the Viceroy in the future would suffer in power and responsibility.

It is clear that if the matter was left to the discretion of the Local Govt., things would have taken a different shape. But a dictation from above in so far as the arrest of ringleaders was concerned; its emphasis on avoiding arrests, or, use of force, seems to have induced a laxity among local officials as also a fear not to incur trouble by interfering with these warlike people. Hence, the matters were proceeding rather slow. No wonder, the D.M. was caught unawares on August 20th by a mob of Moplahs, and the district authorities pleaded innocence by asserting that though they removed some local leaders a few weeks before the uprising they could not stop those doctrines spreading from mosque to mosque.

The efforts of Govt. of India had been to show that, it is not because of Government's policy which eschewed arrests in deference to public wishes but due to the non-cooperators who had been carefully preparing the ground to foment trouble among this piculiarly turbulent race. William Vincent sarcastically remarked:

> "Is this Assembly so ready to grant a vote for military expenditure that we can put unlimited troops in Madras Presidency?"[1]

There was a strong reaction in Anglo Indian quarters against what they thought to be the weakness of Govt. of India. Lord Syndenham in the House of Lords strongly reproached Indian Govt.

> "Reliance upon public opinion or Moderates who do not really count to help us in this primary duty has proved perfectly futile."[2]

Wrote 'New India': "We speak of the Punjab atrocities; what

---

[1] Debates Legislative Assembly, vol. II, Part I, 1921.
[2] Debates House of Lords, Oct. 25th 1921.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

were they in comparison with those wrought by Muslims on the West Coast."[1] The correspondent of 'Hindu,' a Madras Daily, too confirmed this remark.

Soon after the anarchic forces set into motion, the Govt. of India worked with commendable promptitude. It at once assumed responsibility by proclaiming Martial Law and Reading expressed much satisfaction "to maintain spirit and confidence of those whom duty of protecting lives and property is entrusted.........to check riots." Zulfikar Ali Khan in the Council of States said that the difference between present attitude of Government and attitude adopted by the same Government in the Punjab was that, whereas in the Punjab there was such bitter feeling about the application of Martial Law, there was no one criticising it, much less condemning it.

In drafting the Martial Law Ordinance Govt. of India once again can be said to be too cautious and too slow. There was an emphasis on not encouraging 'man on the spot' theory as had been the case in the Punjab, particularly when such unusual a law operated, which is a negation of all civil laws. Lord Reading's conviction was

> "It is the man and not the system that has caused the trouble."[2]

Strong standards of conduct were laid down for the instructions of military officers. W. Vincent in a note dt. 6-9-21, said that any divided responsibility is dangerous. No one wants to hamper the military engaged in difficult duties, yet the Govt. of India are vested with supervisory powers over the military and, therefore, indirectly responsible. The Govt. of India should receive timely reports. "We must have information on everything" so as to avoid unnecessary criticism or humiliation later.

Manekji Dadabhoy commented in the Council of States that in preperation of this Ordinance the blunders committed previously were studiously avoided. The power

[1] Quoted in 'Leader' Sept. 21, 1921.

[2] Reading Papers, August 18t h, 1921.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

and authority of civil officials was maintained and emphasised. Prior to issuing of any orders or regulations, conslutation with civil officers was an essential prerequisite. Hence, the Ordinance now prepared was one, meant to be a speedy carrying out of order but careful in arriving at it. In a telegram, dt. Sept. 9th 1921 Secretary to Govt. of India intimated Madras Govt. "any cases of improper orders or a wrong excercise of power being promptly reported to Government of India."[1] Trials and punishments were to be left in the hands of Military Officers as little as possible and Seniormost civil officers alone be vested with those powers.

On Special request of the Madras Govt. in view of the continued arson, loot and pillage, the Govt. of India agreed to the establishment of one Special Tribunal; but, again their differences surfaced on the question of allowing appeal against severe sentences. The Governor-General with the consent of his Indian and Europeon colleagues sanctioned the right to appeal, which he thought, will in no way delay proceedings, except in capital cases, will not involve postponing execution of sentences. Willingdon expressed his dissatisfaction and disappointment saying that the power of revision reserved with Local Govt. and the Govt. of India are ample safeguards. He said that to restore peace, normal conditions and business interruptions which threaten famine it was essential that the chief offenders be speedily terminated. The power of appeal was put in and summary powers of the Tribunal disappeared at a time when Moplah ferocity was by no means subdued. But Lord Reading wanted to be on the safe side. He was eager to maintain civil authority at any cost. He said, in future you will find it as a safeguard. Assuredly, there will be some criticism of actions taken under Martial Law, you can well answer that the functions of civil courts were never disturbed in more serious cases while at the same time asserting authority. 'Leader' Sept. 5th commented :

[1] File no. 241/1921 Home Political, N.A.I.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

> "Much depended upon how Martial Law was administered and its duration after normal conditions. In Punjab Martial Law was called as signal of racial humiliation and terrorism and was prolonged for a long period. But, the present one differed from it in its essentials, contains a number of desirable safeguards, does not supercede civil authority."

While on the one hand, the law was being enforced, on the other, assistance and cooperation of well-disposed Indians of the locality was invited. However, Willingdon denied services of outsiders because, as he put it, they can't go out in the country for fear of insecurity as much as we can't go, and so, what happens is that they sit at the Calicut and concoct reports full of lies, laying blame on the Collector. Nevertheless, it is difficult to comprehend on what grounds Gandhi was denied access to the district when he was ready to take up all risks. D.M. reported that he allowed a few Congressmen to go there and try to quell the rebellion but they soon returned failing to make the Moplahs see reason. If these Congressmen could be allowed why not a man like Gandhi ? Actually, as the Daily Telegraph wrote, it would have meant that a non-cooperationist has put down the disorder, and not the Govt. 'Servant of India' rightly intimated Gandhi :

> "The Complaint that we have heard is that instead of Government employing excessive force, they are not employing enough and are thus deliberately protracting the agony just to teach nonco-operators a lesson."[1]

In the 'Leader' of 26th Oct., 1921 there were a few charges levelled by the people that Government's measures have grievously fallen short of the needs of this extraordinary situation. W. Vincent in his Memo. on a visit to Malabar threw light over the fact that Hindus there are demanding a more rigorous application of Martial Law and complained that the Govt. hitherto had been too lenient.

---

[1] The Collected works of Mahatma Gandhi, XXI, Aug.-Dec. 1921, pp. 543.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

Care was taken to publish all details availble. Director of C.B.I. Dr. Bushbrook Williams reported that newspapers had been encouraged to send their correspondents to disturbed areas and proper fecilities had been arranged for their safety. Malabar papers, unlike the Punjab, where there was no press censorship, reported that the authorities excercised utmost self-restraint. It was the Government's victory in as much as much as even at this hour, it did not play into the hands of the non-co-operators. It is significant here to note that Gandhi in his speech at Trichnapally while on one hand blamed the Government for its laxity in not preventing Moplah from running amok; on the other, accused the Govt. for appying excessive force. Let us refer to a resolution passed in a meeting at Calicut in Feb. 1922: "martial law could not be administered more humanely than it was in Malabar".[1]

There was a strange unanimity rgarding the withdrawal of Martial Law the moment its need disappeared. Reading did not want to keep it a minute longer than needed. The Government of India, accordingly agreed to pass a regulation regarding the abrogation of the Martial Law at the earliest consistent with public safety simultaneously providing for transitional period between the Martial Law and restoration of normal conditions. Strangely enough, it was the public time that was asking and insisting upon the Government to make regulations for its safety. It is also satisfying to know that the Madras Govt. took up relief operations and established Central Relief Committee to superintendent over such works to meet out justice to those who had suffered at the hands of the Moplahs. The need to convert these uruly people into peaceful and loyal citizens was also stressed.

That everything went on satisfactorily during these diffficult times, was no doubt largely due to the diligence and sincerity of Govt. of India for making its policy a success. The only solvent to all that confusion was patience and Reading had enough of it. This to a large extent was justified by the increas-

[1] Quoted by W. Vincent in Legislative Assembly on Sept. 22nd, 1922.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

ing number of people coming forward and co-operating with the Government. C. A. Innes, the Commerce member, read out a letter from Raja of Walluv-a nad dated Sept. 14th, saying that Moplah outbreak has added to the strength of the faith on the part of people in the justice and efficiency of the British Govt. which will not diminish for many decades to come. It brought home to people, as R. B. Williams said : "the ultimate dependence upon law and order and military arm and demonstrated to them in a most practical manner the value of a loyal, efficient, well-disciplined army."[1]

But something still worse was in store. The Moplah Train Tragedy that occurred-in Nov. 1921 when a little over hundred Moplah prisoners were suffocated to death in a luggage wagon, dashed everything to the ground what Lord Reading had fought hard to build. The incident betrayed utter callousness with which the Indians were treated at the hands of the Europeons. W. Vincent confessed that it was "an error of ommision". It will certainly go down in history as another Blackhole Tragedy.

———

[1] India in 1921-1922, Rushbrook Williams, pp. 20.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

TRANSPORT REVOLUTION AND THE YOUTH

Dr. SURYA NATH SINGH

Reader, Faculty of Education, B.H.U.

Recent developments in the field of transport have not only increased the mobility of man, goods and services for his daily use, resulting in enough availability of better amenities of life for a larger section of population but have also done a lot to modify the traditional concepts of space and time. In spite of the same geographical dimension the world has become a much smaller place for all practical purposes. The journey of the world can be completed only in a few hours.

The youth has been tremendously affected by this revolution. He has better opportunity for the acquisition of knowledge and experience. The ideal of nationalism, much attractive for the pre-war generation, is gradually becoming obsolete for the youth who seems to be inspired by the feelings of the Universal Brotherhood of mankind. His attitude and outlook are more cosmopolitan. Notwithstanding the enormous destructive capacities of man, the youth is easily moved by the pains and sufferings of far-off people. The youths of U.S.A. are giving stiff resistance to their government for its inhuman policy towards Vietnam. The same may be the truth regarding many young men in European and Asian countries who are in open revolt against the oppressive practices of their states in various countries. It appears that the dreams of the universal brotherhood of mankind may be actualized in a few decades mainly with the efforts of the youth. This is a happy sign but there is the other side of the picture which one can hardly ignore because the interests of civilization are tied up with it.

The transport facilities have done a lot for the removal of social isolation. The secluded and inaccessible communities of the equatorial forests and icy lands of Tundra region are within human reach People have got better opportunies for social

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

interaction which tends to promote better understanding between diverse social groups. The feelings of caste, creed, colour and communalism are gradually disappearing. The rural masses are being urbanized day by day. But this is not the end. This has led to the emrgence of a new class of the neo-literate youth who is not oriented in his own community. This class has become something like a closed status group which is cut off from the mainstream of social life, having no roots in its soil and as such is misfit among its own kith and kin. The youth of this class despises his own men. This breeds suspicion, distrust and misbeliefs regarding him which may lead to a serious cultural conflict within the social group some day or the other.

The traysport revolution has completely changed the nature and composition of the reference group for the youth who has better facilities for social contact with men and groups which may appear attractive to him. This youth imitates the dress, manners and customs of these people and so the perspective regarding men and things in his own group undergoes transformation. His own neighbours appear primitive, unnannerly and uncivilized to him. His aspirations run high and he tries for getting acceptance by his reference group and here he is disappointed. Under the circumstances he becomes a 'groupless' person and remains hanging in mid air like a marginal man who is cut off from everyone emotionally and socially. This isolation puts him under too much stress and strain.

The transport facilities have replaced the homogeneous communities by the heterogeneous ones. But the homogeneity of the various components of culture is essential for the integration of personality which becomes disorganised if its various elements come into conflict; because some consistency is highly desirable for the development of ideals, values beliefs and sentiments. An adolescent, who frequently moves in various groups here and there for the love of adventure, hardly gets this opportunity because he comes across conflicting idealogies which distort his sense of values and create much tension and conflict

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

in his mind. Under these circumstances his mental peace is disturbed and he becomes a psychological problem.

A homogeneous community represents better qualities of life than heterogeneous one, as human relations within the former are cordial and sincere and as such it is more lasting. A heterogeneous community, on the other hand, does not provide the warmth which is essential for the development of 'we feeling' Everything in such a society becomes formal, and too much formality is the enemy of creativity and spontenuity. The young men nowadays meet frequently with each other, shake their hands, enquire about each other's welfare and go with a smile. But this is all superficial and unreal. There is little sincerity. This articifiality and formality keep the youth in a state of emotional starvation which is a painful state of affairs. In order to get rid of this state of mind he develops love for excitement and behaves in indecent manner posing serious problems of delinquency—a growing menace which our younger generation creates. This is the reason why many of our young boys and girls indulge in premature sexuality, drug addiction and alcoholism and take psychostimulants to seek relief from the realities of life.

Man in the modern world is awfully busy and preocoupied with many things. The use of a fast vehicle is a necessity on the part of many adults; otherwise they can hardly keep their various engagements But this has also become a status symbol of the modern elite The modern youth uses the vehicle only to acquire status and recognition. He tries to invite attention and show his superiority by displaying his automobiles which widens his area of contact. The speed of his life becomes faster. The vehicles further add instability to his thought and action. He becomes a man in hurry which adds non-seriousness to his nature. It is one of the reasons why our young boys and girls are not taking things seriously in their lives.

The possibilities of delinquent behaviour have been considerably increased by the transport revolution. The youth can cover a distance of miles in minutes. If he has half an hour at

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

his disposal he can go to a place where he has only a few acquaintances, commit some undesirable act, manage an easy escape, and remain anonymous. Social pressure, the most effective means of social control, has little relevance for him because of his anonymity. If one observes the behaviour of our young boys and girls on tour, in cinema houses and at the games field the validity of this statement can easily be established.

If our youths pass a greater amount of time with their parents and share lives with them, the chances of their proper socialization will be better and the possibilities of their going astray and taking resort to undesirable acts are also minimized. They have the opportunity for ego-involvement and identification with parents and other members of their families. But the moment they acquire an automobile or a motor-cycle parental and familial authority begins to decline as the change of passing time away from parents and family increases. They meet their poor groups, generally nonconformist in their attitudes, and having their own sub-culture which frequently comes into conflict with the general culture of a society. This raises serious problems of adjustment which most of such adolescents are facing. Sometimes this leads to a distorted view of the whole adult population among the minds of the youth which may result in causing serious conflicts between different generations.

The transport revolution has also affected the organizational structure of societies. The age of small isolated, simple and autonomous communities is a thing of the past. We have entered the era of mass society which resembles a crowd as far as human relations are concerned. With the massification of society the process of dehumanization has started. Men have less common purpose they feel lonely and they remain practically alienated from each other as far as their inner lives are concerned. This alienation generates the feeling of helplessness because they have little control over the events in the midst of which they are living. This causes frustration and depression in the minds of youth who becomes either an anaemic or a hippie—a problem increasing day by day.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

The methods of political behaviour also have been altered by this revolution. The traditional methods of political action, like prayer, petition, propaganda, protest, mass satyagraha and constitutional remedies tend to be replaced by terrorist movements which seem more practicable today because it is extremely difficult to organize the masses against their states which have powerful armies equipped with modern weapons. The material condition of people has no doubt improved, but injustice, poverty and exploitation are still pervasive, a phenomenon which the idealistic youth can hardly tolerate. Elections have been a costly affair and can be won only by the capitalist forces and the vested interests. Hence, terrorism and adventurism are the only alternatives left for the youth. The transport facilities have increased the opportunity for individual violence and terrorism. Now only a few mobile young men can manage to create terror and paralyse the whole machinery. This develops lack of confidence in the public mind regarding the efficiency and capability of government in dealing with a deteriorating situation of law and order and this contributes a lot towards the success of violent movemtnts. The result is an obvious increase in the violent behaiour of our young men, a phenomenon confronted by developed as well as the developing countries.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

RATIONALISATION OF THE EXAMINATION SYSTEM

DR. RAJESHWAR UPADHYAYA

Reader in Education, B. H, U.

There is probably no aspect of education which has been subjected to as severe criticism as the system of examination. Of Course, there are some deep-rooted defects in the system of examination, but the important questions to answer are: What do examinations seek to do ? Do they achieve what they are set out to achieve ? If so, they may be retained. If not, they are to be radically changed to achieve the end. Mere imperfection of a system does not by itself justify its abolition. Moreover, no alternative has yet come to light for replacing in entirely the existing system of examinations. 'Whatever their limitations, examinations have come to occupy a very dominant position in our educational system'.

If examinations are indispensable, their reforms too are extremely essential. The Radhakrishnan Commission stated: "We are convinced that if we are to suggest a single reform in university education it should be that of examinations." It further states, "If examinations are necessary a thorough reform of those is still more necessary." The urgency of examination reform is more and more realized to-day by all concerned because teaching is becoming more and more related to a position subordinate to examinations. Examinations have become the end rather than the means to achieve the goal of good education. Accordingly passing of examinations, rather than the development of human beings has become the main objective.

Many suggestions have been brought about for reforms in the system of examinations but most of them have been based on mere reflective ideas. Only a few studies have been conduc-

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

ted on experimental and analytical bases. The most prominent among these are those of Dr. Taylor (Gauhati) and Dr. Dave (NCERT). Both of these studies have highlighted several drawbacks of the present examination system and have suggested several changes in it in order to make examination an effective device in the hands of teachers and examining bodies.

In fact, examination is one of the tools of evaluation. Whereas 'Evaluation is integrated with the whole task of education and its purpose is to improve instruction and not merely to measure its achievement'. In its wider sense, evaluation brings the factors which are inherent in the students' growth, such as proper attitudes and habits, manipulation of skills, appreciation and understanding, in addition to the conventional acquisition of knowledge. Evaluation as such cannot be separated from other fundamental aspects of the curriculum, namely, the educational goals and the instruction. P.D. Shukla says, "There is an inter-relatedness between objectives (i.e. ends) of education, learning experiences (i.e. means) of the pupils, and evaluation (i.e. evidence) of the achievement." Heiss and others have said that the evaluation must be consistent with the objectives and learning experiences. Accordingly at every stage of learning, evaluation is an attempt to discover the extent of the effectiveness of the learning situation in bringing about the desired developments in the students. The desired developments lie within the purview of the objectives of the course of study. Thus in the light of those objectives we can determine the appropriate teachniques to make evaluation effective. The Forty-sixth year book of the National society for the study of education in U.S.A. has laid down the purpose of evaluation to test: 1—Functional information of facts, 2—Functional concepts, 3—Functional understanding of principles, 4—Intrumental skills, 5—Problem-solving skills, 6—Attitudes, 7—Appreciations, and 8—Interest. Besides this, equally as important as the appraisal of a student's growth, an evaluation programme must detect the weaknesses of students with respect to the objectives of the course i.e. evaluation tools

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

must also have the property of diagnosis. Several specialists have recommended a wider variety of evaluation devices: 1—Written examination, 2—Oral Examination, 3—Practical examination, 4—Observation, 5—Interview,—6 Pupils' products, and 7—Records.

Written examinatiin is a technique which is used at periodic stages. Usually the examination consists of a number of essay questions, generally vague, and is held at the end of the year. The paper-setter selects questions with slight changes from the sets of question papers of previous years. Such examination generally aims at testing the mastery of contents. It would be more beneficial if the mastery is tested during the year at frequent intervals to enable the teacher to detect the weaker points of his pupils and to prescribe remedial work. Dr. Taylor also emphasizes the twofold purpose of examination to discover knowledge and explore ignorance. According to him a frequent testing programme is a stimulus both to the teacher and the pupils.

The criteria of good examinations are validity, reliability, objectivity, satisfactoriness of the norms, and practicability, but indeed these have been the areas of weakness of our examinations. In order to mitigate these shortcomings to some extent, the Central Examination Unit of the NCERT has suggested that the written examination should consist of three parts: objective type questions to test knowledge of facts, short essay type questions to test other purposes of evaluation in brief, and essay type questions to test some of the aspects thoroughly at one time and some at another.

Oral Examinations—

This may cover more of functional information of facts. The elements of reflective thinking, scientific attitudes, resourcefulness, and social sensitivity can best be tested through this. These examinations are more frequent in science subjects but need elaborate extension to other branches of knowledge.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

Practical examination—

Functional understanding of principles, instrumental skills are best tested through this type of examination. Interests may also be revealed through this type. Attention should be paid on the organizing aspects of this type.

Observation—

Students' periodical performances in different subjects are observed by teachers. This type of examination includes internal assessment. Recently some experiments have been made in some Agricultural Universities and Indian Institutes of Technology to take the sting out of the examination system. So far internal grading has been introduced by about 25 universities for assessing by periodical tests and assignments, the achievement of students. The diagnostic aspect may also be covered by this. But this type of grading has its own problems. Firstly, it is successful on the competence of teachers and adequate teacher-student ratio and secondly, students may become victims of partiality. However internal grading avoids strain of external examination.

'*Interview and pupils' products* are helpful in assessing some of the purposes of examinations. Functional concepts and skills may be judged by interviews and overall achievement of students will be judged by pupils' products.

Records may be helpful in self-assessment by students themselves. This will motivate the students for improvement.

In India major steps have been taken to activate a movement of examination reform. The U.G.C. Committee on Examination Reform in Central Universities (1969) recommended improvement in paper-setting and reviewing of sessional marks in case of its large deviations from the marks secured at the annual examination and its replacement by a system of internal and continuous evaluation by teachers as is done in the IIT's. A conference of students representatives held at Delhi in 1969 suggested the proper spacing of class-tests, and viva-voce

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

tests, and commended the assessment by grade in preference to numerical marking. The University of Baroda has already introduced the system of grade credit in the Faculty of Arts and Social Sciences.

The trend is now turning towards subordinating examinations to educational objectives It is now realized that the "real purpose of examination is to provide an incentive to effort, to measure attainment, and to predict future career." It is in this light that the combination of external examination with internal assessement and the process of continuous evaluation will give an accurate measure of the real attainment of a student.

———

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

SCIENCE AND PHILOSOPHY

S. P. GUPTA

Officer on Special Duty
Institute of Technology, B.H.U.

The ultimate justification for an intellectual activity is its effect in increasing the awareness or degree of consciousness. The most significant factor in the evolution from amoeba to man seems to be the increase in consciousness. From this point of view, one of the great values of science lies in the fact that it has introduced us to new ways of thinking, through the great works of scientists like Newton, Darwin, Einstein and through the quantum theory, the latest revolution in physics. Particularly, Einstein's theory of relativity has enriched our consciousness to a very large extent as it acquainted us with an altogether new way of thinking which will always be valued for its effect in heightening, our intellectual discrimination and subtlety, just as a work of art can be valued for its effect in refining and subtilsing our emotions.[1]

Human knowledge is expanding very fast; there is an explosion as it were. Every science is begetting a dozen more, each finer than the rest. Philosophy, 'which had summoned all sciences to its aid in making a coherent image of the world and alluring picture of the good, found its task of co-ordination too stupendous for its courage and hid itself in reconidite and narrow lanes timidly secure from the issues and responsibilities of life. Human knowledge had become too great for the human mind'.[2] The result is a specialist in science who knows more and more about less and less, and the speculator in philosophy who knows less and less about more and more.

---

[1] J. W. N. Sullivan—Limitations of Science, p. 177, Mentor Books, NY Paperback.

[2] Will Durant—The Story of Philosophy, p. vii, Washington Square Press, NY, 1961.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

'Science is analytical description, philosophy is synthetic interpretation'.[1] Science resolved the whole into parts, philosophy harmonises the parts into the whole. Philosophy, the quest of unity, dreams of fewer things than there are in heaven and earth. 'To observe processes and to construct means is science; to criticise and co-ordinate ends is philosophy'[2]

Science does not bother about values and the final significance of things. It confines itself to the nature and process of a thing as it is, and of those that can be made out of it. It is dispassionate search for truth. 'Knowledge is the highest good, truth the supreme value, all the rest is secondary and subordinate'.[3] But philosophy is not content to state the fact, it has to get at its meaning and worth to ascertain its relation to experience. It synthesises things through interpretation to put together 'that great universe-watch which the inquisitive scientist has analytically taken apart'.[4]

From the earliest days philosophy has two different objectives namely, a theoretical study of the structure of the world and to discover and inculcate the best possible way of life. Thus it has been associated with science and religion both, and has attempted to combine a doctrine as to the nature of the universe and man's place in it with a practical ethic. It was distinguished from science by the fact that an essential part of its purpose was to tell men how to live. 'Its cosmological and ethical theories were closely interconnected : sometimes ethical motives influenced the philosopher's views as to the nature of the universe, sometimes his views as to the universe led him to ethical conclusion'.[5]

Of the great values Truth, Goodness and Beauty, science is mainly concerned with truth, technology with goodness and mathematics with beauty. In the beginning mathematics was

---

1 Will Burant—The Story of Philosophy, p. XXVI.

2 Will Durant—The Story of Philosophy, p. XXVII.

3 A. Huxley—The Brave New World.

4 Will Durant—The Story of Philosophy, p. XXVI.

5 B. Russel—Unpopular Essays. pp. 10-11, Allen & Unwin (India).

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

regarded as revelations of the fundamental principles on which the universe is constructed. Everything was regarded essentially as an embodiment of number. Until quite recent times mathematics maintained the exalted position of acquainting us with necessary truths. The properties of a triangle, for example, according to Descarte in no way depend on the human mind. The figure has a certain nature or form or determinate essence which is immutable and eternal'[1] which depend in no way on the mind. The non-Euclidean geometries, however, have shown that the properties are necessary merely in the sense of being logical consequences of the axioms and postulates with which we start, and they are arbitrary. Starting with Euclid one can get the properties given in Euclidean geometry. But one can start with Lobachevsky or Riemann and get the respective properties. Thus there is no reason to suppose that Descarte's triangle is a revelation of some eternal truth—such as a thought in the mind of God. It is an arbitrary creation of the mathematician's mind and has no pre-existence.

Though it is not supposed now that mathematics has the transcendental significance that was attributed to it by philosophers for two thousand years, there is a lot of controversy as regards its real nature. The continental mathematicians hold that it is a sort of game like noughts and crosses. Bertrand Russel holds that it is a branch of formal logic.

Mathematics has rigid impersonality and objectivity. According to Bertrand Russel, there, and there alone, is eternal truth, and absolute knowledge. Its *a-priori* theorems are the 'Ideas' of Plato, the 'external order' of Spinoza, the substance of the world. The aim of philosophy, therefore, should be to equal the perfection of mathematics by confining itself to statements similarly exact and similarly true before all experience. Philosophical propositions must be *a-priori*. Such propositions shall refer to universal relations. "The world of universals may also be described as the world of being. The world of being is unchangeable, rigid, exact, delightful to the

[1] J. W. N. Sullivan—ibid p. 152.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

mathematician, the logician, the builder of metaphysical systems, and all who love perfection more than life".[1] Bertrand Russel had the ambition to reduce all philosophy to such mathematical form.

"Pure mathematics consists entirely of assertions to the effect that if such and such a proposition is true of anything, then such and another proposition is true of that thing. It is essential not to discuss whether the first proposition is really true, and not to mention what the anything is of which it is supposed to be true.......... Thus mathematics may be defined as the subject in which we never know what we are talking about, nor whether what we are saying is true".[2]

Mathematicians used to dream of one vast deductive system that would embrace all the theorems of logic and mathematics. But in 1931 Kurt Goede discovered an elegant proof that this was a hopeless dream.

The precise nature of mathematical entities is still a controversial issue. The primary mathematical ideas were originally suggested by experience but their development in mathematics has been independent of the teachings or experience. It has been guided chiefly by considerations of form which is at bottom aesthetic. Bertrand Russel said;[3]

"Mathematics, rightly viewed, possesses not only truth, but supreme beauty—a beauty cold and austere, like that of sculpture, without appeal to any part of our weaker nature, without the gorgeous trappings of paintings or music, yet sublimely pure and capable of a stern perfection such as only the greatest art can show. The true spirit of delight, the exaltation, the sense of being more than Man, which is the touchstone of the highest excellence, is to be found in mathematics as surely as in poetry............ Real life is, to most men, a long second-best, a perpetual compromise between the

[1] B. Russel—The problems of philosophy, p. 57, Oxford Univ. Press, 1971.
[2] B. Russel—Mysticism and Logic, pp. 75-76, London, 1919.
[3] B. Russel—Mysticism and Logic, p. 241.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

ideal and the possible; but the world of pure reason knows no compromise, no practical limitations, no barrier to the creative activity embodying in splendid edifices the passionate aspiration after the perfect from which all great work springs. Remote from human passions, remote even from the pitiful facts of Nature, the generations have gradually created an ordered cosmos where pure thought can dwell as in its natural home, and where one, at least of nobler impulses, can escape from the dreary exile of the actual world".

Logical structure of scientific knowledge is largely taken from mathematics in contemporary physics. Einstein points out that a scientific theory cannot be an isolated collection of statements, but must have a structure which allows one to pass from some statements to other statements within the theory.

Geometry is a pivotal subject and its ideas underlie many conceptions in philosophy. Logic, the art and method of correct thinking, can be reduced to a considerable extent to rules like physics and geometry. 'Metaphysics has always been the ape of mathematics', worte C. S. Peirce in 1891, and it is well known that Plato did not admit a student of philosophy to the Academy unless he had training in geometry. Peirce explained this requirement:

'Geometry suggested the idea of a demonstrative system of absolutely certain philosophical principles and the ideas of the metaphysicians have at all times been in large part drawn from mathematics.[1] However, a new conception of geometry-non-Euclidean geometry—developed which deprived the metaphysics of its favourite example. This revolution in geometry had a great impact on the relationship between science and philosophy. This rather made a reunion of science and philosophy possible. It is not an accident that about the same time new theories of relativity and quanta were established

[1]Avon and Bork (Ed.)—Science and Ideas, p. 54, Prentice Hall, 1964.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

which rquired a fundamental change in the traditional ideas on science and philosophy.

That mathematical theorems can be applied to the happennings of the real world is merely a happy incidence. All the same, a mathematical web of some sort can be woven about any universe. Even if mathematics be not purely subjective, it is not by nature a body of truth about the objective physical world. J. R. Oppenheimer has quoted[1] the great mathematician, Hilbert as saying to his students. "One hears a good deal now-a-days of the hostility between science and technology. I don't think that is true, gentlemen. I am quite sure it is not true, gentlemen. It almost certainly isn't true. It really can't be true. Sie haben ja gar nichts mit einander zu tun. They have nothing whatsoever to do with one another." Perhaps the same is true of mathematics and the physical world.

In pure mathematics an entity exists purely in virtue of its definition. There is no such thing as a physical quantity apart from a system of measurement. This outlook assigns a predominent role to the subjective element in science. It may be true that, as an example, the square root of 2 did not exist before the mathematician thought of it, but it seems to be untrue that lapses of time, variations of light-intensity etc. did not exist before the scientists devised the ways and means for measuring them.

It is seen that entirely different methods based on different conventions reach the same result in the investigation of a physical quantity. The agreement can be explained ony by supposing that there is an objective physical quantity that is subjected to measurements. The world of physical quantities is not created by the scientist. It already exists. The scientist

[1] J. R. Oppenheimer—Great Essays (Ed. M. Gardner), p. 194, Washington Square Press, NY, 1970.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

only makes flights of adventure and investigation. Still it remains true that the only knowledge of this world that science gives as its mathematical aspects. All that physics can tell us about the physical world is its abstract mathematical specifications. So the 'real' world of physics is vastly different from the world of perception.

It is difficult to specify the fundamental physical quantities out of which physics proposes to build the world. Field physics can be based on 'point-events' and the relation 'interval'. This however does not lead to the quantum phenomena which are based at present on different fundamental entities. If we regard like the old materialists, the 'real' world of physics as the only objecctively existing world, then their fundamental realaties must be regarded as illusory, for even space, time and matter are derivatives of more fundamental entities, according to the new physics.

Science concerns itself with only those aspects of the world which can be dealt with quantitavely. This imposes a severe restriction on the elements we can select from the total elements of our experience. Science does not claim that it alone is concerned with the 'real'. The statements of science are true within the restricted space it claims for itself the region of mathematical structure.

Science is accommodating and flexible; it adopts quite different principles and concepts provided they help in giving a mathematical description of the nature. Science is an adventure, all its truths are provisional No scientific principles are held with religious conviction. Nevertheless, scientists may think that there is a final scientific truth about the universe to which successive scientific theories ever more closely approximate.

Science has adopted the pragmatic criterion of truth namely success. Such a criterion of truth may not be congenial to the philosopher. "Science tells us how to heal and how to

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

kill; it reduces the death-rate in retail and then kills us wholesale in war; but only wisdom—desire co-ordinated in the light of all experience—can tell us when to heal and then to kill.......... For a fact is nothing except in relation to a purpose and a whole".[1]

The modern revolution in science brought about by the quantum theory has deeply affected our general view of the world, the scientific basis of philosophy and the approach to philosophical problems of everyday life. Sir James Jeans has said, "The philosophy of any period is always largely interwoven with the science of the period, so that any fundamental change in science must produce reactions in philosophy."[2] The quantum theory has shown the faulty base of the philosophy assumed by physics hitherto. Free-will instead of determinism, mind instead of matter have come to play the leading role in the pattern of events. It has also shown that nature does not function in a way that can be made comprehensible to the human mind through models or pictures. "We must limit ourselves to describe the pattern of events in mathematical terms...... These will never describe nature itself, but only our observations on nature. Our studies can never put us in contact with reality."[3]

The business of physics is to discover the pattern of events which control the phenomena we observe. But the origin and the meaning of this pattern can never be known by physics. "Philosophy is a hypothetical interpretation of the unknown (as in metaphysics) or of the inexactly known (as in ethics or political philosophy)."[4] Philosophy contemplates on the problems not yet open to the methods of science, like the problems of good and evil, purpose of the universe, free-will and determinism, mind and matter.

---

[1] Will Durrant—ibid, p. xxvii.

[2] James Jeans—Physics & Philosophy, p. 2, Cambridge, 194-6,

[3] James Jeans—Physics & Philosophy, p. 15,

[4] Will Durant—ibid, p. xxvi,

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

Science means knowledge and philosophy means love of wisdom. "In whatever ways we define science and philosophy, Sir Jame Jeans said, 'their territories are contiguous; whereever science leaves off—and in many places its boundry is illdefined—there philosophy begins."[1] Because, as Will Durant says, Philosophy is the front trench in the siege of truth. Science is the captured territory, As soon as a field of enquiry yields knowledge susceptible of exact formulation it is called science."[2] The study of the heavens which now belongs to astronomy was once included in philosophy; and so was the study of the mind now called the science of psychology. In the sixth century B.C. Anaximander gave a theory of evolution that man is descended from fish. This was philosophy as it was a speculation unsupported by evidence. But Darwin's theory based on detailed evidence of succession of forms of life as found in fossils, plants and animals is science. Thus every science begins as philosophy and ends as art; it arises in hypothesis and flows into achievement.[3] Yet there is no demarcation. Philosophy spreads over the fields of both science and art and wishes to direct the whole. However, people under the influence of science and technology are inclined to doubt whether philosophy is anything better than useless, trifling, hairsplitting distinctions, and controversies on matters about which knowledge is impossible. W.C. Allee says "Philosophy insists, even yet, on its discredited, age old claim of having a special shortcut to knowledge. Certain philosophers scold science, the most recently revitalised influence in civilisation; and strong elements of modern religion, having attempted to use science to establish their claims, try to carry on alone in some of the most vital activity and thinking of our times".[4]

But even the contempt for philosophy, if developed to a point at which it becomes systematic, is itself a philosophy,

---

[1] James Jeans—ibid, p. 17.

[2] Will Durant—ibid, p. xxvi.

[3] Will Durant—ibid, p. xxvi.

[4] W. C. Allee—What is science (Ed. J. R. Newman) p. 262, Washington Square Press, NY, 1961.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

Bertrand Russel remarked.[1] Philosophy like all other studies, aims primarily at knowledge. It is a part of the pursuit of knowledge aiming at the same kind of detachment as is sought in science. However, the knowledge that philosophy aims at is the kind of knowledge which gives unity and system to the body of the sciences and the kind which results from a criticlal examination of the grounds of our convictions, prejudices and beliefs.

The uncertainty of philosophy is to a great extent more apparent than real. Yet, the value of philosophy lies largely in its very uncertainty. "The man who has no tincture of philosophy goes through life imprisoned in the prejudices...... to such a man the world tends to become definite, finite, obvious; common objects rouse no questions, and unfamiliar possibilities are contemptuously rejected."[2] On the contrary as soon as one begins to philosophise, even the most common things lead to problems to which only uncertain answers can be given. Philosophy suggests many possibilities which enlarges the thoughts and frees them from the bondage of conventions. 'It removes the somewhat arrogant dogmatism of those who have never travelled into the region of liberating doubt, and it keeps alive our sence of wonder by showing familiar things in an unfamiliar aspect."[3]

Philosophical speculation has shown itself as a valuable preliminary to exact scientific knowledge. The speculations of Pythagoreans in astronomy, of Anaximander in biological evolution and of Democritus regarding atomic constitution of matter provided at later times to men of science with hypotheses which on being tested became a part of science.

What philosophy has always abhorred is the certainty of knowledge or ignorance. Fortunately modern science, with the development of the quantum theory has also reached the same

[1] B. Russel—Unpopular Essays, p. 9.
[2] B. Russel—Problems of Philosophy, p. 91.
[3] B. Russel—Problems of Philosophy, p. 91.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

position. Nothing is absolutely certain, though most probable. The pursuit of philosophy and science both is based on the belief that knowledge is good, even if what is known is painful.

Philosophy and science have a value, perhaps their chief value, in the greatness of the objective study, of thinking in abstract terms and of the resulting generality, impartiality and freedom from narrow and personal aims. Further, through the greatness of the universe and society at large which they work on, the mind also is rendered great, and becomes capable of that integration which constitutes its highest good.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

IN QUEST OF ANTI-COSMOS

DR. RAMA KANT PANDEY

Asstt. Director, Physics Cell., B.H.U., Varanasi-5

Search for an engirding symmetry in nature is the innate motivation of the scientific investigations. Where ever an asymmetric characterstic in the physical phenomena is ostensible it becomes the focus-point of the scientists and arrests an avid interest of the rational thinkers. Scientists had already discovered the plus and minus poles of the magnets, positive and negative charges of electricity and clockwise and anticlockwise motions of the nuclear particles. But until the advent of the Dirac's theory of positron they never imagined that nature behaves quite like a looking glass where each elementary particle has got its corresponding antiparticle which is a mirror-image of its original picture.

§1. *Positrons : The Offsprings of a 'Hole'.*

The British theoretical physicist P.A.M. Dirac (1930) predicted the existence of a positive counterpart of the electron in course of solving its wave equation. According to his assumption there should be electrons possessing a negative amount of energy. Although the idea of electrons having negative energy certainly sounds strange but Dirac strived to explain it on the following pattern : Suppose that the whole universe is a unified vacuum of infinite extent which is replete with a vast sea of an interrelated assembly of negative-energy electrons. Ordinarily, they do not interact with common matter and that is why they fail to asssert their existence. But off and anon, an energetic photon hap pens to come along and transfers its energy to one of these negative-energy electrons within an atom's electric field culminating into an uprise of the particle to positive energy. This leaves behind a 'hole' in the deep and capacious sea of the negative-energy electrons and, instead, the 'hole' behaves like the womb of a positively charged particle known as positron.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

As we know, every particle whether at rest or in motion has a proper mass equal to $m_o c^2$ and the top energy level of the negative electrons lies at the energy distance of $m_o c^2$ from the zero of total energy downwards. Naturally, in order to come out of the sea the negative electrons must not only cross a hurdle of $m_o c^2$ but also obtain its due share of the rest energy $m_o c^2$. Thus we see that for the emergence of a negative electron out of the sea its total energy should amount to 2 $m_o c^2$ (fig. 1). On the other hand, if an electron drops into this ''hole' it represents an encounter of the electron with a positron and both of them vanish together in course of mutuel annihilation. Dirac suggested that neither an electron nor a positron is created or destroyed but they simply move up and down between negative and positive energy states—while going up it absorbs energy and when coming down its energy is released.

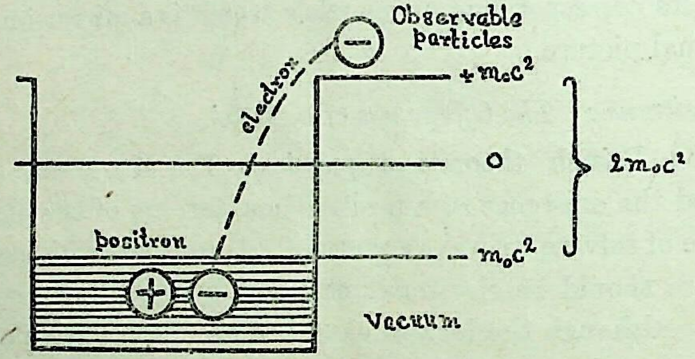

Fig. 1. Dirac's model of the electrons moving up and down between negative and positive energy states showing the birth of a 'hole' that represents the positron. It requires a photon with energy at least equal to 2 $m_o c^2$ for raising an electron to positive energy.

Dirac's assumption is consonant with all the observed characteristics of electrons and positrons. But the concept of an overflowing and infinite sea of undetectable negative-energy electrons is a little bit unattractive. Physicists have proposed several other models also but the most befitting is P. Feynnann's model in which the electron is not pictured as moving up and down between positive and negative energy states but it is assu-

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

med to swing forward and backward in time. In view of the fact that all particle-reactions are reversible this supposition gets an upper hand over other propositions. In brief, the essential point in this model is that although we pictur the electron going continually forward in time but it may incidentally interact with a field and start moving backward in time and so, it looks like a positron. For example, the reversal of its direction will render it a complxion of positron whose path will bend in the opposite direction in a magnetic field.

After the theoretical net was spread up the experimental physicists tried to entrap a particle of the predicted attributes. The extensive concatenation of cosmic particles served as the background wherefrom these positrons might be expected to emerge. The American physicist C. D. Anderson was investigating cosmic particles with cloud chambers divided into two by a lead barrier. It occurred to him that the cosmic particles emerging from the lead would lose a big chunk of their energy and a magnetic field will have rather a preponderant effect upon the less energetic particles issuing through the barrier, i.e., the particles would curve more markedly in the presence of the magnetic field (Fig. 2). Thus their properties can be

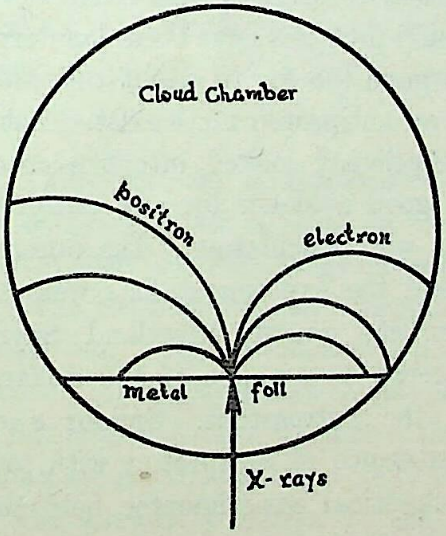

Fig. 2. Production of particles with opposite charges by a high energy beam of X-ray photons.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

studied in a more lucid manner. Although, some cosmic particles while striking and passing through the lead barrier may bump into atomic nuclei and give r ise to secondary radiations, Anderson was, in the long run, successful in showing a photograph which revealed the queer characteristics of the particles coming through the lead barrier. The extent of curvature of these particles was good enough to prove that their mass was equal to that of the electron but they were found to curve in the opposite direction from which it was inferred that they were Dirac's positively-charged electrons. Anderson rightly named them positrons but in the present set-up of the family of antiparticles they may more appropiately be called 'anti-electrons'.

§2. *Antiprotons : On Bettors' Stake.*

Electrons and protons are the only charged particles both with spin ½ that go into the build-up of ordinary matter. After the positron, a mirror image of the elctron, was discovered physicists smelt something fishy about the protons. If Dirac's theory justified the existence of antielectrons there is no reason why it cannot hold water for antiprotons as well. It was a logical compulsion to suspect that if electrons had their antiparticles so would protones have their counterparts. Theoretical physicists had gone too far to admit that things could not be otherwise and an antiproton must exist. But the experimental physicists surreptiously looked into the cosmic particles and in want of no good evidence for any antiproton felt reluctant to jump into a wild speculation. The differences between the theoreticians and the experimentalists were so sharp that two American scientists namely Hartland Snyder and Maurice Goldhaber wagered an amount of 500 dollars for and against the reality of the antiprotons. Snyder a confident theorist affirmed the existence of antiproton with tough optimism but Goldhaber, a skeptical experimenter held the negative viewpoint that in physics it is reasonable to reject any thing short of an explicit proof.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

This puzzling situation continued for nearly twenty years and the physicists were hard put to their task of finding out a mirror-image of proton. The fact that negative particles of protonic mass were not observed in the cosmic particles proved that such particles striking the surface of the earth were, if any, very few and far between. The long interregnum of two decades between the discovery of positron and antiproton was not due to the difficulty of identification of the antiprotons but the negative result of cosmic ray experiments was owing chiefly to the fewness of the low-energy antiprotons in cosmic particles. In an electron-positron collision the energy released is 1.02 million electronvolts. Therefore, as protons are 1836 times massive than electrons their encounter with the antiproton will produce the total energy equal to 1836 × 1.02 or 1872 million electron-volts. Conversely, the formation of proton-antiproton pair would require at least 1.8×10^9 electronvolts. Physicists have calculated that an energy slightly over 5.6×10^9 electron-volts is needed to produce antiprotons. The non-availability of such extremely high-energy accelerator was the main bottle-neck that prevented the discovery of antiprotons. The first accelerator to deliver such superabundant energy was the Bevatron equipped at the university of California at Berkley in 1954. It was there, for the first time, that the existence of antiproton was proved beyond doubt and, as the luck would have it, Goldhaber lost the bet!

§3. *Antineutrons: The Particles of Anti-sense!*

In the event of the two set of particles electron-positron and proton-antiproton their electric charge offers a handy means of discrimination. The electron puts on a negative charge and the positron a positive one. The proton carries a positive charge whereas the antiproton in contradistinction has a negative one. We can ask, in all fairness, as to how to differentiate the charge-less core-particle of an atom—the neutron—from its antiparticle, the antineutron. The answer is hidden in the deep recess of a neutron itself. Robert Hofstadter has made an experimental probing into the individual nucleons with beams of high-energy

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

electrons. His investigations unbosom the inner secrets of nucleons and it is concluded that both protons and neutrons comprise of the shells of electric charge and that they vary only in their net total charge. It is obvious that although the net charge of neutron is zero there are certain local domains of charge intimately coupled with it. Therefore, it is not illogical to assume that although deprived of any charge the neutron does have a magnetic field associated with it. As we know, if a particle and an antiparticle are oriented to spin in the same sense their magnetic fields are counter to each other. Thus we can differentiate a neutron and an antineutron in the sense that the magnetic field of the former is reversed with respect to the latter. Antineutron was discovered in 1956 in a sort of "semi-annihilation" which occurs when proton and antiproton score a near miss where their charges are nullified by each other but their masses escape without collision and remain intact.

§4. *Detection of Anti-atoms :*

The theory of antimatter is not only of an academic interest but it has got a sound footing on the experimental justification. In 1966 Prof. Leon M. Lederman of Columbia University created and detected in the laboratory antideuterons which are the anti-matter analogous to the nuclei of one form of heavy hydrogen. He observed anti-deuteron nucleus in every 100 million particles. Furthermore, the Soviet physicist Yuri D. Prokoskin succeeded recently in creating and detecting antihelium in a particle accelerator capable of generating energy in excess of 70 billion electron volts (Fig. 3). He found one nucleus of antihelium in every 40 billion particles observed. Complex electronic devices had to be employed in order to sort out antihelium by delineating their charactristics such as their electrical charge, time of flight and speed. The appliance put to use was capable of recording time to within several ten-billionths of a second. Physicists all over the world hailed this performance as a momentous exploit providing the first proof that antimatter can exist in form of elements more complex than antihydrogen. This achievement opens up the door of unsuspected possibilities.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

It is natural to argue that if antihelium nuclei can be created the heavier anti-elements viz. anti-iron, antioxygen or even antiuranium may also be produced in the super-nuclear accelerators in not too distant a future.

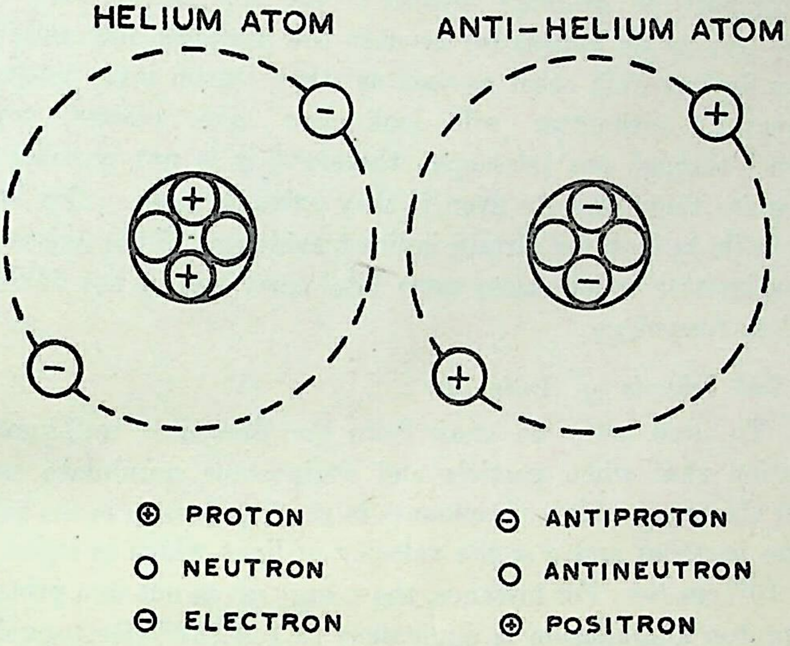

Fig. 3. Atomic structure of helium and antihelium in juxtaposition.

5. *Prelude to the Anticosmos :*

An inner conviction of the physicists to save symmetry at all costs has led to odd offsprings of the antiparticles. Investigations in the field of quantum physics have revealed that in our universe the presence of antiparticles is sporadic and abysmal. It makes, therefore, an excellent sense to search for a cosmos, in truth anticosmos, where the top-heaviness of our universe in respect of the ordinary particles is counter balanced by a corresponding abundance of antiparticles. It is evident that retention of mirror-symmetry of our world is not only aesthetically pleasing but also a necessity of logical justification for cosmological coherence. The idea of anticosmos seems to cite Neils Bohr "mad enough to be true" as it is indeed easy to surmise but exceedingly difficult to test.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

Having struggled hard to investigate the antiparticles corresponding to all the particles required to build up an atom the physicists have ample reason to ask: If antiparticles why not anti-atoms and hence antimatter which is the symmetrical counterpart of ordinary matter? On the earth, however, there can be no antimatter because the particles and antiparticles destroy each other as soon as they come into contact. Moreover, antimatter will look just like matter when viewed through the telescope., therefore, it is not possible to recognise them directly even if they exist in space. But it is not futile to look for certain indirect evidences of the existence of antimatter which raises some vital questions in the field of modern cosmology.

6. *The Islands of Antimatter :*

To start with, we know from the Einstein's well-known equation that when particle and antiparticle annihilate each other the energy released amounts to $2mc^2$ (where m is the mass of the particles and c is the velocity of light which is equal to 3×10^{10} cm./sec. For instance, the energy given out in a proton-antiproton annihilation is equivalent to 1.8×10^9 electronvolts. Although, the proton-antiproton annihilation is a very complex process, it has been confirmed that the whole energy is transimitted in the form of γ-rays, neutrinos, energetic electrons and positrons where γ-rays and neutrinos carry nearly 90% of the total energy and the rest of it is shared by other remnants. Let us consider the interstellar space of our own Milky Way of which the chief constituent is hydrogen and its density is as sparse as to contain only one atom of hydrogen per cubic centimeter. If we suppose that there are some antiprotons in this interstellar gas, they will naturally collide with the protons and through the chain of their decay-products we can ascertain whether the antimatter exists in our galaxy or not. As we have just pointed out the γ-rays and neutrinos take the major share of proton-antiporton annihilation and they sweep out of our galaxy unhindered by the tenuous interstellar gas. It is only the remaining 10% of energy manifested in the form of high

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

Fig. 4. Crab nebula is the most important example of gigantic stellar explosion in which the disintegration of the entire star takes place. This supernova remnant is the third strongest source of radio waves which are thought to be generated by the synchrotron process.

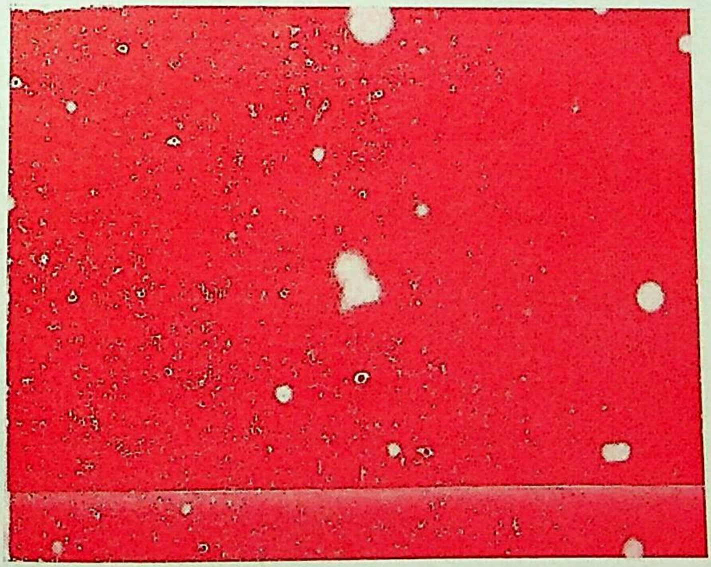

Fig. 6. Cygnus A is the second strongest radio source in the sky. The strange event depicted in the centre of this illustration was interpreted by Walter Baade and Rudolph Minkowski as a collision of two spiral nebulae. Although lying at a great distance and considered to be optically faint it is a strong emitter of radio waves.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

energy electrons and positrons that is captured by the magnetic field of the galaxy. These electrons and positrons go on exciting and ionizing the atoms that get into violent motions which in turn bustle up the galactic gas. But even if we admit that all the energy of the gas in our galaxy is released by the matter-antimatter annihilition we arrive at the conclusion that the amount of antimatter is very unlikely to exceed one part in ten million parts of normal matter. Therefore, even after the exhaustive congregation of all the antimatter in our galaxy it is hardly possible to get a star of antimatter. Still, the strong radio emissions from some remote corners of our galaxy tempt us to take a leap in the dark. As we know, if the electrons and positrons are accelerated by a magentic field they send out a characteristic radiation called synchrotron radiation which can be transmuted into radio waves. It is, therefore, just possible that the radio broadcasts relayed from outer space might be emanating from the annihilation of antimatter. In our galaxy Crab nebula—the residuum of a supernovae—appears to be a strong sea of strong radio waves which are plausibly guessed to be synchrotron radiation (fig 4.) It may be concluded that the synchrotron radiation of the Crab Neubula orginates from the electrons and positrons created by the annihilation of antimatter. Assuming that one part in ten millions of the interstellar gas is antimatter we find a close agreement between the calculated and the observed radio energies emitted from the Nebula which come out to be nearly 10^{33} ergs/sec. However, the primeval explosion of the supernovae might be responsible for the high energy electrons and positrons and our argumentative inference may not serve as an irrefutable proof but it certainly points out to the possible existence of some antimatter in our Milky Way.

It occurs as though the antiparticles, positrons antiprotons etc., are rather sporadic visitors to our world. A vigorous collision between a galaxy and an antigalaxy may yet prompt us to search for a celestial system made up entirely of antimatter. In the vast and unfathomable expanse of our universe the galaxies might be forced into a sort of inexorable mutual penetration

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

detonating tremendous amount of energy. For the detection of such explosive wedlocks we have to look to the radio astronomers who can tell us, though in a less certain manner, about the intermingling of the galaxies and anti-galaxies even if they chanced to embosom each other millions of light years away (fig. 5) From the radio waves coming out of the distant stars they can locate the emitting sources of this tremendous energy. After scanning such radio-stars the giant 200-inch telescope can be directed to discern them but still some of them may lie well beyond the reach of the most powerful telescopes.

Now, we extend our voyage into the dark distances beyond the Milky way. Let us explore the possibility whether there are galaxies shaking hands with anigalaxies. It would be no doubt a very violent and volcanic event and we have grounds to believe that such thundering blandishment of galaxies and antigalaxies are taking place outside our galectic system. For example, Cygnus-A is an odd celestial object at a distance of at least 270×10^{10} light years from which we receive extraordinarily strong radio signals and from its monstrous features it can safely be inferred that it is a pair of galaxies counterblasting each other (Fig. 6) The two galaxies in collision might be consisting of matter and antimatter as well, but to avoid an extremist view, let us suppose that each of them contains only one part of antimatter in ten million parts of matter. If we suppose that the magnetic fields of both the galaxies are acting together to accelerate the electrons and positrons the total radio energy of their annihilation is calculated to be 10^{44} ergs/sec. This is found to be in excellent agreement with the energy emitted by Cygnus-A which gives a realistic touch to our speculation.

Mesier-87 is another galaxy which emits strong synchrotron radiation at radio wavelengths. Astrophysicists are at their wit's end to explain its strong radiation. Although it is a galaxy of normal shape, its excessive brightness supports the view that it might be sucking a blob of antimatter spurted out from an antigalaxy. Also, in the constellation of Swan one of the various pairs is found to release collossal energy in the form

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

of heat. Here we are most likely looking at a glalaxy and ananti-galaxy locked in deadly embrace. But as the vigorous collision itself may cause the extra heat nothing can be said with apodictic certainty.

In course of identifying radio-sources several optical objects called quasars were discovered which appear to be star-like and at first they were thought to be stars in our galaxy. The calculation of their intrinsic brightness suggests that a truly fantastic energy is being radiated in the tiny volume of quasars which are just outside or possibly just within our own galaxy. Some physicists have expressed their views that these peculiar astronomical objects might be connected with the existence of antimatter. They are still in a wonderment whether the enormous energy might be bursting forth from the collision of matter and antimatter. In the last resort it may be a plausible explanation of this strange phenomenon of the unquiet quasars.

7. *The Cosmological Riddle :*

The equations of general theory of relativity are very complex in their most general representation but when applied to the universe they are greatly simplified by the cosmological principle according to which the large-scale view of the universe remains invariant irrespective of the observers on all galaxies at any particular time. The solutions of these equations obtained with the help of cosmological theory present varying features of the universe which are cast into several models. Most of these models confirm the view that in the long past the universe came into existence in an explosion from a primeval atom whose bits are flying apart even till to-day. These theories are put under the head of "big bang" theory. Another cosmological theory known as the theory of continuous creation states that the universe not only looks the same from all the galactic systems but also looks the same at all times. In other words, matter is being continusouly created out of energy or vice-versa and the over-all picture of the universe remains unchanged. Whatever picture of the

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

universe we uphold we find that so far as the distribution of matter and antimatter is concerned in either case the creation of matter and antimatter from energy, little by little or all at once, is expected to be in equal amounts.

The question crops up why this top-heaviness in the distribution of matter and antimatter in our universe ? In all fairness, we may assume that matter is produced in the form of neutrons which gradually decay into protons and electrons-the main building blocks of the universe. But under the law of conservation of baryon number, the formation of neutron implies the simultaneous creation of antineutron which would split into antiproton and positron through radioactive disintegration. It would follow then that despite a long chain of further nuclear events the quantities of matter and antimatter on the whole should be equal in our universe. But the simultaneous creation of matter and antimatter will meet the inevitable fate of total annihilation through an unavoidable mutual interaction. In that event, they will certainly lapse into the undifferentiated realm of energy and the universe would never come into existence. Therefore, it may be reasonably assumed that although particles and antiparticles were produced at a time, they sprang up in such a way that soon after their genesis they flew apart so as to keep clear of every possible interaction. Thus very little quantity of anti-matter might have been sucked in by the blob of matter which accounts for the uneven distribution of particle and antiparticle in our universe.

8. *Antigravity—An Open Issue :*

This idea tacitly implies the existence of antigravity which is not in tune with our normal trend of thinking. But it is not impossible that just as the particles of matter possess imperceptibly feeble force of gravity, the antiparticles may be endowed with extremely fragile force of anti-gravity which, just unlike gravity, repels the antimatter away from the gravitational field. Thus when particles and antiparticles are produced in

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

Fig. 5. A remote peculiar object (NGC 5128) of strong radio emission believed to be an example of two colliding galaxies-a globular and a spiral. It was photographed with the powerful 200-in. Mt. Palomar telescope and lies in Centaurus. The dark rift shows the obscuration of light by the inters tellar dust of the galaxies.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

vast conglomeration the gravitational field of one will be repelled by that of the other. So, the two universes will be formed and cut asunder abruptly by the gravitational force of repulsion. But inspite of all its sweet reasonableness the idea of antigravity tumbles on the hard rock of relativity which does not cope with such a drastic formalism. The concept of antigravity stands against the basic tenets of the general theory of relativity and is not acceptable unless the relativity principle is either relinquished or it suffers a grass-root modification. Looking at the truimphant glory of the theory of relativity we cannot at present reject outright or basically modify it.

Although the idea of antigravity is out of step with the general theory of relativity it is nursed by the physicists as their mental offspring. The question of antigravity is no doubt open to abstract theorization, but the concept seems to contain some co-officients of physical reality. From the experimental point of view the principle of antigravity can be verified if a beam of antiprotons generated in an accelerator is projected over a path parallel to the earth, to see whether it rises or falls. If the beam shoots up it would make out a case for the fact that the antiparticles possess negative gravitational mass. But no such experimental test has been performed so far. Even from the theoretical standpoint the problem remains unsolved since we have no theory as yet to foretell the relation between the gravitational and the electromagnetic interaction. However, from both the practical and the theoretical viewpoints the existence of antigravity is an issue on the carpet but if it comes true it will certainly give a very painful blow to the Einstein's theory of relativity.

9. *And Now the Anticosmos!*

Georges Lemaitré held that a finite time ago our universe was squeezed into a sort of 'cosmic egg' filling, astronomically speaking, a very narrow domain of space. He called this unique and formidable mass of matter as the 'primeval atom' and pictured it in the form of an isotope of neutron which

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

was unstable enough to break into nuclear chunks as soon as it came into being. Prompted by this idea Maurice Goldhaber has gone on to put forth the hypothesis of two separate universes : one made up entirely of matter and the other of antimatter. He holds that the universe comes out from a single 'particle' called the 'universon' which breaks out into a pair of particles—the "cosmon" and the "anticosmon". Then the cosmon and the anticosmon instantly after their formation flit away by some unspecified force of nature. Goldhaber contends that some antimatter from the anticosmos may have seeped into our cosmos that accounts for the radio signals received from the outer space. After the collapse of the parity principle—that is, to say roughly, the recognistion of the fact that some laws of nature are not symmetrical—some cosmologists seem to find a cosy shelter in the theory of two universes. They are prone to think that the symmetry may be restored if in the anti-universe of equal magnitude there exists a corresponding asymmetry.

It may not be untenable to extend this hypothesis to the creation of several such universes and anti-universes if at all the gigantic superatom breaks down into more than two parts. But this would drop us in the unfathomable sea of metaphysical abstractions. Philosophers like William James have no doubt contemplated the existence of 'multiverse' by posing the question : "Why one should be thought more excellent than fortyone or a million and ten". James rejected a singular view and stressed that such a monistic world would be a dead world whereas the pluralistic world would be a world in the making. However, we should not forget the basic maxim that what seems 'philosophically true' may turn out to be 'scientifically false.' Nevertheless, the postulate of anticosmos is much too fascinating from both the scientific and the aesthetic points of view as well.

On the other hand, we may suppose that both matter and antimatter are scattered equally but in secluded fragments of only one universe. The only resonable way of setting apart

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

these fragments is to assume that the solitary galaxies and antigalaxies or their clusters comprise solely of either matter or antimatter with the provision of both the galaxies and the antiglaxies in the same universe. If that be so, it would be very hard to tell the galaxies from the antigalaxies, because the informations we receive about these objects is either through their gravitational effects or through the emission of their radiation. The carriers of these informations-gravitons and photons- are their own antiprsticles i.e. the gravitons and photons emitted either from a galaxy or an antigalaxy are entirely identical. Thus it is evident that the galaxies and antigalaxies would be wholly indistinguishable unless, of course, antigravitons or antiphotons are discovered. the chances of which appear to be too slim.

In the cosmon we live in, the atoms of ordinary matter are basically composed of negatively charged electrons orbiting around the positively charged protons plus neutrons that have no electric charge. A corresponding anti-atom of the antimatter extant in the anticosmos would have antinuclei made up of antiprotons and antineutrons surrounded by positrons. Under idential conditions the laws of the cosmon and the anticosmon will remain the same. But in each case the sign will be opposite to that of the other. Thus, there is no way to distinguish the cosmon from the anticosmon but we can draw the line of their boundary region if they happen to come in the vicinity of each other. Once they knit together the particles would vanish into energetic gamma photons cast forth in all direction from the point of encounter with the speed of light or they would convert into pi-mesons. The vast conglomeration of photons and high-energy pi-mesons will mark off the explosive 'danger zone' between the cosmon and the anticosmon.

An anticosmon of antimatter would be a vast celestial system of 'antigalaxies' made up of 'antistars' with 'antiplanets' moving around them. If there were living organisms they would be the mirror-image of our terrestrial beings possibly

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

gifted with 'antilife' and there might well be some 'anti-intelligent' observers unfolding the mysteries of their world just as we have laid bare the secrets of our universe. They would perhaps rightly, consider their universe to be made up of matter and ours of antimatter. The 'antiapples' in the 'anticosmos' instead of falling on, would fly away from 'Anti Newton's head.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

AGE AT MENOPAUSE AND ITS EFFECT ON FERTILITY

S. N. SINGH AND T. BHADURI

Demographic Research Centre,
Banaras Hindu University,
Varanasi—221005.

Summary :

Age at menopause, the termination of menstruation, differs from female to female. Its onset occurs during a certain interval, usually 30 to 55 years. It is difficult to identify the age at which menopause occurs, since it happens gradually and also post-menopausal females, specially too old, do not remember the correct age. The present study is based on the information collected in the Demographic Survey of Varansi (Rural) 1969-70. The average age at menopause for the currently married females lies between 46 and 47 years and about 4 percent births are saved due to menopause occuring at ages earlier than 50.

1. Introduction

Females are capable of bearing children during the reproductive period which extends from menarche to menopause, the events of the first and last menstruation, hence the ages at these events are important to a consideration of fertility. The range of variation in age at menarche is small and the average lies between the 13th and 14th years. But menopause occurs at varying ages within a certain range, usually 30 to 55 years. Its incidence before 30 and beyond 55 is very rare (Dandekar 1959, Rakshit 1962, Wyon and Gordon 1966, 1971, MacMahon and Worcester 1966, Amundsen and Diers 1969, 1970, 1973*a*, 1973*b*, Kale 1970, Post 1971, Pattnaik 1971, Singh and Bhaduri 1974*a*, 1974*b*)

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

Post (1971), in a review of papers on ages at menarche and menopause, has quoted results supporting the hypothesis that age at menopause depends on health of the female. Amundsen and Diers (1973*b*) have stated that in modern times the age at menopause is increasing as the age at menarche is decreasing (Formmer 1964) but others report that there is no firm evidence to support this hypothesis (Burch and Gunz 1967). MacMahon and Worcester (1966), Singh and Bhaduri (1974*a*) have considered the variation in age at menopause according to socio-economic factors. Dankedar (1959), MacMahon and Worcester (1966), Singh and Bhaduri (1974*b*) have reported estimates of the proportion of menopausal females according to her age.

Several factors contribute to the relative lack of data on the age at menopause as compared to that on the age at menarche. It is difficult to identify the correct age at which menopause occurs, since it happens gradually and also post-menopausal females, specifically too old, do not remember the correct age. Because of methodological problems related to data and analysis the reported results of several studies may not represent the state of affairs in the related populations. Most of the previous studies are based on hospital data. One major study was undertaken by the Council of the British Medical Women's Federation based on healthy women in 1933. However Dandekar (1959) and MacMahon and Worcester (1966) obtained estimates of menopausal rates using data from the sample surveys on the assumption of no important cohort changes among the females. Data on age at menopause has been collected in the Demographic Survey of Varanasi (Rural) 1969-70.

Objective of this paper is to report some findings on age at menopause and its effect on the fertility performance of a couple. The results are based on data from the Demographic Survey of Varanasi (Rural) 1969-70. A short description of data is given in section 2. The results are discussed in section 3.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

2. Data

The information on age at onset of menopause is collected retrospectively and relates to females no longer menstruating. Menopause can be identified when a female, not pregnant during that time, not in the period of amenorrhea which follows each delivery and has no obvious medical reason for amenorrhea; had not menstruated for at least 12 months (Khanna study Wyon *et al*, 1971). Following this convention informatiin on age at incidence of menopause was collected from all currently married females in the age group 30 to 55 in the Demographic Survey of Varanasi (Rural) 1969-70, conducted under the auspices of Demographic Research Centre, Banaras Hindu University (Sponsored by the Population Council, New York). The details of the survey are given in Singh, Yadava and Bhaduri (1970). To avoid bias due to recall lapse or memory commonly found in the responses relating to events in the distant past, information on menopause was not taken from females above 55. The range 30 to 55 is considered since incidence of menopause before 30 and beyond 55 is rare. Data on this topic was not collected from widows, separated, divorced and unmarried women. Out of 1139 currently married females, in the age group 30-55, 56 are not included in this study, because either they were not available or information was not reliable.

Table 1 presents the incidence of menopause by age as to when menstruation stopped for each present age cohort. Present age corresponds to the age in September 1969, the reference date of the survey. To get reasonable number of observations, females, have been grouped into five year age intervals.

3. The Results

3.1 Table 2 presents the average age at menopause as reported by the females who had attained menopause at the time of survey according to present age. The average age at menopause for 238 menopausal females in the sample is 44.11. In computing such averages, females with early meno-

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

pause have a relatively higher probability of being included. Thus among females, say 45-50 years of age, those who are post-menopausal, are included but those still menstruating are obviously excluded. MacMahon *et al*, (1966) computed mean age at menopause for U.S. Women (Column 2 table 2). Trends represented by the two sets of averages are similar.

TABLE 1.

Distribution of Females, by present Age and Age of Menopause, if attained.

Present age	Menopause attained at age					Still menstruating	Total
	30-35	35-40	40-45	45-50	50-55		
30-35	1	0	0	0	0	345	346
35-40	0	1	0	0	0	224	225
40-45	2	14	15	0	0	179	210
45-50	3	14	49	28	0	90	184
50-55	0	10	27	49	25	7	118
Total	6	39	91	77	25	845	1083

TABLE 2.

Mean age at menopause of postmenopausal Females.

Present age	Mean age of menopause	Mean age at menopause (MacMahon *et al*, 1966)
30-35	32.5	
35-40	37.5	36.3
40-45	39.6	
45-50	42.9	43.7
50-55	46.5	47.1

Estimates of mean age at menopause computed with the methods suggested by Singh and Bhaduri (1974*a*) and Dandekar (1959) are respectively 46.65, 46.70 and 46.67 for the present sample. They are based on the assumption of no important cohort change. For comparison the mean menopausal ages

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

reported by others are listed below (taken from MacMahon *et al*, 1966):

Place and year	Mean menopausal age in year
Israel (1933)	49.5
Finland (1961)	49.8
Basel, Switzerland (1961)	49.8
South Africa-Zulu (1960)	49.2
South Africa-White (1960)	48.7
Denmark (1942)	48.0
Great Britain (1933)	47.5
Pittsburgh, Pa (1918)	47.1
U.S. (1966)	47.3
Rural Punjab, India (1966)	42.6

3.2 Singh and Bhaduri (1974*a*) have obtained two sets of estimates for the proportion of females attaining menopause at different ages. The estimates are based on the data in table 1 and the techniques of MacMahon *et al*, (1966) and the life table. Under certain assumptions it is shown that age at the incidence of menopause may be approximated by a modified Beta distribution. The life-table estimates for the proportion of females attaining menopause in the age groups 30-35, 35-40, 40-45, 45-50 and 50-55 are 0.0066, 0.0691, 0.2277, 0.3867 and 0.3165 respectively. These values indicate that almost all females become menopausal between the ages 30 and 55, the onset of menopause is very rare outside the interval (30,55). In this interval, the rate of onset increases with age of the female, initially very slowly upto 40, attains a maximum in the age group 45 to 50 and then declines abruptly.

The information on the number of births to currently married females has been collected in the Demographic Survey of Varanasi (Rural) (1969-70). The average number of births to females who have not attained menopause and have not used any contraceptive, are 1.95, 1.63, 1.59, 1.29, 1.10, 0.48 and

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

0.14 for the age groups 13-20, 20-25, 25-30, 30-35, 35-40, 40-45 and 45-50 respectively. It is, therefore, expected that a non-menopausal female, exposed to the risk of conception and passing through these ages would have 8.18 births in the interval (13,50).

Since menopause occurs after the female becomes 30 years old, the consequential reduction in the marital fertility is $0.0066 \times 1.29 + 0.0691 \times 1.10 + 0.2968 \times 0.48 + 0.6835 \times 0.14 = 0.32$. Thus about four percent births are saved due to onset of menopause at ages earlier than 50.

CONCLUSION

The incidence of menopause is recognised only after a lapse of time of its occurrence, therefore the methodology of collecting information should invariably be reported alongwith data which should normally relate to females in the age group 30-60. Information from females more than 60 may be subject to memory bias. Obviously the rates and averages computed only from the responses of the post menopausal females would be under estimates and hence erroneous. The estimates taking account of all females at risk are preferable. The average age at menopause for the females in this study lies between 46 and 47 years and about four percent births are saved due to menopause occuring at ages earlier than 50.

ACKNOWLEDGEMENTS

This investigation is supported by Grant No. D72-3C of the Population Council, New York. The authors are grateful to the researchers of the Demographic Research Centre who participated in the collection and processing of the data.

REFERENCE

Amundsen, D. W. and Diers, C. J. 1969: The age at menarche in classical Greece and Rome, Hum. Biol. 41 : p. 125.

.... 1970: The age at menopause in classical Greece and Rome. Hum. Biol. 42 : p. 79.

.... 1973*a*: The age of Menarche in Medieval Europe. Hum. Biol. 45 : p. 363.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

.... 1973*b* : The age of menopause in Medieval Europe. Hum. Biol. Vol. 45 : P. 605.

Burch, P. R. and Gunz, F. W. 1967 : The distribution of the menopausal age in Newzealand. An exploratory study. N. Z. Med. J. 66 : P. 6.

Council of the Medical Women's Federation : 1933 An investigation of the menopause in one thousand Women. Lancet 1 : P. 106.

Dandekar, K. 1959 : Demographic Survey of six Rural Communities, Gokhale Institute of Politics and Economics, Poona. Asia Publishing House, Bombay.

Former D. J. 1964 : Changing age of menopause. Brit Med. J. 2 : P. 349.

Kale, B. D. 1970 : A Female Fecundity Table. Studies in Demography Essays presented to Prof. S. Chandrasekhar on his fiftyfirst birthday. Compiled by Ashish Bose. P. B. Desai and S. P. Jain. George Allen and Unwin. P. 226.

MacMahon, B. and Worcester, J. 1966 : Age at Menopause. United States 1960-1962. National Centre for Health Statistics. Series 11, No. 19. U. S. Department of Health, Education and Welfare, Public Health Service.

Pattnaik, B. 1971 : Age at Menarche Among Urban Upper Caste Women of Orissa. Man in India Vol. 51. No. 3 : P. 217.

Post, J. B. 1971 : Ages at menarche and Menopause. Some Mediaeval Authorities. Population Studies Vo. 25 No. 1 : P. 83.

Rakshit, S. 1962 : Reproductive life of some Maharastran Brahman Women. Man in India. Vol. 42 No. 2 : P. 139.

Singh, S. N., Yadava, R. C. and Bhaduri, T. : 1970 A demographic Survey of Varanasi (Rural). Prajna, Vol. XVI (1) : P. 176.

Singh, S. N., Bhaduri, T. 1974*a* : Some results on age at menopause submitted for publication.

.... 1974*b* : Distribution of age at menopause. submitted for publication.

Wyon, J. B. Finner, S. L. and Gordon, J. E. 1966 : Differential Age at Menopause in Rural Punjab, India. Population Index vol. 32 No. 3, P. 328.

Wyon, J. B. and Gordon, J. E. 1971 : The Khanna Study. Population Problems in Rural Punjab. Harvard University Press, Cambridge, Massechusetts, P. 162.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

OPINION ON IDEAL FAMILY SIZE

G. AGRAWAL AND V. K. SINGH

Demographic Research Centre, Banaras Hindu University

Introduction :

The high growth rate of population in India, which is mainly due to the sudden fall in death rate and almost constant high birth rate, is creating several problems even for the maintenance of the minimum standard of living. The development efforts in agriculture, industry and other sectors are neutralized by this growth rate.

India is the first country to officially recognize the need for population limitation as an integral part of its development plans and has adopted Family Planning (F.P.) as a national programme to reduce fertility. The overall task is to achieve the acceptance of small family norm by persons so that they can plan and control number of births with the help of available F.P. methods. In order to know the extent of acceptance of small family norm specially in rural areas where about 80 percent of the Indian people live, it is necessary to ascertain their opinion with the help of suitably designed sample surveys.

The objective of this paper is to estimate the extent of the acceptance of small family norm in a rural area. This has been done with the information on the opinion of female partners relating to ideal family size and its sex composition. An analysis of the variation in these estimates due to some socio-economic factors such as caste, social status, education etc., is also discussed. The variation in responses due to demographic factors will be presented elsewhere. The data is taken from the 'Demographic Survey of Varanasi (rural) 1969-70' [1] where questions on ideal family size and their sex composition were asked. A short description of the data and its analysis according to different characteristics is given in the following sections;

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

SECTION 2 :

Data :

In 1969-70 a demographic survey of Varanasi (rural) was conducted under the auspices of the Demographic Research Centre, Banaras Hindu University (sponsored by the Population Council, New York). The methodology of the survey is given in detail in Singh, Yadava and Bhaduri [1]. The survey was conducted in 2059 households scattered in 52 villages in Varanasi Tehsil. The F.P. data were obtained from both the partners, wife and husband. Male investigator contacted husband while female investigator interviewed the female partner. Information was collected from all eligible couples except those (1) with marriage duration (M.D.) less than three years and (2) female partner attained menopause. A couple with both partners alive and female's age less than fifty was defined eligible. The respondents showing non-cooperative attitude on this topic were also excluded.

For information on ideal family norm, questions were asked about the number of children, the respondents think most ideal for the family. They were also asked about the sex composition of the children.

There were 2591 eligible couples in the sample, out of which 320 were with M.D. three years and 127 females had already attained menopause. One female was mentally unfit. Further 327 females could not be contacted as they were at their mother's place at the time of investigation. Out of the remaining 1816, 139 refused to give answer, 146 were not present and 121 did not cooperate. Thus the information is available from 1410 females and there are 406 (139 + 146 + 121) cases of non-response.

SECTION 2.1 :

155 (11 percent) females assert that the ideal number and sex composition of children depends on God, while 61 have no opinion. The remaining 1194 females have given different numbers for the ideal family size. From table 1, it is apparent that 72 percent of women state a three or four child family. About 6 percent females prefer less than three children, while

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

22 percent suggest that this number should be five or more. The average number of ideal children is 3.89.

Information on the sex composition is available from 1184, since 10 females gave only the total ideal number without specifying the number of sons and daughters. The percentages calculated, henceforth, are based on these 1184 observations.

Table 1 shows that there is a strong preference for sons. It may be due to the tradition, according to which at least one son should survive upto the death of his parent, so that he can perform the last ceremonies. 723 (61 percent) females prefer two sons as ideal. 68 (about 6 percent) want one son while 393 (33 perent) suggest three or more. So far as the ideal number of daughters is concerned, most of the women, 650 (55 percent) desire one and 487 (41 percent) prefer two as ideal. Only 37 (3 percent) assert three or more. Also 10 (0.8 percent) females do not prefer even a single daughter.

Table 1. Distribution of the ideal family size and ideal males

Ideal males Ideal numbers	1	2	3	4	5	6	7	Not stated	Total
1	2								2
2	59	5							64
3	6	426	2					5	439
4		291	126	1				3	421
5	1	1	124	34				1	161
6			13	58	4				75
7				7	7				14
8				4	3	1	1		9
9									
10				1	5	1	1	1	9
Total	68	723	265	105	19	2	2	10	1194

From these figures it is clear that, in general, females desire both sons and daughters. They want at least one son, preferably two. Out of 1184 females, 803 (68 percent) are in favour of more sons than daughers, 372 (31 percent) prefer

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

equal number of sons and daughters and only 9 females express the desire for more daughters than sons.

Let us examine whether there is any variation in the ideal number and their sex composition due to caste, social status, education of husband, industry of husband and marriage duration. The variation is considered in relation to three, four, five and over ideal number of children. There are only 66 females who prefer ideal to be two or one. The sub-classification of this group would give unusually small numbers, therefore, they are not included in the subsequent sections.

SECTION 2.2 :

Caste :

Couples belonging to different castes have been grouped into 6 categories. The first five groups belong to Hindus. This grouping is based on the similarity of the pattern of living and their relative position in the locality. The sixth group consists of Muslims. The caste groups are as follows :

Group 1 : Brahmin, Bhumihar, Kshatriya, Kayastha, Mahabrahmins, Brahmabhatta, Gosain.

Group 2 : Kurmi, Koiri, Ahir, Gareria.

Group 3 : Kalwar, Thathera, Baniya, Teli, Barai, Sonar, Halwai.

Group 4 : Kahar, Kohar, Lohar, Nai, Nonia, Bind, Mali, Mallah.

Group 5 : Chamar, Bhar, Khatik, Dharakar, Dhobi, Nat, Pasi, Bhangi, Mushahar.

Group 6 : Muslims.

The respondents in the sample belong to one of these castes. A detailed account is given in Yadava [2].

Table 2 shows the percentage of females stating that the total ideal and their sex composition depends on God is respectively 15 and 17 in caste group 4 and 5, while this figure is comparatively small (4 percent) in group 1. Again 9 percent of females belonging to the third group have no opinion. This is much higher in comparison to the corresponding figures for other castes.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

The percentages of females belonging to caste groups 1, 2, 3, 4, 5 and 6, prefering ideal number five or more are 14, 19, 16, 29, 28 and 37 respectively. From these figures it is apparent that the females belonging to the first group prefer relatively smaller ideal family size. This percent is largest for Muslims. In group 1, majority of the females (54 percent) desire 3, whereas in group 2 they have almost equal preference (38 percent) for 3 and 4. It should be noted that, in general, only 37 percent females state a three child family. Excluding group 1 and 2, greater number of females suggest a four child family.

Data on sex composition shows that an overwhelming majority of females (at least 97 percent), suggesting three as ideal, want two sons and one daughter in each group. In groups 2, 3 and 4 about 71, 78 and 73 percent females prefering four, want two sons and two daughters. In group 1 this number is smallest (55 percent). The suggestion for three sons and one daughter is highest in the same group (43 percent). It is interesting to note that the average number of sons and daughters is relatively small in caste group 1 and 3. The highest average number of sons and daughters is in group 6. Thus Muslims are favourable to greater number of sons and daughters.

On the whole it can be stated that groups 1 and 3 are in favour of relatively small family norm. They are also less dependent on God. The average number of sons is much higher than that of daughters in each group.

SECTION 2.3 :

Social Status (*S. S.*) :

Here attempts have been made to explain the variation in the desired ideal number according to the socio-economic charactersitics of females. The socio-economic characteristics of females are related to the status of the household. A detailed account of computing the index of social status of a household is given by Yadava [2]. The index varies from 8 to 46. The first group corresponds to the index less than equal to 13;

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

while last group consists of females with social status index 30 and above. Other groups correspond to intermediate values.

Table 2 represents the distribution of females according to the total ideal and their sex composition in different social status groups. Groups 1, 2, 3, 4 and 5 are in the ascending order of social status and contain 209, 396, 303, 291 and 199 females respectively. The index is not known for two females.

Table 2 indicates that the proportion of female respondents stating that ideal number and sex composition depends on God is negatively associated with the index of social status.

The percentages of females prefering ideal number five or more and belonging to groups 1, 2, 3, 4 and 5 are about 26, 26, 20, 20 and 8 respectively. From these figures it is clear that this characteristic is also negatively associated with the index of social status and the last group is different from others. Among the females stating three or four as ideal, most of them (39 and 55 percent) in group 4 and 5 desire three, whereas in group 3, the preference is same (38 percent) for three and four. Greater number of females in group 1 and 2 suggest four. Thus there is an increasing trend for ideal three with social status.

The sex composition data shows that the greater number of females (97 percent) prefering three, want two sons and one daughter in each group. In groups 1, 2 and 3, 81, 70 and 73 percent females suggesting four want equal number of sons and daughters, whereas in group 4 and 5, these numbers are smaller (58 and 64 percent), but the preference for three sons and one daughter is highest in these groups. This clearly shows that females of higher social status group desire relatively more sons. The average number of sons and daughters are 2.51 and 1.49 for the group 2 which is highest.

In short, it may be concluded that total ideal size decreases with increasing social status. It can be also remarked that in the highest social status group lesser females stated that the ideal number depends on God.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

SECTION 2.4 :

Education of husband :

The following paragraphs shows as to what extent ideal family size is related to the educational attainment. In Varanasi rural to which data corresponds, females have negligible education. Therefore they are grouped according to the education of their husband. For purposes of this analysis, females have been grouped into three categories. The first group consists of illiterates or with nominal education. The second group is for primary or middle school education, while the third corresponds to high school or more education.

Table 3 shows the distribution of females in different education groups according to their preferences for total ideal number of children and their sex composition. There are 619, 365 and 194 respondents in groups 1, 2 and 3 respectively. 7 females with education of husband not available, are excluded.

Females stating that the total ideal as well as the number of sons and daughters depends on God are 14, 9 and 5 percent in the groups 1, 2 and 3. From this it may be concluded that this characteristic is negatively associated with education.

The percentages of females belonging to groups 1,2 and 3 stating five or over as ideal are 26, 21 and 14 respectively. These figures also show a decreasing trend. In group 3, majority of females (53 percent) suggest three as ideal, while in group 1, 40 percent want four. It should be noted that except the Ist group, greater number of females perfer three as ideal.

From the table it can be seen that most of the females (about 98 percent) prefering three want two sons and one daughter in each group. In group 2 and 3 about 68 percent females suggesting four as ideal want equality in sexes. This number is highest (71 percent) for 1st group. The proportion for three sons and one daughter is same (32 percent) in the second and third group, while the percentages of females recommending four or more sons in the column for 5 and over ideal in the groups 1, 2 and 3 are respectively 48, 51 and 96. From the

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

figures in the columns of average ideal and average male ideal for different groups, it is obvious that these numbers are decreasing with the increase in education.

In short, the conclusion can be drawn that as the education of husband increases, desired number of children decreases. It is also interesting to note that the females in the higher education group are less dependent on God.

Section 2.5:

Marriage duration:

Marriage duration for a female is the period of time between the date of her marriage and the reference date of the survey. To study the effect of this variable on the preference of total number of children and their sex composition, females are classified into three sub-groups; 1, 2 and 3 which correspond respectively to 3-9, 10-19, 20 or more years of marriage duration. The second block of Table 3 represents the distribution of females according to the ideal family size and their sex composition for the sub-groups 1, 2 and 3 which contain respectively 425, 597 and 368 observations. 11 females with unknown M.D. are exluded. The number of females for different groups in the column 'Depends on God' indicates that the younger females are relatively less fatalist.

The percentages of females prefering more than four children as ideal are 22.0, 20.0 and 25.0 for the 1st, 2nd and 3rd groups respectively. Respondent of different groups show little difference in the preference of three or four ideal. So far as sex composition is concerned, greater number of females (97 percent) suggesting three, want two sons and one daughter in each marriage duration group. In the second group, 73 percent prefering four, want two sons and two daughters, which is highest. The percentage of females stating five or more as ideal and desiring four or more males increases with M.D. The respective percentages are 43, 49 and 52.

From the columns for average ideal and average male it may be concluded that these variables increase with marriage duration.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

TABLE

Distribution of the ideal family size and

Ideal Number	1 — 2			3				4			
Ideal male Caste	1	2	Total	1	2	3	Total	1	2	3	4
1	19	4	23	2	158	1	161		41	32	1
2	13		13	1	125	1	127		89	36	
3	6		6	1	31		32		27	10	
4	9		9	1	38		39		42	12	
5	13		13	1	61		62		77	29	
6	1	1	2		13		13		15	7	
Social Status											
1	11	1	12	1	37		38		57	13	
2	11		11	1	97		98		85	36	
3	10		10	1	93	2	96		70	26	
4	15	2	17		100		100		46	32	1
5	14	2	16	3	99		102		33	19	
N.A.											

*The average have been computed with ungrouped data.

TABLE

Distribution of the ideal family size and

Ideal Number	1 — 2							4			
Ideal male Education	1	2	Total	1	2	3	Total	1	2	3	4
1	30	2	32	2	177	1	180		175	71	1
2	15	2	17	2	145	1	148		83	39	
3	16	1	17	2	100		102		32	15	
N.A.					4		4		1	1	
Marriage duration											
1	23	1	24	3	141	1	145		72	42	
2	24	3	27	2	171	1	174		143	51	1
3	13	1	14	1	113		114		72	33	
N.A.	1		1		1		1		4		
Industry											
1	16	2	18	3	175	2	180		87	48	1
2	4		4		22		22		23	7	
3	6		6	2	34		36		34	11	
4	8	1	9	1	40		41		49	21	
5	25	2	27		147		147		87	38	
Others	2		2		8		8		11	1	

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

2

ideal males for different characteristics

5+							Depends on God	No opinion	Total	Average*	
Total	1	2	3	4	5+**	Total				Ideal	Male
74			16	25	1	42	14	5	319	3.52	2.27
12	1		39	26	9	75	40	15	395	3.96	2.42
37			8	6		14	11	13	113	3.71	2.26
54			19	18	3	40	26	8	176	4.04	2.46
106		1	43	22	5	71	56	17	325	4.07	2.47
22			12	7	5	24	8	3	72	4.47	2.81
70			22	18	7	47	34	8	209	4.10	2.51
121		1	46	36	8	91	53	22	396	4.10	2.52
96			29	18	5	52	30	19	203	3.87	2.38
79	1		31	24	3	59	26	9	290	3.84	2.42
52			9	8		17	10	3	200	3.41	2.14
							2		2		

**5+ means 5 or over.

3

ideal males for different characteristics

5+							Depends on God	No opinion	Total	Average	
Total	1	2	3	4	5+	Total				Ideal	Male
247		·	83	58	19	160	107	36	761	4.06	2.49
'122		1	37	35	4	77	37	22	423	3.81	2.39
47	1		16	11		28	11	4	209	3.51	2.18
2			1			1			7		
114		1	44	31	4	80	37	24	424	3.80	2.38
195	1		56	40	13	110	71	20	597	3.90	2.41
105			36	33	6	75	45	16	369	3.98	2.45
4					1	1	2	1	10		
136	1		50	38	7	96	55	11	496	3.85	2.42
30		1	16	6	4	27	28	6	117	4.17	2.55
45			12	10	2	24	11	7	129	3.88	2.37
70			20	15	7	42	22	15	199	4.06	2.53
125			38	32	3	73	38	21	431	3.79	2.33
12			1	3		4	1	1	28		

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

SECTION 2.6 :

Industry :

In the sample under study the females are mostly involved in the household work. Therefore, as in education, the industry of husband has been taken for the analysis.

To examine the effect of industry of husband on the preference for the total ideal and their sex composition, females are grouped into 5 categories. Groups 1, 2, 3, 4 and 5 correspond, respectively to own agriculture, agriculture labourer, business, household industry and service. The third block of table 3 represents, the ideal number and their sex composition for the sub-groups 1, 2, 3, 4 and 5 which contain respectively 495, 115, 113, 199 and 431 observations. 28 females with industry group 'others' are excluded. From the number of females for different groups in the column 'Depends on God' it is obvious that the highest percentage of females believing in God for the ideal number belong to agriculture labour class. The next position goes to household industry and own agriculture.

For the detailed study of the total ideal desired in different industry groups, one can observe that the percentage of females who prefer four or more children is 69 and 70 for the 2nd and 4th group. Majority of females of 1st and last group suggest that ideal number of children should be three, while greater number of females of 4th group state four as ideal.

Table 3 indicates that most of the females (above 94 percent) prefering three, want two sons and one daughter, whereas all of the females in industry groups 2 and 5 suggesting four, want equal number of son and daughters. Majority of females who recommend three sons and one daughter belong to industry group 1.

It is interesting to note that the average ideal number of sons and daughters is higher in 2nd and 4th group, whereas it is least in industry group 5. These averages show that service class females are in favour of relatively small family,

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

while those belonging to group 2 and 4 desire higher average number of sons and daughters.

From the above discussion we can conclude that people who can engage their children in works either in fields or in household industry are in favour of relatively larger ideal number. Generally in villages agriculture labourer and household industry workers engage their children as a helper. Perhaps this may be the reason to recommend more children.

SECTION 3 :

Comparative Study :

Several large as well as small scale sample surveys have been conducted in almost all under developed countries, where opinion on the ideal family size and their sex composition has been taken. For comparison certain results are given below. The average desired size in the present case is 3.89. 46 percent females want four or more than four children while 17 percent suggest that the ideal number of children should be five or more. One obvious conclusion which can be drawn with a comparative study of figures from the table is that the ideal size as well as the percentages of respondents belonging to rural areas and desiring four or more and five or more are minimum in our survey. This may be due to the fact that there is a time lag between other results reported and the date of our survey. Perhaps in course of time the figures for others places have also decreased and if the results for current surveys are available for others, they might compare well with the numbers in our survey.

An urban survey in India indicates that parents want three as ideal. Specially they prefer two boys and one girl [6]. Lahiri also found similar results [7]. Our data show that majority of females prefer two sons and one daughter. Evidences from almost all attitude surveys in India suggest that the ideal family size should be three or four, closer to three in urban areas and four in rural areas [8]. Similar results have been reported in Agarawala [9].

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

Average desired number of children in India and other developing countries [3]

Country	Year	Sex of respondent	Type of Sample	Aver. desir. No. of Child.	%of 4 or more children	want 5 or more children
Japan	1961	F	National	2.8	22	8
India (Central)	1958	M/F	U/R	3.8	57	25
Thailand	1964	F	Rural	3.8	54	26
Taiwan	1962-63	F	Urban	3.9	62	22
Indonesia	1962-63	M/F	Rural	4.3	66	36
Korea	1962	F	Rural	4.4	80	45
Philippines	1963	F	U/R	5.0	71	53
Malaysia	1966-67	F	All west Malaysia	5.1	81	55
India	1967	M	N. S. S.	3.2[4]		

Similar results have been reported in Taiwan study [5].

Section 4 :

Conclusions and suggestions :

The major findings of this paper are summarized in the following paragraphs.

About three fourth of females desire three or four children and relatively small number want more than four. A few of them state that the number depends on God. A very high preference for sons has been observed in all sections. Average number of children considered ideal is 3.89.

Some main findings according to different factors are given below.

1. Caste group 1 is highly favourable to small family norm desiring smallest number as total ideal. In

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

caste group 6, the number of respondents is too small for valid conclusion. 70 percent females prefer 4 or more as ideal in caste group 5.

2. Females of caste group 5 are more dependent on God for the total ideal number, and this dependency is least in caste group 1.
3. The comparison of tables clearly shows that majority of females of high social status, strongly prefer 3 or less children showing their desire for small family. This preference decreases from social status 5 to 1 gradually and finally it becomes 30 percent in group 1. Consequently about 70 percent females of this group prefer 4 or more children.
4. Illiteracy increases dependency on God. Higher the education of husband, lesser is the number of children preferred. Thus education is one of the important factor affecting the acceptance of small family norm.
5. Though the variation in the ideal number desired due to marriage duration is small an increasing trend is observed in it with the marriage duration. This shows that, perhaps, the ideal number reported varies according to the number of children born.

It is observed that females belonging to high caste groups, more educated and maintaining relatively good social status prefer small family. It is of interest to note that the occupation of respondents also affect their preferences. For example, those who can engage their children in the same work, prefer more than three children.

The average ideal is 3.89 whereas the number should be between two and three according to the family planning programme of government. This shows that either the programme has not reached the villagers or they do not want to have such a small family. However, the results indicate that for the acceptance of smaller family norm, it is desirable to raise the social status and the standard of education in rural areas.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

ACKNOWLEDGEMENT

This investigation is partially supported by the grant No. D 72-3C of the Population Council, New York. Authors are grateful to the researchers in the centre who helped in the preparation of this paper. Further G. Agrawal is grateful to Dr. Umesh Prasad, Department of Economics, Banaras Hindu University for his constant encouragement.

REFERENCES

1. S. N. Singh, R. C. Yadava and T. Bhaduri: "A Demographic Survey of Varanasi (rural)" Demographic Research Centre, B.H.U. (1969-70).
2. R. C. Yadava: "An appraisal of some Stochastic Models for Human Fertility" (Thesis submitted in B.H.U. for Ph.D. 1971).
3. W. P. Mauldin: "Fertility studies: Knowledge, Attitude and Practice in Family Planning" No. 7 June 1965.
4. M. Majumdar: Technical Report No. 19, National Sample Survey, 1968.
5. Ronald Freedman and John Y. Takeshita: 'Family Planning in Taiwan, An experiment in social change' (1963).
6. Thomas Poffenbevger: Urban Indian attitudinal response and behaviour related to Family Planning: Possible programme implications (New Delhi: Ford Foundation Mission to India Draft of 6 Feb. 1968).
7. S. Lahiri: 'Preference for sons and ideal family size: The Indian urban situation' (Mimeographed). International Institute for Population Studies, Bombay.
8. S. Kaur and J. Edlefsen: 'Some observations regarding KAP research in India' (New Delhi: USAID Mission to India, March 1968).
9. S. N. Agarawala: 'Attitude towards family planning in India', Asia Publishing house, Bombay (1962).

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

EDUCATIONAL & PSYCHOLOGICAL WORK IN INDIA

DR. PADMA AGRAWAL

Head, Department of Psychology, B. H. U.

The fundamental aim and objective of all educational and psychological work in India has been to bring an all round and tuned development of human personality in view of cognitive, conative and emotive aspect as such . Let the intellect be trained, emotions cannelised and the striving well pinned-up—what has been termed in the modern psychiatry as psycho-synthesis, the peak-tuned-state or what is called self-actualization (Rogers) or individuation (Jung) or the peak of emotional maturity. The person is the main figure of consideration—the person being taken as unified, dynamic and vibrating whole. Natural sciences emphasize on the wholeness of the organism ; a sociologist or anthropologist or a psychologist emphasizes on the original unitv of man, which is typical of a Person (Stren). The person is a living whole, always striving towards a goal, the end-result. He is capable of experiences. This may be the reason that traditional psychology shows more interest in the dynamics of experience than in any other thing (chitta vritti-nirodh). Man at no moment is merely an adaptive, self-presenting animal ; always there is in his behaviour a spark of self-development.

Hence in view of the marvelous possibilities embedded within oneself awaiting for unfoldment, all the planning of education, and the reorientation of the educational set-up has been planned which may mean healthy physical and psychic life—a 'tuned self'. The psychological researches are meant for exploring personality area and laying threadbare the possibilities of social learning through clinical and experimental techniques. All personality change is being attempted through adequate scientific education either in the state of normalcy

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

or suggestion for the use of various techniques of psychotherapy when one is deviated. There is good change in the philosophy of education. The requirement for 'personality change' of those who are under normal condition or are under 'emotional stress' or 'anxiety' does aim at synthesis—(1) synthesis in human relationship, (2) synthesis in the 'surface' (conscious) and the 'deep' (unconscious), and (3) synthesis within (reference to the internal organization). We talk of synthesis (*a*) synthesis as the original nature—the component of man (*b*) synthesis to be achieved when there is hotch potch and compartmentalization. In India the concept of synthesis is within religio-philosophical orbit. The analysis of the philosophy of education and the psychological findings are in congruence with each other and have simply to do with the basic components of human personality, termed as needs or demands, abilities, aptitude and interest present in potential or implicit form in an individual in the embryonic stage. In the curriculum of secondary schools, practical and vocational courses run along with the traditional and academic. The new curriculum is to meet the varying needs of different pupils with different abilities, aptitude and interests. Educationists take advice of the psychologist and make use of psychological tests in abundance. School population is mostly available to the psychological testing enthusiasts. To mention few : there are institutions like Bureau of Psychology, U.P., National Institutes of Education under NCERT and various vocational and educational guidance bureaus doing both educational and psychological services. Psychological research centres are opened in view of the promotion of educational efficiency. The trend of psychology in India does give insight in the trend of education in India. The educational planning is based on psychological implications. This is conspicuous from Indian point of view and in traditional Indian psychology.

Prescientific and traditional psychology in India :

It may be said that psychology in India has been very erratic and has sporadic beginning in view of the demands of

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

scientific psychology. The early psychological themes about mind and body and its ramifications must be objectively oriented, hypothesized and statistically verified. Though methods do matter, we cannot make fetish of methodology. Vedas, the most ancient scripture of India are full of psychological reflections and implications. We could get abundance of information about human mind and its functionings. The problems of mind, body, will, attention, intellect, emotions, dream and sleep are magnified in upnishads. Psychology is as old as humanity itself and vedas and upnishads are taken as the earliest record. What has been told in vedas and upnishads has been retold in the modern scientific psychology in the garb of scientific constructs and concepts formulated with the help of objective methodology and subjected to statistical verifications.

So also the six Indian philosophical systems are replete with material or theories regarding psychophysical problems of mind and body, theory of knowledge, i.e. about perception or illusion, concept of monistic self in its supreme state of experience 'sat chit anand' and other related problems. In Samkhya and Yoga, rich psychological implications behind the metaphysical speculative philosophical doctrines, are manifested. The Samkhya concept of purusa and prakriti refer to the co-existence of feminine (anima) and masculine (animus) principle operating and controlling the entire set-up as an individual in the psychological sense or that the key of creation of the cosmos. The enumeration of elements mana, functionings of the indriyas etcs. indicate that the system is scientific, not theological although the system is theistic. Yoga system is a science, a discipline which expounds the harmony of mind and body—a kind of psychotherapy meant for psychophysical education. Yoga system is expounded on sound philosophy of life and subtle understanding of human nature. The yoga system in Indian thought is an evidence of the fact that personality is a psychophysical system—the operation of both body and mind. Yoga is the system of synthesis, a sort of integra-

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

tional approach—a unity, meaningful in itself. Wholeness does not exclude internal multiplicity of constituent parts, these simply lead the character of independent elements capable of existing by themselves. They become subordinate aspects of the whole and may be understood only in the relation to the totality. Yoga expounds spiritual psychosynthesis—a sort of inner control and conquest that brings a strange influence on both the mind and body and the development of composed state of mind. Corresponding to this is the 'santa rasa' of Yoga system; there is in Gita the concept of 'sthitpragya' where one lives like the lotus in water.

Theoretically we may distinguish three main psychological schools viz., the Vedanta, the Nayayika, and the Buddhist. Of these the last is most empiricistic and is likely to appeal to the modern mind. The first group namely the Vedantic believe in the existence of soul which is of the nature of pure consciousness and explains all psychic life in terms of vrittis or modification of the buddhi which though essentially material in nature is practically conscious as it is in close contact with the self which is pure consciousness. The buddhi is at once an organ as well as store house. It is an organ in the sense that it is through this that we know the objective world and establish our practical contact with the world. It is a store-house in the sense that it contains the 'sanskaras' of our past life. The secret of successful education lies in recognising the type of buddhi an individual has and to provide that proper training suited to that type. So psychology is concerned only with this material organ called buddhi and not with soul directly. This is common to Vedanta, Samkhya and Yoga.

There is a different scheme found in the realist system such as the Vaisiska; here the soul is not of the nature of pure consciousness. It is just a substance having all psychic experiences as its quality. These experiences do not essentially belong to the soul; they are produced when there is the conjunction of the mind or mana with the soul inside and the indriyayas

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

(sense organs) outside and it is through indriyas that our contact with the external world is established. The peculiarity of this approach is that psychic life is not the modification of any thing like buddhi, but a mechanical product of soul, mind and indriyas none of which is essentially conscious. Modern scientists may relish the idea that mental phenomena are all mechanically produced by the consumption of certain factors. Inspite of difference in approach the goal of life and education as well as the method remain the same.

It is in the Buddhism that the metaphysical entity called soul is absolutely not recognised. Man is just a bundle of ideas that are all the time in flux. But though the idea of self or permanent substratum is left behind, the doctrine of sanskar got to be admitted that moves the whole psychic life from moment to moment. This is remarkably close to the concept of unconscious.

This shows that the psychological quest of early period in India was along with the philosophical sophistication and in the early period psychology was the handmaid of philosophy. It is somewhat essential to understand the psychological outlook embodied in the philosophical systems of India. The philosophical systems as a matter of fact are based on the subtle analysis of mind, its experiences and functionings. What we need today is the equipment of physics and electrionics, of chemistry and physiology, and the facilities for zoology, children's nursury and medical clinics.

We may sum up the general characteristics of traditional psychology :

(*a*) Interest in the dynamics of experience and hence mental dynamics being elaborated.

(*b*) Mind and body are one as both are jada' or non-conscious and hence no mind-body problem.

(*c*) Stress on the modes of cognition, conation and affection.

(*d*) Interest in the after-effects (sanskar) of experiences.

(*e*) Interest in the layers of the psyche.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

(*f*) Interest in the integration of personality.
(*g*) Influence of theology.

Development of Scientific trend in Psychology :

Psychology in India has never been scientific in the modern sense; man has never been studied as a mere animal. But though not scientific in the modern sense, it has all the same been scientific in the sense that it has always been practical and close to our life and conduct. The practical aspect of psychology in India was based on the doctrine of sanskars which every system accepted whatsovever other differences adopted. The goal of life is taken to be spiritual sadhana, the establishment of good sanskars and the climination of bad ones. The practical goal behind it is theoretical or philosophical scaffolding.

Evaluatively India is not yet very advanced from the point of view of what we call scientific psychology, although experiemental psychology has been the most popular field in all the universities and approximately one fourth of the total contribution of pamphlets or research papers has been on experimental psychology. Scientific implies systematized body of facts or systematic enquiry into a particular phenomena and the use of a definite technique i.e. experimental technique. The field of scientific psychology is indeed very vast and therefore there is the need of appartuses so far as different areas of personality, learning, motivation etc. are concerned. Early trend means cramming of psychological theories; the research today are of practical orientation. Universities in India have contributed maximum. This has been presented in the Indian Science Congress, Educational and Psychological Section as such. However the development of psychology in India as science as well as profession and technology has been rather meagre. The progress has been very slow. The important areas touched are: social psychology, personality, aesthetics, psychology and religion and criminal psychology. Physiological psychology has had a restricted interest, Child

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

psychology is more of an anecdotal character. Animal psychology is advanced in some universities like Mysore (ants and rats), and Calcutta (fishes). Apart from laboratory there has been situation that made towards extra-laboratory fields for exploration and research. Individual differences in the fields of clinical and educational psychology have attracted most attention. Educationists did much in the field of individual testing.

It is essential to report about the contribution of National Council of Educational Research and Training, the professional area of the Union Ministry of Education to show the educational and psychological work in India. The role of NCERT is to advice the centre and the state government as how to achieve large scale development in educational practice. It has engaged in developmental programmes of research, training and extension in education and has undertaken over fifty major projects in fundamental and applied areas of educational research. The objectives are sevenfold :—

(i) To investigate the fundamental process of learning and thinking which include the motive for achievement. The basis of learning are being scientifically established and not merely conjectured,

(ii) To investigate techniques and methods of curriculem development,

(iii) To examine text books,

(iv) To develop extention services,

(v) To work on examination reform,

(vi) Training of teachers and research workers,

(vii) Intensive programme of science and mathematics.

The important research projects undertaken in education are : (i) studies of academically gifted boys, (ii) stabilisation of abilities and interests in Indian children, (iii) development of selection tests, (iv) factors affecting career choices of adolescents, (v) self-concept of high and under achievers, (vi) a survey of training facilities for guidance personnel in India (vii) socio-metric studies, (viii) developmental norms, project programme instruction, (ix) mathematics achievements

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

survey, (x) scholestic aptitude tests, (xi) identification of tallent in elementary and secondary schools, (xii) achievement motivation, and survey of pre-primary teacher training institutions. To prepare curriculum suitable for various age-groups it is essential to evolve norms of progress in Indian children.

The activities of the Bureau of vocational and educational guidance is to plan and conduct guidance activities at every stage. The purpose was to create guidance consciousness, to provide consultant services, to set up occupational information, to construct and standardise psychological tests, to prepare necessary guidance services and to conduct research and bring-out improved techniques for the evaluation. Bureau of psychology is noted for its psychological services in the field of education. Its chief function is research, guidance, planning and training, constructing psychological tests for personality, for the measurement of intelligence, and attainment. There is provision for individual guidance, case work and training course for the diploma of guidance psychologists. During the second great war (1939) there was great deal of encouragment and special emphasis was laid on psychological testing by the Directorate of personnel recruitment of the army, employment selection bureau of the Home Department and the Bureau of psychology in Allahabad, U.P. The psychological tests are being standaridised in view of Indian situations although we yet find the validation to be inadequate, However, there has been multi-faced advance of psychology in India.

However the psychological work in India does need co-ordinating agencies to bring together the researches being carried in universities, Ministry of Education, Health ministry or Social welfare ministry. There is lot of duplication work. Some planning in psychological researches carried by different agencies is needed. However this multi-faceted advance of psychology in India is commendable.

SRI JAGADGURU VISHWARADHYA
JNANA
LIBRARY
ACC No. 8399

* Lecture delivered at Amesterdom University, Department of Psychology, Holland Oct 1967

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

मुद्रक—रवीन्द्र कुमार बेरी
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय प्रेस, वाराणसी–५

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

विश्वविद्यालय के उद्देश्य

१. अखिल जगत् की सर्वसाधारण जनता के एवं मुख्यतः हिन्दुओं के लाभार्थ हिन्दू शास्त्र तथा संस्कृत साहित्य की शिक्षा का प्रसार करना, जिससे प्राचीन भारत की संस्कृति और उसके विचार-रत्नों की रक्षा हो सके, तथा प्राचीन भारत की सभ्यता में जो कुछ महान् तथा गौरवपूर्ण था, उसका निदर्शन हो।

२. साधारणतः कला तथा विज्ञान की समस्त शाखाओं में शिक्षा तथा अन्वेषण के कार्य की सर्वतोमुखी उन्नति करना।

३. भारतीय घरेलू धन्धों की उन्नति और भारत की द्रव्य-संपदा के विकास में सहायक आवश्यक व्यावहारिक ज्ञान से युक्त वैज्ञानिक, तकनीकी तथा व्यावसायिक शिल्प कलादि संबंधी ज्ञान का प्रचार और प्रसार करना।

४. धर्म तथा नीति को शिक्षा का आवश्यक अंग मानकर नवयुवकों में सुन्दर चरित्र का गठन करना।

OBJECTS OF THE UNIVERSITY

1. To promote the study of the Hindu Shastras and of Sanskrit Literature generally as a means of preserving and popularizing for the benefit of the Hindus in particular and of the world at large in general, the best thought and culture of the Hindus, and all that was good and great in the ancient civilization of India,

2. To promote learning and research generally in Arts and Sciences in all branches,

3. To advance and diffuse such scientific, technical and professional knowledge combined with the necessary practical training as is best calculated to help in promoting indigenous industries and in developing the material resources of the country : and

4. To promote the building up of character in youth by religion and ethics as an integral part of education.

CC0. In Public Domain. Jangamwadi Math Collection, Varanasi